शिक्षा-मनोविज्ञान

की

रूपरेखा

लेखक

विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, एम० ए०, एम० एड०

कान्यकुब्ज ट्रेनिङ्ग कालेज

लखनऊ

बाल-साहित्य-मन्दिर,

लखनऊ

चतुर्थ संस्करण

मूल्य ५॥)

प्रकशक
बाल-साहित्य मन्दिर,
लखनऊ

मुद्रक
श्री राम चरन लाल श्रीवास्तवा
पवन प्रिंटिंग प्रेस, नजीराबाद,
लखनऊ

विषय-सूची

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक शिक्षा-मनोविज्ञान के विद्यार्थियों, विशेषत: ट्रेनिङ्ग कालेज के छात्रों, की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखी गई है। इसमें सम्पूर्ण विषय का विवेचन यथासम्भव सरल भाषा में ही किया गया है। दुर्बोधन विषय को बोधगम्य बनाने के लिए पद-पद पर उदाहरण दिये गये हैं। प्रत्येक पारिभाषिक शब्द के आगे, कम से कम उसके प्रथम प्रयोग के समय, अंगरेजी पर्याय भी दे दिया गया है एवं प्रत्येक अध्याय के अन्त में सारांश रूप से सम्पूर्ण विषय की पुनरावृत्ति नवा-भ्यासियों की सुविधा के लिये कर दी गई है। अन्त में वर्णानुक्रम से समस्त अंगरेजी पारिभाषिक शब्द हिन्दी पर्याय के साथ संकलित कर दिये गये हैं। परीक्षाओं में पूछे हुये एवं अन्य सम्भव प्रश्न भी दे देना उचित समझा गया। लेखक का विश्वास है कि इस प्रकार पुस्तक अवश्य ही विद्यार्थियों के लिये अधिक उपयोगी हो गई है।

पुस्तक का तृतीय संस्करण भी डेढ़ वर्ष के भीतर ही समाप्त हो गया जिससे मालूम पड़ता है कि लोगों ने उसे पसन्द किया है। इस चतुर्थ संस्करण में यथा सम्भव सभी छापे की भूलों को शुद्ध कर दिया गया है। यत्र तत्र कुछ संस्कार भी किया गया है। आशा है इस परिवर्तित रूप में यह पुस्तक शिक्षा-प्रेमियों की अधिक सेवा कर सकेगी।

लखनऊ

७ अगस्त १९५४

विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी

विषय-प्रवेश

शिक्षा—शिक्षा किसे कहते हैं यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसका उत्तर सीधा भी है और टेढ़ा भी। दैनिक व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग हम प्राय: करते हैं। अत: उसका कुछ न कुछ अर्थ हम अवश्य समझे रहते हैं, नहीं तो उसकी चर्चा इतने नि:संकोच भाव से कैसे करते। परन्तु जब हम शास्त्रीय दृष्टि से उसका विवेचन करने चलते हैं तो एक कठिनाई में पड़ जाते हैं। दूर से जो मसला बिलकुल सरल दिखाई देता था वह अब कुछ टेढ़ा मालूम पड़ने लगता है और सीधी-सुलझी बातें कुछ उलझी तथा जटिल प्रतीत होने लगती हैं। इस संकट में जब हम शिक्षा-शास्त्रियों की ओर सहायता की आशा से बढ़ते हैं तो घबराहट घटने के बजाय बढ़ जाती है। वहाँ तो ठीक 'अपनी ढफली अपना राग' वाली दशा है। मालूम पड़ता है जैसे कोई भी दो आचार्य शिक्षा के अर्थ पर, उसके उद्देश्य एवं लक्ष्य पर, एकमत नहीं हैं। एक कहता है कि शिक्षा जीविकोपार्जन का साधन है। अत: जो शिक्षा विद्यार्थी को जीवन-समर (life-struggle) के लिये तैयार नहीं करती वह धन, समय एवं शक्ति का दुरुपयोग है, बौद्धिक विलास है। ऐसी ही शिक्षा ने, इस मत से, शिक्षितों को पंगु बना दिया है। दूसरा समझता है कि इस गहन तथा महान् विषय पर सोचते समय पेट का ज़िक्र करना, आर्थिक दृष्टि-कोण की चर्चा चलाना, शिक्षा के महान् उद्देश्य को कलंकित करना है। शिक्षा बौद्धिक विकास (intellectual development) का नाम है, ज्ञान-वर्द्धन का नाम है; आर्थिक समस्याओं जैसी निम्नस्तर की बातों में पड़ कर उसका अपमान नहीं करना चाहिये। एक स्वस्थ शरीर (physi-

cal development) के निर्माण को शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानता है तो दूसरा चारित्रिक विकास (moral culture) पर बल देता है। एक पक्ष का कहना है कि व्यक्तित्व-विकास (development of individuality) ही शिक्षा का लक्ष्य है। दूसरा पक्ष व्यक्ति को समाज की तुलना में नाचीज समझ कर, इस प्रकार का ज्ञान तथा अभ्यास (training) देना चाहता है जिससे व्यक्ति समाज का उपयोगी सदस्य बन सके। समाज का हित जिसमें हो, जिस प्रकार वह समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सके, उसे वैसा ही बनाना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये। एक पक्ष और है जो इन दोनों पक्षों का समन्वय करता है। वह कहता है कि शिक्षा व्यक्तित्व के ही विकास का नाम जरूर है पर हमें यह न भूल जाना चाहिये कि व्यक्ति समाज से बाहर कुछ भी नहीं है। अतः सामाजिक माध्यम (social medium) में व्यक्तित्व का विकास करना ही शिक्षा का आदर्श होना चाहिये।

हमने देखा कि मनुष्य जीवन के जितने पहलू हैं प्रायः सभी पर अलग-अलग महत्व मढ़ने की कोशिश की गई है। इस समय हमें शिक्षा के श्रेष्ठतम स्वरूप का, उसकी निर्भ्रान्त परिभाषा का, निर्णय नहीं करना है। अभी तो हमें केवल यही देखना है कि इन सभी दृष्टियों के मूल में वह कौन सा सिद्धान्त है जिस पर सभी आचार्यों की राय एक है। मोटे तौर से हम यह कह सकते हैं कि विद्यार्थियों में कुछ वांछनीय मानसिक परिवर्तन (desirable mental changes) उत्पन्न करना ही इन सब दृष्टियों को इष्ट है। चरम लक्ष्य चाहे जो हो, यह सभी चाहते हैं कि शिक्षार्थी का मन अथवा बुद्धि इस प्रकार परिवर्तित हो जाय जिससे एक विशेष उद्देश्य की प्राप्ति वह अधिक सफलतापूर्वक कर सके।

मनो-विज्ञान—मनुष्य के मन का वैज्ञानिक अध्ययन मनो-विज्ञान

कहलाता है। यह परिभाषा काम चलाऊ तो है क्योंकि इसके द्वारा मनो-विज्ञान के सम्बन्ध में उसकी रूपरेखा के विषय में, थोड़ा बहुत परिचय हमें अवश्य मिल जाता है। पर वह परिचय बहुत अस्पष्ट है और 'विज्ञान' का 'अस्पष्ट ज्ञान' एक खटकने वाली चीज़ है। अतः मनो-विज्ञान का अर्थ उचित रूप से समझने के लिये हमें उसके इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

प्राचीन काल में मनो-विज्ञान अध्यात्म-शास्त्र का ही भाग समझा जाता था। आत्मा (soul) का विवेचन ही इस शास्त्र का क्षेत्र था। पर जैसे जैसे समय बीतता गया लोगों को आत्मा के अस्तित्व पर ही सन्देह होने लगा। उन्होंने सोचा कि जिस वस्तु का अस्तित्व ही विवाद-ग्रस्त है उसको किसी शास्त्र का आधार बनाना बुद्धिमानी का काम नहीं है अतएव संदिग्ध आत्मा के बन्धन को काटकर उन्होंने मन (mind) को ही अपने अध्ययन का लक्ष्य बनाया। मन शब्द साधारण बोल चाल में अधिक प्रयुक्त होता था। अनेक लोग जो आत्मा जैसे दार्शनिक तत्व से चौंकते थे मन को पाकर सन्तुष्ट हो गये। सोचा अब ठीक होगा; शास्त्र-चर्चा काल्पनिक उड़ान न रह कर यथार्थ बनेगी। पर यह सन्तोष भी टिक न सका। मन शब्द सरल तो अवश्य प्रतीत होता है पर विज्ञान के लिये आत्मा से कम अड़चने डालने वाला वह भी किसी प्रकार नहीं है। आखिर मन कोई भौतिक, साकार, पदार्थ तो नहीं है जिसे देखा जा सके, स्पर्श किया जा सके अथवा किसी अन्य प्रकार से इन्द्रियों का विषय बनाया जा सके। इस दृष्टि से वह ठीक आत्मा जैसा ही है। अत: उसे भी छोड़कर पण्डितों ने 'चेतना' (consciousness) को अपनाया। अब कहा जाने लगा कि मनो-विज्ञान चेतना का अध्ययन करता है। प्रत्येक मनुष्य को चेतना का अनुभव रहता ही है। चेतना को आत्मा तथा मन की तरह काल्पनिक कह कर उड़ाया नहीं जा सकता। जो भी चाहे, जब चाहे, उसका प्रत्यक्ष कर

सकता है। कुछ दिनों इस चेतनावाद (consciousness psychology) का प्राबल्य रहा। पर भौतिक विज्ञान (physical science) बढ़ रहा था। निरीक्षण (observation) तथा परीक्षण (experiment) का बोलबाला था। किसी भी शास्त्र को गौरव तथा सम्मान तभी प्राप्त हो सकता था जब वह विज्ञान की इस कसौटी पर खरा उतरे। तभी उसे यथार्थ, सत्य, समझा जा सकता था। और चेतना ठहरी निराकार, अमूर्त। उसे भी शास्त्र के बन्धन में न डाला जा सका। अपनी खोज से एक आधिभौतिक वैज्ञानिक जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है अन्य लोग भी उस पर प्रयोग कर सकते हैं। निष्कर्ष यदि सही है तो अन्य लोग भी उसी परिणाम पर पहुँचेंगे अन्यथा वह सिद्धान्त अप्रामाणिक समझा जाता है—लोग उसे गलत मानते हैं। ऐसा परीक्षण भी चेतना में सम्भव न हो सका। स्वर्ण का आपेक्षिक घनत्व (relative density) सब के लिये एक होता है। ३२° तापमान (temperature) पर जल, प्रत्येक दशा में जम जाता है। किन्तु चेतना तो एक व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित होती है। एक व्यक्ति को चेतना जो अनुभव करती है वह दूसरे की भी, उसी परिस्थिति में, करे ऐसा कोई नियम नहीं है। अस्तोन्मुख सूर्य्य को देख कर कोई प्रसन्न होता है तो कोई दुखी। शरीफ़ा किसी को बेहद स्वादिष्ट लगता है तो किसी को उसे देख कर मतली आने लगती है। अतएव लोगों ने निश्चय किया कि चेतना भी वैज्ञानिक अध्ययन का विषय नहीं बन सकती। तो फिर मनो-विज्ञान का विषय क्या हो? इस जड़वादी विज्ञान के युग में चेतना अथवा उसके आधारभूत मन तथा आत्मा को बेकार समझकर दूर हटा दिया गया तथा मनोविज्ञान को व्यवहार-शास्त्र बना दिया गया। कहा गया कि हमें न तो लोगों के मन का पता है, न आत्मा जैसी चीज़ की सत्ता में विश्वास। चेतना का अनुभव हम जरूर करते हैं पर वह बिलकुल

वैयक्तिक है। चेतना को लेकर कोई परीक्षण नहीं किया जा सकता; एक व्यक्ति की पहुँच दूसरे व्यक्ति की चेतना तक नहीं हो सकती। अपनी चेतना के बारे में जो कोई जो कुछ कहे उसे चुपचाप मान लेने के अलावा और कोई गति नहीं। विज्ञान ठहरा परीक्षण तथा प्रयोग का समर्थक। वह अन्ध-विश्वास को प्रश्रय नहीं दे सकता। अतएव मनोविज्ञान अब मनुष्यों के व्यवहार का, उनके आचरण (behaviour) का, अध्यन करने लगा। आचरण का निरीक्षण (observation) किया जा सकता है, उस पर प्रयोग (experiment) भी हो सकते हैं तथा एक ही विषय पर अनेक उदाहरणों का संग्रह करके किसी वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। उग्र आचरणवादी इतना अधिक चेतना-विरोधी होता है कि मानसिक क्रियाओं की व्याख्या करते समय वह किसी ऐसे शब्द का प्रयोग तक नहीं करता जिससे लोगों को मन अथवा चेतना के अस्तित्व का भ्रम भी हो। घोर आचरणवादी वाट्सन् ने केवल चेतना की ही सत्ता से इनकार नहीं किया वरन् उसने तो प्रत्यक्षीकरण (perception),) राग (feeling) तथा प्रतिमा (image) को भी मनोविज्ञान के बाहर निकाल दिया। इन्द्रियों (senses) का वर्णन करते समय वह प्रत्यक्षीकरण (perception) शब्द का प्रयोग तक नहीं करता। आवश्यकता पड़ने पर वह अपने विचारों को 'प्रकाश के प्रति प्रतिक्रिया' (response to light), 'शब्द के प्रति प्रतिक्रिया' (response to sound), 'गन्ध के प्रति प्रतिक्रिया' (olfactory response) आदि कहकर प्रकट करता है। आचरणवादियों के हाथ में पड़कर मनःशास्त्र (psychology) शरीर-विज्ञान (physiology) बन गया, नाड़ी-मण्डल (nervous system) का अध्ययन मनोव्यापार के अध्ययन से अधिक महत्व का समझा जाने लगा। एक और सम्प्रदाय कुछ दिनों से चल पड़ा है वह चेतन मन (conscious mind) से भी अधिक महत्व

अचेतन मन (unconscious mind) को देता है। उसका कहना है कि हम जो कुछ भी करते, कहते तथा सोचते हैं उसका प्रेरक अधिकतर हमारा अचेतन मन ही होता है। यदि पढ़ लिखकर, आधुनिक विचारों से प्रभावित होकर, हम बहुत उदार हो गये हैं, मांस-भक्षण को निर्दोष ही नहीं किन्तु स्वास्थ्य-वर्द्धन के लिए नितान्त उपयोगी समझने लग गये हैं किन्तु फिर भी उसको खाते समय हमारा जी मालिश करने लगता है तो समझना चाहिये कि हमारी विद्या ने अभी तक हमारे अचेतन मन पर अधिकार नहीं कर पाया है। वैष्णव परिवार में पलने तथा बढने के कारण जो संस्कार हमारे अचेतन मन में घर कर चुके हैं वे छिपे-छिपे हमारी अर्जित संस्कृति को बेकार सिद्ध कर रहे हैं। यही मनोविश्लेषणवाद (psycho analytic psychology) नवीन मनोविज्ञान (new psychology) भी कहलाता है। इनके अतिरिक्त मनोविज्ञान के अन्य अनेक सम्प्रदाय हैं। पर स्थूल रूप में यही उसके विकास की संक्षिप्त कथा है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें पता चलता है कि मन अथवा उससे मिलते जुलते किसी दूसरे तत्व की कल्पना इस शास्त्र के सम्बन्ध में सदा ही रही है। केवल कुछ उग्र आचरणवादी (behaviourists) ही उसका सर्वथा निषेध करते हैं। उनका भी विरोध कुछ इसलिये है कि वे मनोविज्ञान में अनियंत्रित अन्तर्दर्शन (uncontrolled introspection) से ऊब गये थे। जिसके जो जी में आता था कहने लगता था और प्रमाण, उसकी सत्यता का सबूत, उसका अपना अन्तर्दर्शन होता था। विचारों में एक प्रकार की अराजकता थी। उस समय आचरण पर जोर देना, जिसमें विज्ञान की निरीक्षण-परीक्षण-पद्धति के लिये काफी अवकाश था, शास्त्र को व्यवस्थित करना था।

अतः इतना तो प्रायः सर्व-सम्मत ही है कि मनोविज्ञान मानसिक व्यापार का अध्ययन करता है। किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान पशुओं

का भी अध्ययन करता है और इसलिए उसे केवल मनुष्य के मन का अध्ययन बताने से परिभाषा में अव्याप्तिदोष आ जायगा। लेकिन पशु-मनोविज्ञान (animal psychology) का अध्ययन भी इसी उद्देश्य से किया जाता है कि उसके द्वारा मनुष्य के मन का ज्ञान हमें भली भाँति हो जाय। अतः पशु-मनोविज्ञान के आविर्भाव से हमारी प्रस्तावित परिभाषा पर कोई महत्वपूर्ण आपत्ति नहीं की जा सकती। आचरण वादियों की ओर से परिभाषा में आये हुए मन शब्द पर आपत्ति की जायेगी। हम देख ही चुके हैं कि वे आचरण ही को सब कुछ मानते हैं। मन की चर्चा भी चलाना, उनकी दृष्टि में, अक्षम्य अपराध है। आचरण पर जोर देना बिलकुल व्यर्थ भी नहीं है। आचरण मनुष्य के मन की कुंजी है। आचरणवादियों की गलती इतनी ही है कि उन्होंने आचरण को ही सब कुछ मान लिया, साधन को ही साध्य बना दिया। आचरण का अध्ययन मनोवैज्ञानिक अवश्य करेगा परन्तु वह आचरण के मानसिक पक्ष पर ही नजर रक्खेगा, समस्त आचरण पर नहीं। एक व्यक्ति साइकिल चलाना सीखता है। वह क्रियायें करता है पैडिल से चढ़ता है, बैलेन्स संभालता है, चढ़ने के लिये थोड़ी दूर तक साइकिल को लेकर भागता है इत्यादि। यह सब उसका आचरण ही तो है। परन्तु इस समस्त आचरण का अध्ययन मनोविज्ञान नहीं करता। वह केवल मनःप्रेरित आचरण पर ही ध्यान देता है। व्यक्ति की रुचि, अवधान, संस्कार-संचय-शक्ति आदि का उसके सीखने पर क्या प्रभाव पड़ता है मनोविज्ञान केवल उसी का अध्ययन करेगा। मनोविश्लेषण-वादियों ने अचेतन मन की ओर ध्यान आकर्षित करके मनोविज्ञान का परम उपकार किया है। उनके अचेतन को भी हमें मन में ही सम्मिलत कर लेना होगा। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि **मनोविज्ञान मनुष्य के चेतन अथवा अचेतन मन से प्रेरित आचरण का अध्ययन करता है।**

शिक्षा-मनोविज्ञान तथा उसके अध्ययन की आवश्यकता— शिक्षा, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मनुष्य के मन को, एक विशिष्ट उद्देश्य से परिवर्तित करने को कहते हैं तथा मनोविज्ञान मनुष्य के मन की क्रिया का अध्ययन है। शिक्षा-मनोविज्ञान मनुष्य की उन मानसिक क्रियाओं का अध्ययन है जो सीखने-सिखाने में होती अथवा की जाती हैं। जब हमारा उद्देश्य मानसिक परिवर्तन करना है तो मन का अध्ययन उन परिवर्तनों को सुगमता तथा शीघ्रता पूर्वक सम्पादित करने में निश्चय ही बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। बिना भली भाँति यह जाने कि मन क्या है, उसकी कौन कौन सी शक्तियाँ हैं, उनका क्या क्या उपयोग किया जा सकता है, शिक्षक बन जाना कुछ वैसी ही बात होगी जैसे बिना मानव-शरीर का उचित ज्ञान अर्जित किये कोई डाक्टर बन-कर चीर फाड़ करने लग जाय। हो सकता है, घटनावशात् अथवा भाग्य के जोर, से कुछ रोगी चंगे हो जायें पर अधिकांश तो अवश्य ही उसके अज्ञान के शिकार होकर जान गवायेंगे। ऐसे ही अनाड़ी बौद्धिक डाक्टरों के द्वारा निरीह, निस्सहाय, कोमल बुद्धि तथा सुकुमार शरीर बालकों की मानसिक हत्या होते देखकर करुणा-विह्वल रूसो ने नाराज होकर कहा था—"अभी तक अध्यापक जो कुछ करते आये हैं उसके ठीक विपरीत चलना ही सच्चा शिक्षण-मार्ग है।"

शिक्षा-मनोविज्ञान हमें बालकों की स्वाभाविक रुचि, उनके मन की शक्तियाँ एवं प्रवृत्तियों का ज्ञान देता है। उनकी ये प्रवृत्तियाँ महती शक्ति का केन्द्र हैं; इनकी तुष्टि के लिये बालक सब कुछ कर सकता है, उसमें आने वाली बाधा को वह किसी प्रकार सहन नहीं करता है। शिक्षक का काम है कि इन प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करके ऐसी व्यवस्था करे कि जो कुछ बच्चों को सीखना है वह इन्हीं प्रवृत्तियों की पूर्ति का अंग बन जाय। और तब हम देखेंगे कि जो काम मार खाकर, शिक्षक के बहुत प्रयास करने पर भी बालक

नहीं करते थे अब उसी को अपनी सम्पूर्ण शक्ति से पूरा कर लेने में लगे हैं। इतिहास की पाठ्य-पुस्तक में से किसी बच्चे को प्राचीन समय के लोगों की वेश-भूषा याद करने को देने से वह जी लगा कर उसे कभी न याद करेगा। उसे किसी प्रकार याद कर भी लेता है तो 'सबेरे सफ़ा' हो जाने पर उसकी 'बेवफाई' की शिकायत करता फिरता है। पर उसी बात को एक नाटक के द्वारा सिखलाइये। 'चन्द्रगुप्त' नाटक का अभिनय लड़कों को करने दीजिये। फिर देखिये कितनी तल्लीनता से एक एक चीज़ का पता वे स्वयं लगाते हैं। पुस्तकों में ढूढेंगे, लोगों से पूछेंगे, और बड़े आनन्द के साथ यही नीरस विषय सरस समझ कर सदा के लिये हृदयांकित कर लेंगे। पहला ढँग अमनोवैज्ञानिक था, दूसरा मनोवैज्ञानिक। एक में बालक की रुचि का ध्यान नहीं रक्खा गया था, दूसरे में उसका पूरा ख़याल किया गया है। मनोविज्ञान बालक की मूल-प्रवृत्तियों, रुचियों इत्यादि का ज्ञान देकर शिक्षक को इस योग्य बनाता है कि वह अपने कार्य को सुचारु रूप से कर सके।

मनोविज्ञान ने बुद्धिमाप (mental measurement) को प्रामाणिक बनाकर एक बहुत बड़ा काम किया है। प्रत्येक बालक की बुद्धि नापी जा सकती है और उसके द्वारा यह पता लग सकता है कि किसी बालक की ग्रहणशक्ति कितनी है। उत्कृष्टबुद्धि बालकों को एक वर्ष तक एक ही श्रेणी में डाले रखकर व्यक्ति तथा राष्ट्र की हानि करना है। मन्दबुद्धि बालकों को उन विषयों की शिक्षा देने से क्या लाभ जिन्हें सम्भवत: वे कभी न समझेंगे और समझ कर भी कभी उपयोग में न ला सकेंगे ? मनोविज्ञान में दक्ष अध्यापक बुद्धि के स्तर के ही अनुसार छात्रों का श्रेणी विभाग करके विद्यार्थियों को व्यर्थ श्रम, अभिभावकों को अर्थहानि तथा नैराश्य एवं राष्ट्र को धन, श्रम एवं समय के अपव्यय से बचाता है। स्मृति (memory) तथा अवधान (attention) आदि मानसिक क्रियायें किस प्रकार होती है इसका

अध्ययन मनोविज्ञान में किया गया है। अनेक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि यदि कविता बहुत लम्बी नहीं है तो उसके टुकड़े टुकड़े करके याद करने की अपेक्षा समग्र को ही याद करने में शीघ्रता होती है और अर्थ-सम्बन्ध के स्थापित हो जाने से भूलने की सम्भावना भी कम रहती है। अवधान (attention) के सम्बन्ध में बहुत प्रयोग हो चुके हैं और इसका पता लगाया जा चुका है कि यदि किसी विषय को छात्र के मन में बैठा देना हो तो उसकी रुचि को उस विषय की ओर लगाने के साथ ही अधिक से अधिक प्रकारों से उसी पर जमाये रखना चाहिये। कारण यह है कि मन का स्थिर होकर एक वस्तु का दीर्घ काल तक आकलन करना सम्भव नहीं। मन बड़ा ही चंचल होता है उसको स्थिर रखने के लिये अनेक प्रकार के बन्धनों का आयोजन करना होगा। अतः यदि अध्यापक बालकों को हिमालय की वनस्पति के सम्बन्ध में ज्ञान देना चाहता है तो वर्णन करके, मान-चित्र पर दिखा कर, श्यामपट पर लिखकर बालकों से उपयुक्त प्रश्नों के उत्तर में उसी की आवृत्ति करा कर, उसे दृढ़ कर देगा। क्षण-क्षण में एक वस्तु से भागने वाले अवधान को कई रूपों में, कई दृष्टियों से, एक ही विषय पर जमाये रक्खेगा। मनोविज्ञान से इस प्रकार का ज्ञान पाकर शिक्षक बड़ी सुविधा के साथ अपना काम कर सकता है।

सीखने के नियमों (laws of learning) का अत्यावश्यक ज्ञान मनोविज्ञान का प्रधान अंग है। बीच बीच में अर्जित ज्ञान को पचाने में व्यस्त हमारा मस्तिष्क आगे को बढ़ता नहीं मालूम पड़ता। मनोविज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति घबरा जायगा परन्तु मनोविज्ञान-विशारद अध्यापक समझता है कि काम ठीक ही चल रहा है, समय पर प्रभाव दिखाई देगा। उसने तो इसी सत्य को एक सुप्रसिद्ध विरोधाभास में गुम्फित कर रक्खा है—"हम जाड़े में तैरना तथा ग्रीष्म में बरफ़ पर

फिसलना सीखा करते हैं।" अत: इन नियमों को जानने वाला शिक्षक ज्ञान को पचने देने के लिये उपयुक्त समय देगा। यदि थकी हालत में तीन घंटे में बालक उतना ही काम कर सकता है जितना अश्रांत रहने पर डेढ़ घंटे में तो वह डेढ़ घंटे काम लेकर डेढ़ घंटे विश्राम अथवा मनोरञ्जन में लगावेगा। काम उतना ही कर लेगा, बालक प्रसन्न रहेगा, स्वास्थ्य बढ़ेगा। मनोविज्ञान का समुचित अध्ययन इस लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

अनेक अध्यापक नित्य इस बात का पता लगाने में निरत हैं कि किसी विषय को पढ़ाने की कौन सी पद्धति ऐसी है जिससे अल्प काल में, सरलता के साथ, उस विषय का ज्ञान दिया जा सकता है। गणित, इतिहास, विज्ञान, लिपि इत्यादि सिखाने की नित्य नई पद्धतियाँ निकल रही हैं। सब पर प्रयोग हो रहे हैं। उन सब को जान कर सर्व श्रेष्ठ पद्धति को वही व्यक्ति अपना सकता है जिसने स्कूली-विषयों के मनोविज्ञान का सम्यक् रूपेण अध्ययन किया है। अत: शिक्षकों के लिये मनोविज्ञान का अध्ययन इसलिये भी बहुत आवश्यक है।

हम देखते हैं कि अनेक बालक झगड़ालू, चोर, बदमाश, झूठे हो जाते हैं, कुछ शारीरिक स्वास्थ्य खो बैठते हैं, कुछ तो अनेक प्रकार के मानसिक रोगों के शिकार हो जाते हैं। साधारणत: शिक्षक इन बालकों को सदा के लिये उसी स्थिति में पड़ा रहने देते हैं। मनोविज्ञान का पंडित परीक्षा करके उस असाधारण स्थिति का कारण खोजकर उसे दूर करता है और मानसिक स्वास्थ्य के साथ ही प्राय: शारीरिक स्वास्थ्य को भी मानसिक चिकित्सा के ही द्वारा सुधार देता है। पश्चिमी देशों में शिशु-सुधार-चिकित्सालय (child guidance clinics) का शिक्षा में बड़ा ऊँचा स्थान है। अत: आज के अध्यापक के लिये मनोविज्ञान का अध्ययन नितान्त आवश्यक, अत्यन्त अपेक्षित, हो गया है।

शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन की विधियाँ—शिक्षा-मनोविज्ञान एक विज्ञान है अतएव दूसरे विज्ञानों की ही भाँति इसकी विधियाँ भी प्रधानतया निरीक्षण (observation) तथा परीक्षण (experiment) हैं। किन्तु अन्य विज्ञानों से मनोविज्ञान में एक विशेषता है। यह भाषाविद् चेतन मनुष्यों का अध्ययन करता है जिनमें अपने को, अपने आचारण को, जानने की एवं उसे दूसरों पर व्यक्त करने की शक्ति है इसलिये इस शास्त्र की विधियों में दो विशिष्ट विधियाँ और आगई हैं। अन्तर्दर्शन (introspection) मनोविज्ञान की मुख्य विधि है। दूसरे शास्त्रों में उसका उपयोग प्राय: नहीं होता। मनोविश्लेषण (psycho-analysis) विधि का भी, कुछ दिनों से, बहुत उपयोग किया जा रहा है। अतएव मनोविज्ञान के अध्ययन की चार मुख्य विधियाँ हुई—निरीक्षण, परीक्षण, अन्तर्दर्शन तथा मनोविश्लेषण।

(१) निरीक्षण (observation)—अन्य वैज्ञानिकों की ही तरह मनोवैज्ञानिक भी अपने विषय से सम्बन्धित बातों का निरीक्षण करता है। वह देखता है कि कुछ लोग एक बात को जल्दी सीख लेते हैं, दूसरे उसे कठिनता से बहुत देर में सीख पाते हैं। इस अन्तर को वह प्राय: सब देशों में, सब समयों में, सब अवस्थाओं के लोगों में, पाता है। लिंग-भेद के कारण भी भाँति भाँति के भेद देखने में आते हैं। यह देख कर वह निश्चय करता है कि लोगों की बुद्धि में भेद होता है। इसी प्रकार वह लोगों में कुछ सामान्य प्रबल प्रवृत्तियों को देखता है—प्रयेत्क व्यक्ति भोजन चाहता है, प्रत्येक व्यक्ति में रचना वृत्ति होती है, इत्यादि। इनके आधार पर वह मूलप्रवृत्तियों (instincts) की एक तालिका तैयार करता है। सीखने में कैसा व्यवहार किया जाता है, प्रयत्न तथा भूल का, सफलता तथा असफलता का, किसी व्यक्ति के भावी व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है, आदि बातों का निरीक्षण करके वह सीखने के सामान्य नियमों को खोज

निकालता है। इसी प्रकार दैनिक जीवन की सामान्य तथा विशेष परिस्थितियों में लोगों के आचरण का निरीक्षण करके, उस पर विचार विमर्श करके, वह अपने शास्त्र की सामग्री का संग्रह करता है। यही विधि निरीक्षण विधि कहलाती है।

(२) **परीक्षण** (experiment)—उपर्युक्त निरीक्षण की विधि कुछ अनिश्चित सी है। घटनावशात् हो सकता है हमें वांछित मनोदशा के निरीक्षण करने का अवसर शीघ्र ही मिल जाय और यह भी हो सकता है कि वर्षों प्रतीक्षा करने पर भी न मिले। अत: मनोवैज्ञानिक, अन्य वैज्ञानिकों की ही तरह, कृत्रिम वातावरण की सृष्टि करके, उन दशाओं को वहाँ पर उत्पन्न करता है, उनका स्वयं नियंत्रण करता है तथा अपनी मरजी के मुताबिक़ वांछित मनोदशा का अध्ययन कर लेता है। जड़ प्रकृति का अध्ययन करने में इस विधि से बड़ी सफलता मिलती है। परीक्षण एक प्रश्न है। जड़ प्रकृति उसका उत्तर देने को बाध्य है। दो अणु हाइड्रोजन तथा एक अणु आक्सिजन का मिलकर जल होगा ही। कोई, कभी, किसी स्थान में, परीक्षण कर देखे प्रकृति को अपना वास्तविक भेद खोलना ही होगा। किन्तु मनुष्य एक अनोखा पदार्थ है। वह अपने मन का स्वामी है। उसको इस अधिकार से वंचित करने में समर्थ किसी साधन का आविष्कार अभी तक नहीं हो सका है, आशा है कभी नहीं हो सकेगा। अतएव मनोवैज्ञानिक किसी भी व्यक्ति को अपने मन का रहस्य खोलने को विवश नहीं कर सकता। फिर भी लोगों के सहयोग, धैर्य तथा सजगता से काम लेकर बहुत कुछ सफलता प्राप्त की जा सकती है।

अवधान के सम्बन्ध में अनेक परीक्षण हुये। उनके फलस्वरूप हमें अवधान के स्वरूप का काफी ज्ञान हो गया है। वास्तव में अवधान निरन्तर, लगातार, नहीं चलता। मन थोड़ी देर के लिये किसी वस्तु पर जमता है, फिर कुछ देर के लिये, उसे छोड़कर, किसी दूसरी ओर

चला जाता है। कुछ समय के बाद फिर छोड़ी हुई वस्तु पर आ जाता है। इसका पता हमें निम्नलिखित प्रयोग से चलता है । माध्यम के सम्मुख एक घूमने वाला पहिया जिसे मेसन डिस्क कहते हैं रक्खा जाता है। पहिये के किसी एक अर्द्धव्यास radius) पर जगह छोड़ छोड़ कर बने हुए काले धब्बों की एक रेखा सी बनी रहती है। जब पहिया घूमता है तो प्रत्येक धब्बा सुफेदी से मिलकर पूरे पहिये में एक भूरी गोल रेखा बनाता सा दिखाई पड़ता है और जितना ही पहिये के किनारे के पास आते जाते हैं रेखायें उतनी ही अधिक सफेद होती जाती हैं। माध्यम सिर को एक स्थिर दशा में रखकर सब से हल्की भूरी रेखा पर एकाग्र होकर ध्यान लगाता है और ध्यान के उच्चाटन (fluctuation of attention) का रेखा-चित्र (graph) रबर की एक नली दबाकर ढोल की आकृति के एक नियमितगति से घूमने वाले आले पर बनाता है। इस नली के दूसरे सिरे पर एक नोकदार लकड़ी रहती है और ढोल पर धुयें से काला किया हुआ एक कागज लपेटा रहता है। जब भूरी रेखा दिखाई देना बन्द हो जाती है तो माध्यम नली को दबा देता है और ढोल के कागज पर लकड़ी की रगड़ से एक रेखा खिंचने लगती है। जब भूरी रेखा फिर दिखाई देने लगती है तो रबर दबाना बन्द कर दिया जाता है और ढोल पर कोई निशान नहीं बनता। इस प्रकार ध्यान के उच्चाटन का रेखा-चित्र तैयार हो जाता है जिसके देखने से पता चल जाता है कि अवधान तथा अनवधान का एक नियमित क्रम बराबर ही चला करता है। अनेक प्रयोगों से पता चला है कि प्रत्येक ५ या ६ सेकिंड के बाद ध्यान अवश्य उचट जाता है और २५ सेकिंड से अधिक तो बड़े से बड़ा ध्यानी भी प्रायः मन को एकाग्र नहीं रख सकता। ऐसे ही थकान पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष पर, स्मृति पर, लगभग समस्त मानसिक दशाओं पर अनेक प्रयोग किये गये हैं और उनसे प्राप्त ज्ञान ने मनोविज्ञान को

बहुत ही समृद्ध तथा व्यवस्थित किया है। इन प्रयोगों में बहुत बड़ी सहूलियत यह है कि भौतिक विज्ञान के प्रयोगों की तरह इनमें भाँति-भाँति के बहुमूल्य यंत्रों तथा जटिल क्रियाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती। बहुधा तो केवल कागज और पेंसिल से ही काम चल जाता है और समय इत्यादि देखने के लिए जिन यंत्रों की आवश्यकता पड़ती भी है वे प्रायः सस्ते होते हैं तथा उनका प्रयोग आसान होता है।

मनोविज्ञान में परीक्षण अथवा प्रयोग के लिए उतना ही अवकाश नहीं है जितना भौतिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में। बालकों के स्वास्थ्य पर, उनके दिमाग पर, किसी विषाक्त अथवा अस्वास्थ्यकर भोजन का क्या प्रभाव पड़ सकता है इसका निर्णय करने के लिये, हमारा उद्देश्य कितना ही लोकोपकारक क्यों न हो, हम उनको वह भोजन खिलाकर परीक्षण नहीं कर सकते। मनुष्यों के स्वास्थ्य अथवा जीवन के साथ खेलने का अधिकार किसी को भी नहीं है। कहा जाता है, कदाचित् सत्य भी है, कि किसी गम्भीर शोक के आघात से, कभी-कभी मनुष्य का मस्तिष्क खराब हो जाता है और वह पागल हो जाता है। किन्तु किसी को शोक में डाल कर इस वैज्ञानिक सत्य का परीक्षण अथवा प्रयोग करने के लिये हम स्वतंत्र नहीं हैं। उत्कृष्ट-बुद्धि छात्र के 'मस्तिष्क कोष्ठों' (brain cells) में क्या विशेषता होती है यह देखने को उसके मस्तिष्क की शस्त्र-क्रिया उसी प्रकार नहीं की जा सकती जैसे हम मेढक के मस्तिष्क की क्रिया करते हैं। किन्तु मनोव्यापार का वह भाग भी जिस पर प्रयोग हो सकते हैं कुछ कम विशद नहीं है। सीमित होने पर भी उसका बहुत अधिक प्रयोग किया जा सकता है एवं किया भी जा रहा है।

प्रयोग में, परीक्षण में, एक और कठिनाई का सामना करना होता है। जिस व्यक्ति पर प्रयोग किया जा रहा है उसके पूर्ण सहयोग की

आवश्यकता होती है। और उसका मिलना प्राय: सरल नहीं होता। मान लो हम किसी व्यक्ति की स्मृति की माप करना चाहते हैं। हम जानना चाहते हैं कि कितने निरर्थक शब्दों को एक निश्चित समय के भीतर वह याद कर सकता है। यदि वह व्यक्ति समझता है—और यह खयाल बहुतों का ही सामान्यत: होता है—कि जितनी तेज स्मृति होगी हम उतने ही अधिक बुद्धिमान् समझे जायेंगे तो वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति को उन अक्षर-समूहों को याद करने पर केन्द्रित कर देगा। उसकी सामान्य स्मृतिशक्ति का पता हमें न लगेगा। उसके लिये प्रश्न केवल स्मृति का ही नहीं, रुचि, अवधान, आत्मगौरव आदि का हो गया है। जिस शक्ति का परीक्षण करना था वह एक बड़े समूह में इस भाँति मिल गई है कि उसके सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालना निर्भ्रान्त नहीं रहा। यदि माध्यम थका है, बीमार है, अथवा अन्य किसी कारण से परीक्षण के सम्बन्ध में निरुत्साह है तब भी सामान्य फल नहीं मिलेगा, यदि उसे किसी विशेष परिणाम की उत्सुकता है तब भी असाधारण फल ही निकलेगा। अत: इस विधि से सफलता प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ भी हैं। यदि हमें एकान्त संदिग्ध सिद्धान्तों से ही सन्तुष्ट हो जाना मंजूर नहीं है तो हमें बड़ी सावधानी से काम लेना होगा।

(३) अन्तर्दर्शन (introspection)—मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अन्तर्दर्शन एक विशेष अंग सदा ही रहा है। मानसिक क्रिया में एक विशेषता होती है। वह इतनी वैयक्तिक होती है कि उस तक किसी दूसरे की पहुँच नहीं हो सकती। हमारे मन में क्या हो रहा है इसका ज्ञान केवल हमें ही हो सकता है, दूसरे हमारे बताने से ही उसे जान सकेंगे। हमारे व्यवहार से, आचरण से, कुछ अनुमान किया जा सकता है जरूर, पर अनुमान, अनुमान ही है। उसमें गलती हो जाने की सम्भावना भी कम नहीं है। और सच तो यह है कि वह अनुमान

भी अनुमान करने वाले की अपनी मानसिक दशाओं के अन्तर्दर्शन पर ही आधारित होता है। अतः मनुष्य के अधिकांश मनोव्यापार के ज्ञान का साधन अन्तर्दर्शन ही होता है।

अभी हाल तक अन्तर्दर्शन ही मनोविज्ञान के अध्ययन की एकमात्र विधि समझा जाता था। बड़े-बड़े पण्डित किसी मनोदशा को लेकर, एकान्त में बैठकर, अपने मन का अध्ययन किया करते थे; अवधान, विचार, कल्पना इत्यादि के विषय में बड़े गहरे तक पैठकर, अनेक साधारण अथवा असाधारण सिद्धान्तों की रचना कर डाला करते थे। जिसके जी में जो आता था वह वही कहने लगता था; अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के समर्थन में, चाहे जिस मानसिक स्थिति की सृष्टि कर लेता था, जिस प्रकार मन में आया सत्य की हत्या अथवा असत्य का प्रचार करने लगता था। किसी को आपत्ति करने का अधिकार ही क्या था ? परिणामतः मनोविज्ञान में एक अनवस्था सी उपस्थित हो गई थी।

इसके अतिरिक्त और भी कई खामियाँ इस सम्प्रदाय में थीं। पशु-मनोविज्ञान (animal psychology) बाल-मनोविज्ञान (child psychology) तथा अस्वस्थ मनोविज्ञान (abnormal psychology) के आविर्भाव से लोगों ने अनुभव किया कि यहाँ अन्तर्दर्शन की विधि बेकार है। न पशु ही, और न अल्पवयस्क बालक ही अन्तर्दर्शन कर सकता है और अस्वस्थ-मन प्रौढ़ भी इस योग्य नहीं होता कि अपनी मानसिक स्थिति का विचारपूर्वक अध्ययन तथा वर्णन कर सके। अतएव अन्तर्दर्शन मनोव्यापार के एक बहुत छोटे भाग का अध्ययन करने में ही उपयोगी हो सकता है।

कुछ मानसिक दशायें इतनी प्रबल होती हैं कि उनके स्थिति-काल में मन उस परिस्थिति में ही फँस जाता है जो उस मानसिक दशा की पृष्ठभूमि है। बाह्य जगत में फँस जाने के कारण मानसिक स्थिति की यथोचित आलोचना नहीं हो सकती। किसी अत्यधिक मोहक

घटना को देखते समय हम घटना के पात्रों, परिस्थिति आदि से इतने भर उठते हैं कि उस घटना के परिणामस्वरूप जो हमारी मनःस्थिति है उस पर विचार करने के लिए मन को अवकाश ही नहीं रहता।

अनेक मानसिक दशायें ऐसी भी होती हैं कि अन्तर्दर्शन करने पर वह दशायें रहती ही नहीं। मनःक्षोभ (emotion) पर शान्त विचार आरम्भ करते ही मनःक्षोभ गायब हो जाता है। मानसिक अशान्ति एवं शान्त विचार में शत्रुता है। जब तक भय, हर्ष, उत्तेजना हैं विचार नहीं चल सकता। उन पर विचार आरम्भ करते ही मन की दशा ही बदल जाती है। जिसे अध्ययन करना था वही नदारद। जेम्स ने इस बात को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। वह कहता है कि "मनःक्षोभ को अन्तर्दर्शन के द्वारा समझने का प्रयास करना कुछ वैसा ही है जैसे अन्धकार को देखने के लिये जल्दी में तीव्र प्रकाश का आयोजन करना।" ऐसी दशा में हमारा अन्तर्दर्शन प्रायः पश्चात् दर्शन (retrospection) अनुप्रेक्षण, ही होता है। हम थोड़ी देर पहले की मानसिक स्थिति को स्मृति के सहारे देखते हैं।

एक और कठिनाई अन्तर्दर्शन में आती है। मानसिक स्थितियों को व्यक्त करने के लिये हमारी भाषा बहुत अक्षम है। किसी फल का स्वाद, किसी सुन्दर मुख की कान्ति, किसी मादक स्पर्श का विवरण देते समय क्या हम यह अनुभव नहीं करते कि पूर्ण प्रयास करने पर भी शब्द चित्र बनता नहीं, भाव व्यक्त होता नहीं ? अतः कहा जाता है कि अन्तर्दर्शन के परिणाम को दूसरों तक पहुँचाना इतना कठिन है कि अन्य आपत्तियों के न रहने पर भी वह बहुत उपयोगी वैज्ञानिक विधि का काम नहीं दे सकता। किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिये कि अन्तर्दर्शन के बिना हमारा काम चल नहीं सकता। आखिर हम सब एक दूसरे की बात समझते ही हैं। जब एक व्यक्ति हमें बताता है

कि उसने एक फल खाया था जो मीठा-खट्टा, स्वादिष्ट था तो ऐसा तो नहीं है कि हम उसके भाव को, उसकी अनुभूति को, बिलकुल ही न समझते हों। रसायन शास्त्र (chemistry) के पण्डित जो प्रत्येक पदार्थ का स्वाद बताया करते हैं, वे भी क्या इसी अन्तर्दर्शन के सहारे नहीं बताते जिसके पीछे कुछ आधिभौतिक आचार्य हाथ धोकर पड़ गये प्रतीत होते हैं ? यह ठीक है कि केवल अन्तर्दर्शन को ही मनोविज्ञान का सब कुछ बना देना अनुचित है। पर इसलिए उसको एक दम ही हटाकर दूर रख देना उससे भी अधिक अनुचित है। अब अन्तर्दर्शन को बहुत कुछ व्यवस्थित कर लिया गया है। परीक्षण करते समय भी माध्यम के संयत अन्तर्दर्शन का विवरण अवश्य ले लिया जाता है। जितने वैज्ञानिक प्रयोग होते हैं सब में भूल तथा प्रमाद की सम्भावना रहती है। यथा-सम्भव उसे दूर करने का प्रयत्न जिस प्रकार अन्य शास्त्रों में होता है वैसे ही मनोविज्ञान में भी हो सकता है और होता है। अन्तर्दर्शन रूपी इस अमूल्य अस्त्र को व्यर्थ समझ कर हम तिरस्कृत कभी नहीं कर सकते।

(४) मनोविश्लेषण (psycho-analysis)—मनोविश्लेषण-वादियों का कहना है कि चेतन मन की ही तरह मनुष्यों का अचेतन मन भी होता है। जिन अनुभवों को हमारा चेतन मन भूल जाता है वे हमारे अचेतन मन में संचित रहते, हैं नष्ट नहीं हो जाते। और वहाँ रह कर हमारे चेतन आचरण को बराबर प्रभावित किया करते हैं। कभी-कभी लोग ऐसा आचरण करते हैं जिसका कोई उपयुक्त कारण, कोशिश करने पर भी, वे नहीं दे सकते। यदि उनके मन का विश्लेषण किया जाय तो उसका पता चल सकता है। पंडित लाल जी राम शुक्ल ने 'सरल मनोविज्ञान' नामक पुस्तक में एक बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है—"एक व्यक्ति सदा पास की उंगली से अपना अंगूठा मला करता था। एक बार उसने इस तरह अनजाने पाँच रुपये का नोट पाकिट से निकाल कर मल कर नष्ट कर डाला। इस

सांकेतिक चेष्टा के कारण का पता चलाने से ज्ञात हुआ कि उसने एक बार बिना समझे एक दस्तावेज पर अपने अंगूठे से निशानी दे दी थी जिसके कारण उसे भारी हानि उठानी पड़ी थी। इस घटना से उसे भारी मानसिक क्लेश और आत्मग्लानि हुई। वह इस घटना की स्मृति भूल चुका था किन्तु उनका वेदनापूर्ण अनुभूति की स्मृति उसके अचेतन मन से कैसे जा सकती थी। उसका आन्तरिक मन अंगूठे में स्याही लगने से दुःखी हो गया था। अब वह सांकेतिक रूप से सदा इस स्याही को पोंछता रहता था।"

अतीत इतिहास जानकर, आचरण का अध्ययन करके, स्वप्नों का अर्थ लगाकर, मोहनिद्रा (hypnosis) में लाकर, स्वतंत्र कथन (free association) आदि के द्वारा लोगों के अचेतन मन की छान-बीन की जाती है, और इस प्रकार उनके चेतन आचरण को समझा जाता है। मनः क्षोभ के धक्कों (emotional shocks) से उत्पन्न भावनाग्रन्थियों (complexes) की खोज करके मनुष्य के अस्वाभाविक मानसिक आचरण का बहुत कुछ रहस्य खोला जा चुका है। अस्वस्थ मानस विद्यार्थियों को सुधारने में पश्चिमी देशों में इस विधि का बड़ा सफल प्रयोग हुआ है। मनोविश्लेषण वादियों के सभी सिद्धांत हमें भले ही मान्य न हों परन्तु इससे तो इनकार नहीं किया जा सकता कि उनकी अतिरंजित विधियों ने किसी सत्य को ही अतिरंजित किया है और वह सत्य मनोविज्ञान की अमूल्य निधि है।

सारांश—विद्यार्थी के मन अथवा बुद्धि को इस प्रकार परिवर्तित कर देना जिससे वह किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति सरलतापूर्वक कर सके शिक्षा देना कहलाता है। चूँकि शिक्षा का सम्बन्ध मन से होता है अतएव शिक्षकों को बालमन का भली भाँति अध्ययन करना चाहिये। इसी मन के अध्ययन को मनोविज्ञान कहा जाता है। अतएव बालमनोविज्ञान का अध्ययन शिक्षक का अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है।

मनोविज्ञान का अध्ययन बहुत प्राचीन काल से होता आया है। पहले यह अध्यात्मशास्त्र का ही भाग था। मनोविज्ञान आत्मा का विवेचन था। गूढ़ तथा अज्ञेय होने के कारण, बाद में, आत्मा को छोड़ कर लोग मन की ओर झुके। किन्तु मन, सरल प्रतीत होने पर भी आत्मा जैसा की दुरूह पाया गया। तब फिर मनोविज्ञान का विषय चेतना बनाया गया। भौतिकशास्त्र की उन्नति होने से उसका प्रभाव अन्य शास्त्रों पर भी पड़ा। चेतना जैसी अस्पृश्य, अदृश्य अभौतिक वस्तु को वैज्ञानिक अध्ययन के अनुपयुक्त ठहराकर अलग हटा दिया गया। पशु-मनोविज्ञान में पशुओं के आचरण का सरलतापूर्वक अध्ययन हो रहा था। अत: मनोविज्ञान में भी मानव आचरण का अध्ययन किया जाने लगा। मनोविश्लेषणवाद का जन्म भी इसी समय हुआ। उस में चेतन से अधिक अचेतन मन के अध्ययन पर जोर दिया गया। बाल-मनोविज्ञान चेतन अथवा अचेतन मन से प्रेरित बालकों के आचरण का अध्ययन है।

बालकों की अनेक मूल-प्रवृत्तियों का पता लग चुका है। रुचि, अवधान, स्मृति, सीखने से नियम आदि का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। नित्य प्रति भिन्न-भिन्न विषयों के पढ़ाने की पद्धतियों के सम्बन्ध में भी अनुसन्धान किये जा रहे हैं। इन सब को जानने से शिक्षक का कार्य सरल तथा सफल होता है। इसलिये मनोविज्ञान का अध्ययन शिक्षकों के लिये आज कल अनिवार्य समझा जाता है।

मनोविज्ञान का अध्ययन वैज्ञानिक रीति से ही किया जाता है। इसकी विधियों में निरीक्षण तथा परीक्षण की विधियाँ तो विज्ञान मात्र की विधियाँ हैं। लोगों के आचरण को देख कर उसके सम्बन्ध में सिद्धांत बनाना निरीक्षण है तथा किसी को किसी विशेष परिस्थिति में रखकर उसके आचरण का निरीक्षण करना परीक्षण कहलाता है। अन्तर्दर्शन, अन्तर्मुख होकर, अपनी ही मानसिक दशा के अध्ययन करने को कहते

हैं। जब किसी को मोहनिद्रा में लाकर, उसके स्वप्नों, भूलों, आदतों आदि का विश्लेषण कर के मनोवैज्ञानिक उसके मन के गुप्त स्तर का पता चलाता है तो उसे मनोविश्लेषण विधि कहते हैं। इन सभी विधियों के प्रयोग से मनुष्य के मन का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया गया है तथा मनुष्यों के साथ सफल व्यवहार कर सकने के लिये उस अर्जित ज्ञान से बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है।

प्रश्न

१. विस्तारपूर्वक आलोचना कीजिये कि शिक्षकों को मनोविज्ञान के पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता क्यों है ?

२. समझाइये कि बालकों की व्यक्तिगत विशेषताओं का पूर्ण ज्ञान शिक्षक को किस प्रकार सहायता देता है ?

३. अन्तर्दर्शन (introspection) की मनोवैज्ञानिक विधि से गुणदोषों का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

४. मनोविश्लेषण (psycho-analysis) ने शिक्षा का क्या उपकार किया है ?

मन का स्वरूप

पिछले अध्याय में हमने आचरण-वादियों (behaviourists) का जिक्र किया था तथा उनके जड़वादी-मनोविज्ञान (mechanistic-psychology) की भी चर्चा की थी। वे लोग तथा उनके अन्य साथी मन जैसी किसी वस्तु के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। प्राणियों के आचरण को वे केवल भौतिक प्रेरक कारणों (physical stimuli) से उत्पन्न प्रतिक्रिया (response) मात्र मानते हैं। उनका कहना है कि जब विशेष प्रकार के भौतिक द्रव्य एक विशिष्ट अनुपात में एकत्र हो जाते हैं तो जीवन-क्रिया तथा उससे भी ऊपर बढ़ने पर चेतना दिखाई पड़ने लगती है। चेतना तथा जीवन-क्रिया जड़ द्रव्य के ही गुण हैं। ये जड़वादी मनुष्य को एक जटिल यंत्र (complex machine) समझते हैं। उनका कहना है कि इसके सभी पुरजों का ठीक-ठीक ज्ञान अभी तक भौतिक विज्ञान को नहीं है और इसी से चेतना तथा जीवन की सृष्टि अभी तक प्रयोग-शाला (laboratory) में नहीं की जा सकी है। उनको आशा है कि विज्ञान की उन्नति होने पर यह भी सम्भव हो सकेगा।

हमारे पास चेतना तथा जीवन के तात्त्विक विवेचन के लिये **स्थान** नहीं है। हम तो केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि प्राणियों का जो आचरण हमारे देखने में आता है वह यांत्रिक (mechanical) नहीं होता। उसमें तथा भौतिक पदार्थों के व्यवहार में बहुत अन्तर होता है। और उस अन्तर को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि जिस आचरण का अध्ययन हमें करना है वह जड़ नहीं है। अतः पहले हम उन्हीं विशेषताओं का उल्लेख करते हैं जिनसे हमें इस भेद का स्पष्ट ज्ञान होता है।

१—प्राणियों का आचरण स्वतंत्र (spontaneous) होता है, आत्मप्रेरित होता है, निर्जीव पदार्थों की भाँति अन्य-चालित नहीं। मोटर गाड़ी बिना ड्राइवर के नहीं चलती, मशीन अपने आप कपड़े नहीं सिलती, बन्दूक अपने आप गोली नहीं चलाती। किन्तु चिड़िया बिना किसी वाह्य प्रेरणा के ही खाने की तालाश में उड़ जाती है, अंडों की रक्षा करने के लिये बिना किसी वाह्य अनुरोध के ही उन्हें अपने पैरों से दबा कर उष्ण रखती है। गेंद हम चाहे जहाँ रख दें, जिधर चाहे फेंक दें, परन्तु जैसा प्रसिद्ध है, घोड़े को जल के समीप तक भले ही खींच ले जाँय पर उसे पानी पीने को विवश नहीं कर सकते। घड़ी चाभी खतम हो जाने पर चलना बन्द कर देगी, खुद हवा भरने का उपक्रम नहीं करेगी। किन्तु मनुष्य आत्म-प्रेरणा से ही सुन्दर कलाओं की सृष्टि करता है, वाधाओं को जीत कर, अनेक वैज्ञानिक अन्वेषण करता है। गेंद तथा घड़ी निर्जीव होने से परतंत्र हैं, पक्षी तथा मनुष्य जीवधारी होने से स्वतंत्र।

२—जीवधारियों का आचरण जब वाह्य प्रेरक की प्रतिक्रिया के रूप में भी आरम्भ होता है तब भी वह पूर्ण रूप से उसी पर आश्रित नहीं रहता। प्रेरक की अनुपस्थिति अथवा उसके विनाश हो जाने पर भी वह जारी रहता है। जड़ अथवा यांत्रिक व्यवहार में यह सम्भव नहीं। बिजली का बटन दबाते ही पंखा चल पड़ता है, बन्द कर देने पर बन्द हो जाता है। प्रेरक की समाप्ति पर प्रतिक्रिया समाप्त हो जाती है। किसी निर्दोष छात्र को अविचार पूर्वक दण्ड दे दीजिये। उसका दुःख तथा क्रोध बहुत दिनों तक चलेगा। अधिक सम्भव है वह उसे कभी न भूले; एक भावना-ग्रन्थि के रूप में; उसके अचेतन में स्थायी-सा होकर वह उसके अचारण को बराबर विकृत करता रहे। ढोल पर एक चोट लगाइये, वह बज उठेगा। चोट का प्रभाव खतम होते ही ध्वनि भी समाप्त हो जायेगी। एक व्यक्ति को तार मिलता है

कि उसका पुत्र सख्त बीमार है। दफ्तर से छुट्टी, घर जाने की तैयारी उपचार की व्यवस्था तथा कई दिन की यात्रा सब उसी संक्षिप्त तार की प्रतिक्रिया में होते रहते हैं। इस बीच में कागज़ का टुकड़ा फाड़ डाला जा सकता है, जला दिया जा सकता है पर प्रतिक्रिया रुकेगी नहीं। प्रेरक नष्ट हो चुका, प्रतिक्रिया चल रही है।

३—जड़ पदार्थों का व्यवहार निर्दिष्ट होता है, उसकी गति निश्चित होती है। एक प्रकार की प्रेरणा से सदा एक ही प्रतिक्रिया होती है। एक स्थान पर खड़े होकर, किसी विशिष्ट दिशा की ओर मुख करके, विशिष्ट शक्ति-युक्त चोट मारने से गेंद की गति सदा एक ही रहेगी। वह प्रत्येक बार उसी तरह चक्कर करती हुई उतनी ही दूर जाकर गिरेगी। गणित के द्वारा पहले से ही निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है कि इस प्रेरक की प्रतिक्रिया का रूप क्या होगा पर जीवधारी का आचरण अनिश्चित रहता है। किसी परिस्थिति में कोई क्या करेगा इसका थोड़ा बहुत अनुमान जरूर किया जा सकता है पर निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। सामने शेर को देखकर आदमी भाग जा सकता है, बेहोश होकर ज़मीन पर गिर सकता है। पेड़ पर चढ़ सकता है अथवा लाठी से उस पर आक्रमण कर सकता है। अत: जीवधारियों की प्रतिक्रिया में आवश्यकतानुसार परिवर्तन हुआ करते हैं जो यांत्रिक आचरण में सम्भव नहीं।

४—प्रेरक शक्ति की समाप्ति के पूर्व यांत्रिक आचरण नहीं रुक सकता। बन्दूक से छूटी गोली बारूद से प्राप्त शक्ति के नि:शेष होने से पहले नहीं गिर सकती। जब तक घड़ी में चाभी है वह चलती ही रहेगी। परन्तु जीवधारियों का आचरण उद्देश्य की पूर्ति होने पर समाप्त हो जाता है। जिस बालक का पीछा कुत्ता कर रहा है वह आत्म-रक्षा के निमित्त घण्टों तथा मीलों तक भागता रह सकता है तथा निर्भय स्थान पर पहुँच कर शीघ्र ही शान्त होकर बैठ जाता है।

५—चेतन आचरण में एक विशेषता यह भी होती है कि उसमें प्राय: भावी परिस्थिति का सामना करने के लिए पहले से ही आयोजन कर लिया जाता है। किसी कुत्ते को अपनी ओर आते देख कर हम ईंट पत्थर उठाने लगते हैं, छड़ी संभालने लगते हैं, जिससे यदि वह हम पर झपटे तो हम उसका प्रतिकार कर सकें। ग्रीष्म ऋतु में भी यह सोचकर ऊनी कपड़ा ख़रीदते हैं कि जाड़े में उसकी आवश्यकता होगी। प्रेरक कारण की भावी सम्भावना से प्रतिक्रिया की तैयारी हो जाती है। जड़ व्यवहार में यह सम्भव ही नहीं। इंजन कोयला को इसलिये नहीं बचाये रख सकता कि उसे आगे चलकर इसकी ज़रूरत पड़ेगी, और न कपड़े इस प्रतीक्षा में तैयार बैठे रह सकते हैं कि जैसे ही पहनने वाला आवे वे बदन पर जा पहुँचे, व्यर्थ समय नष्ट न हो।

६—चेतन आचरण की एक विशेषता यह भी है कि अपने आचरण के फ़लस्वरूप प्राणी भावी आचरण को श्रेष्ठ बनाता है, शिक्षा ग्रहण करता है, प्रारम्भिक आचरण की भूलों को यथासंभव दूर करके एक संस्कृत, उच्चतर, आचरण की सृष्टि करता है। जब बालक लिखना आरम्भ करता है तो बड़ी कठिनाई से टेढ़ो-टेढ़ी रेखायें खींच कर मुश्किल से पहचान में आनेवाला किसी अक्षर का चित्र बनाता है। क्रमश: अभ्यास से, बार बार दुहराये हुए आचरणों मे, वह अच्छा लेखक बन जाता है। बिल्ली का पीछा करने के लिये कुत्ता दौड़ता है। सामने सीकचों का फाटक बन्द पाता है। उसे खोलने में असफल होकर उसको फाँद कर बाहर निकलता है। बराबर उसी फाटक से सर टकराने के व्यर्थ प्रयास में नहीं पड़ा रहता। यांत्रिक व्यवहार में यह सम्भव नहीं। मशीन में, एक बार उसके पुरजे ठीक-ठीक काम करने लग जाने के बाद, अभ्यास के फल स्वरूप आचरण के सुधार को गुंजाइस नहीं रहती; बहुत चल चुकने के बाद मोटर गाड़ी ज्यादा अच्छी नहीं चलती, चाकू ज्यादा अच्छा नहीं काटता, अनेक बार रक्षा-प्राचीर

से टकराकर असफल होकर भी, तोप अपने गोले की गति में परिवर्तन करके, थोड़ा ऊपर जाकर, फिर नीचे की ओर झुक कर, किले के भीतर गिरने का सबक नहीं सीखती। आचरण से अपने में संस्कार करने की शक्ति जड़ में नहीं होती, चेतन में होती है।

७—प्राणी समय के साथ बढ़ते, विकास करते हैं। आज जन्म लेने वाला बच्चा नित्य बढ़ते रह कर कभी युवक होगा, फिर प्रौढ़ होगा, वृद्ध होगा आदि। वह अपनी जाति की रक्षा करने के लिये सन्तानोत्पादन करके उसे निरन्तर कायम रखेगा। जड़ पदार्थों में यह मुमकिन नहीं। जो छोटी सी 'बेबी आश्टिन' आज तैयार हुई है वह दस वर्ष के बाद बढ़ कर बहुत बड़ी 'शेवरोले' नहीं बन सकती और न यही हो सकता है कि अनेक बच्चे देकर वह बनाने वाले के घर को मोटरों से भर दे। आत्म-विकास तथा सन्तान के रूप में स्वरक्षा-योजना जीवित प्राणियों में ही सम्भव है जड़ पदार्थों में नहीं।

ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जड़ तथा प्राणियों के आचरण में एक महत्वपूर्ण भेद है। उस भेद को हम यह कह कर प्रकट कर सकते हैं कि प्राणियों में मन होता है और जड़ में नहीं होता। मन की कल्पना अनिवार्य है। यह सच है कि मन की वैज्ञानिक परिभाषा हम नहीं दे सकते। अनेक परिभाषायें दी गई हैं पर ऐसा मालूम पड़ता है कि हर बार गुत्थी उलझती ही गई है। परन्तु जड़ तथा चेतन के आचरण में जो मौलिक भेद है उसे विस्मृत भी नहीं किया जा सकता। इसलिये इस व्यक्त, स्पष्ट, भेद के आधार पर हम एक अदृश्य शक्ति की कल्पना करते हैं जो चेतन आचरण को सुसम्बद्ध सोद्देश्य, बनाती है। उसको जो अनेक नाम दिये गये हैं मन ही उनमें अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है अतएव हम भी उसका ही प्रयोग करेंगे और सदा इस बात का ध्यान रक्खेंगे कि इस कल्पना में मन की भौतिक सत्ता की कोई स्वीकृति सम्मिलित नहीं है।

मन तथा शरीर, चेतन तथा अचेतन, के इस चिर भेद को उनके पारस्परिक सम्बन्ध को, समझाने के अनेक प्रयत्न हुये हैं। फलतः अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुये हैं। कुछ विद्वान दोनों को दो भिन्न भिन्न, एक दूसरे में एकान्त स्वतंत्र, पदार्थ समझते हैं। वे द्वैतवादी (dualist) कहलाते हैं। कुछ द्वैतवादी मन तथा मस्तिष्क को साथ साथ काम करने वाले कह कर ही संतुष्ट हो जाते हैं। वे चेतना-चेतन समानान्तरवादी (psycho-physical parallelist) हैं। दूसरे मन तथा शरीर के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध (inter-action) पर जोर देते हैं।

इसके अतिरिक्त अद्वैतवादियों (monists) के भी सम्प्रदाय हैं। कुछ चरम सत्ता को भौतिक मानते हैं और मन अथवा चेतना का विकास मूल जड़ प्रकृति से ही हुआ बताते हैं। दूसरे चेतन से जड़ की उत्पत्ति बताते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो 'शरीर-मन' अथवा 'चेतनाचेतन' (mind-body) जैसे समस्त पद के द्वारा एक संयुक्त सत्ता का निर्देश करके इस विवाद का अन्त करने का प्रयास करते हैं।

परन्तु हमें इस व्यर्थ के झमेले में उलझने की आवश्यकता नहीं। केवल इतना जान लेने की जरूरत है कि मनोविज्ञान में मन की सत्ता सदा स्वीकृत हुई है और, खयाल है, सदा ही रहेगी। अतएव अब हमें यह देखना चाहिए कि इस मन का स्वरूप क्या है।

मन का स्वरूप—मन दो रूपों में हमारे सामने आता है और चूंकि उनका प्रयोग इस सम्बन्ध में हमें बराबर करना पड़ेगा अतएव उनको स्पष्ट रूप से समझ लेने की जरूरत है। एक तो है मानसिक क्रिया (mental functioning), अनुभव (experience) अथवा चेतना (consciousness); दूसरा है मानसिक गठन (structure), संस्कार (disposition) अथवा अचेतन (unconscious)।

अनुभव(experience)–हम देखते हैं, सुनते हैं, कुछ विचार करते

हैं, इच्छा करते हैं, डरते हैं, नाराज़ होते हैं और इसी प्रकार के संख्यातीत क्रियाओं में अनुक्षण संलग्न रहते हैं। यह सब हमारा 'अनुभव' है। हम में तथा जड़ पदार्थों में यही एक महत्व का भेद है कि वे इस 'अनुभव' से वंचित हैं जो हमारे जीवन का प्रधान अंग है, जो हमारा विशेषक अथवा परिचायक है। डेकार्टे जब अर्जित संस्कारों से अप्रभावित सत्य की मौलिक मीमांसा करने चला और समस्त पूर्व ज्ञान को कुछ समय के लिये संदिग्ध समझ कर स्थगित कर दिया तो उसे मालूम पड़ा कि अपनी इस मानसिक अनुभूति को वह किसी प्रकार संदिग्ध नहीं मान सकता कि 'मैं हूँ' क्योंकि इसका अनुभव तो वह बराबर करता था। वह 'अनुभव' ही प्राणधारियों का विशेष गुण है, यही उनकी महत्ता तथा श्रेष्ठता है।

इसे 'चेतना' भी कहा जाता है और यह प्रयोग एक प्रकार से समीचीन भी है। परन्तु 'अनुभव' के स्थान में हम 'चेतना' का प्रयोग नहीं करेंगे। कारण यह है कि 'चेतना' का अर्थ प्राय: स्पष्ट ज्ञान (awareness) लिया जाता है और जिस मानसिक क्रिया को इसके द्वारा हम प्रकट करना चाहते हैं वह उससे कहीं अधिक व्यापक है, अपने समस्त अनुभवों का स्पष्ट ज्ञान हमें नहीं होता। जब एक रोचक पुस्तक के पढ़ने में हम तल्लीन रहते हैं तो पृष्ठों के मारजिन का स्पष्ट ज्ञान, प्राय: हमें बिलकुल नहीं रहता। फिर भी हम जानते हैं कि बिना मारजिन की पुस्तक यदि हम पढ़ते तो हमारा अनुभव अवश्य ही कुछ भिन्न रहता। हम अपने कमरे में बैठे किसी काम करने में दत्तचित्त हैं। कोने में रक्खा रेडियो धीमे, मधुर स्वर में, किसी कुशल गायक का संगीत प्रतिध्वनित कर रहा है। हम कार्य में इतने तल्लीन हैं कि उसकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हमारे लिए जैसे रेडियो का अस्तित्व ही नहीं है। हमारी चेतना में उसका कोई स्थान नहीं परन्तु इस विचार की असत्यता का प्रमाण हमें तब मिलता है जब अकस्मात्

रेडियो बन्द होता है। तब हमें एकाएक अनुभव होता है कि कुछ गड़बड़ी हो गई है, अनुभव में कोई अन्तर आगया है, परिस्थिति में कुछ परिवर्तन घटित हो गया है। ध्यान देने पर देखते हैं कि रेडियो बन्द है। तो क्या यह रेडियो एकाएक चेतना में घुस आया और सो भी निःशब्द होकर? ऐसा नहीं है। रेडियो का अनुभव हम बराबर कर रहे थे, उसका अस्पष्ट ज्ञान हमें बराबर था। इसी प्रकार न जाने कितनी वस्तुओं के अस्पष्ट ज्ञान के द्वारा हमारे प्रतिक्षण का अनुभव रंजित होता रहता है, समृद्ध होता रहता है, हमें प्रभावित करता रहता है। परन्तु वह हमारी चेतना का अङ्ग प्राय: नहीं समझा जाता। चेतना शब्द का प्रयोग केवल स्पष्ट ज्ञान के ही लिए होता है, अनुभव से अस्पष्ट ज्ञान का भी बोध हो सकता है। अतएव अधिक व्यापक अर्थ का बोधक होने के कारण हम उसे 'अनुभव' ही कहेंगे।

ज्ञाता तथा 'ज्ञेय'—अनुभव के लिये अनुभव करने वाले व्यक्ति की ज़रूरत होती है, ज्ञान के लिये ज्ञाता' अवश्य चाहिये। ज्ञाता से अलग शून्य में ज्ञान नहीं रह सकता। अनुभवी व्यक्ति के अनुभव से बाहर किसी भी अनुभव की सत्ता आकाश-कुसुम है, खर-गोश का सींग है। जो लोग अज्ञात अनुभवों की चर्चा किया करते हैं तथा उसका यह अर्थ लेते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष के अनुभव न करने पर भी अनुभव रह सकते हैं उन्हें किसी मानसिक चिकित्सक के पास जाकर अपने मस्तिष्क के स्वास्थ्य की व्यवस्था करना चाहिये।

अनुभव के लिये एक विषय की भी आवश्यकता है, ज्ञान किसी ज्ञेय का ही होता है। हम किसी विषय का अनुभव करते हैं। दाँत में पीड़ा होने पर हम पीड़ा का अनुभव करते हैं, भेड़िया को देखकर हम डर का अनुभव करते हैं। हमें सदैव यह स्मरण रखना होगा कि पीड़ा का कारण भले ही दाँत हो पर हमारे अनुभव का विषय दाँत नहीं वरन् पीड़ा है। भय पाने पर हमारे अनुभव का विषय भेड़िया

नहीं वरन् वह मानसिक स्थिति है जिसे 'भय' कहते हैं। मनोविज्ञान का 'विषय' अथवा ज्ञेय मानसिक स्थिति होती है, भौतिक पदार्थ नहीं।

अनुभव के प्रकार—हमारे अनुभव तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञानात्मक (cognitive), रागात्मक (affective) तथा क्रियात्मक (conative)। जब किसी पदार्थ का हमारी इन्द्रियों से सम्पर्क होता है तो उस पदार्थ को हम जानते हैं, उसका कुछ अर्थ समझते हैं, उसका हमें ज्ञान होता है। इसी जानने को ज्ञान कहते हैं, इस अनुभव को ज्ञानात्मक (cognitive) अनुभव कहते हैं। जब हमें किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो या तो वह पदार्थ अच्छा लगता है या बुरा। यह अच्छा या बुरा लगने का अनुभव रागात्मक (affective) कहलाता है। और उस पदार्थ के सम्बन्ध में किसी प्रकार की इच्छा, चाहे वह इच्छा उस पदार्थ में परिवर्तन करने की हो और चाहे उसे जैसा का तैसा बना रहने देने की, क्रियात्मक (conative) अनुभव कहलाती है। ज्यादा उचित तो यह कहना होगा कि प्रत्येक अनुभव के तीन पक्ष, तीन पहलू, होते हैं। क्योंकि प्रत्येक अनुभव में किसी न किसी अंश में तीनों पाये जाते हैं। जिस अनुभव में जिस पक्ष की प्रबलता होती है उसे सरलतापूर्वक समझाने के लिये हम वही नाम दे देते हैं। जब हम किसी रागात्मक अनुभव (affective experience) की बात करते हैं तो यह न समझना चाहिये कि उस अनुभव में निरा राग ही है, वहाँ ज्ञान अथवा क्रिया है ही नहीं। वास्तव में ऐसा अनुभव जिसमें एक मात्र राग ही हो असम्भव है। कितना ही प्रबल राग (feeling) क्यों न हो हम पूर्णरूपेण ज्ञान से रिक्त कभी नहीं हो जाते। कम से कम उस राग के उत्पादक कारण का ज्ञान हमें अवश्य रहता है और अनुकूल भावना को अधिक समय तक स्थिर रखने की तथा प्रतिकूल भावना से शीघ्रातिशीघ्र पिण्ड छुड़ाने की चेष्टा (conation) भी हम अवश्य करते हैं। इसी प्रकार ज्ञानात्मक

अनुभव (cognitive experience) में राग (affect) तथा क्रिया अथवा चेष्टा (conation) प्रकट नहीं तो प्रच्छन्न रूप से अवश्य विद्यमान रहती है। हमारे सामने कोई जटिल समस्या आ जाती है। हम उसका समाधान करने में इतने विचार-मग्न हो जाते हैं कि हमें तन-बदन की सुध नहीं रहती कहा जा सकता है कि उस समय न तो राग है और न चेष्टा। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से पता चलेगा कि दोनों ही वहाँ मौजूद हैं। समस्या सुलझती नहीं इससे दुःख, कम से कम बेचैनी, होती है, सुलझने पर प्रसन्नता का होना स्वाभाविक ही है। और अनेक प्रकार से, नये नये उपायों से, उसे हल कर लेने की चेष्टा तो बराबर रहती ही है। ठीक यही दशा क्रियात्मक अनुभव की है। बिगड़ी मशीन को सुधारने की क्रिया में व्यस्त शिल्पी को मशीन का ज्ञान तो रहता ही है उसे यह भी पता रहता है कि मैं क्या कर रहा हूँ। साथ ही उसे शीघ्र ही ठीक कर लेने की आशा, सफलता में देर होते देख झुँझलाहट आदि रागात्मक अनुभव होता रहता है। अतएव इन तीनों की अलग अलग चर्चा करना केवल समझाने की सुविधा के लिये है, उन अनुभवों में सम्बन्धहीनता का दिग्दर्शन कराने के लिए नहीं।

मन का गठन अथवा आकार (mental structure)—जेम्स ने 'चेतना' को नदी कहा है और भिन्न-भिन्न मानसिक दशाओं को जल बिन्दु बताया है। जो बिन्दु एक बार आया वह प्रवाह में आगे बढ़ जाता है, पीछे कभी नहीं लौटता। जिसे हम नदी कहते हैं, वह इन्हीं अनेक बिन्दुओं का एक-सा दिखने वाला प्रवाह मात्र है। उसी प्रकार जेम्स की दृष्टि में अनेक चेतन स्थितियों के प्रवाह को ही हमने मन की संज्ञा दे रक्खी है, मन जैसी वस्तु, का वास्तविक अस्तित्व कहीं नहीं है। चेतन दशाओं का एक प्रवाह मात्र है, और बस। परन्तु विचार करने से यह बात ठीक नहीं मालूम पड़ती। नदी के बिन्दु

भौतिक पदार्थ हैं। वे अवकाश (space) में एक दूसरे से पृथक् स्थित रहते हैं। अत्यन्त समीप होने पर वे एक दिखाई पड़ते हैं, उनका वाह्य सम्पर्क उनकी एकता का भ्रम उत्पन्न कर देता है। कुछ बिन्दुओं को एक नदी से उठाकर किसी गढ़े में डाल दीजिए। यहाँ वे गढ़े का अंग बन जाँयगे, अब उन्हें देखकर हमारी आँखों को गढ़े का भ्रम होने लगेगा। अत: नदी के अस्तित्व को भ्रम-जन्य बताना, सम्भव है, ठीक हो। परन्तु यह बात तो मानसिक दशाओं पर नहीं चरितार्थ होती। उनकी एकता अन्य ही प्रकार की होती है। उनमें अवकाशगत (spatial) सम्पर्क नहीं होता, अद्वैत भाव होता है। एक व्यक्ति की समस्त मानसिक दशायें अद्भुत रूप से एक सूत्र में गुम्फित रहती है। जिस मन की वे दशायें हैं उसके बाहर उनका कोई अर्थ नहीं, कोई मूल्य नहीं। उस मन से पृथक् होने पर वे मानसिक दशायें ही नहीं रहतीं, उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। दार्शनिक विचारों में तल्लीन जेम्स जिस आनन्द की अनभूति करता है क्या मानव कल्पना की बड़ी से बड़ी उड़ान उस अनुभूति को कल्लू ठेले वाले के मन में स्थापित कर सकती है? कल्लू पढ़ लिखकर दार्शनिक बन सकता है, बिचार-विमर्श में आनन्द की उपलब्धि भी कर सकता है, पर क्या जेम्स का आनन्द उसका आनन्द हो सकता है? जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जलाशयों के जलबिन्दु मिल सकते हैं वैसे ही क्या भिन्न-भिन्न मनों के अनुभव भी मिलाए जा सकते हैं? यदि नहीं, तो हमें मानना ही होगा कि ये अनुभव किसी एक मन के हैं। मन इन विभिन्न अनुभवों का अधिष्ठान (support) है, आधार है, कारण है। यद्यपि हमें अनुभवों के इस आधार अथवा प्रेरक कारण के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता परन्तु अनुमान के सहारे इतना तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि इन अनुभवों का प्रेरक, आधार तथा स्वामी कुछ है अवश्य जो इस निरन्तर प्रवाह का अपेक्षाकृत स्थिर आधार है।

उसे हम संस्कार (disposition) अचेतन (unconscious) गठन अथवा आकार (structure) किसी नाम से पुकारें मनोवैज्ञानिक विवेचन में उसकी कल्पना के बिना काम नहीं चल सकता। अतएव मन के दो रूपों में से एक तो क्रियात्मक है जिसे हम अनुभव कहते हैं और दूसरा स्थिर, आधार रूप है, जिसे हम गठन, आकार अचेतन आदि कह कर व्यक्त किया करते हैं।

मन की मूलशक्तियाँ (powers of the mind)— हम देख चुके हैं कि मन की वृत्ति यांत्रिक नहीं होती। उसमें जड़ पदार्थों से कुछ भिन्नता होती है। मन-युक्त प्राणी किसी उद्देश्य से प्रेरित होता है, उसमें शिक्षा ग्रहण करने की शक्ति होती है, उसका आचरण सुसम्बद्ध तथा सक्रम होता है। जड़ पदार्थों में यह कुछ भी सम्भव नहीं। इस विशिष्टता को जन्म देने वाली मन की कुछ शक्तियाँ हैं जिन्हें हम मन की मूलशक्तियाँ कह सकते हैं और जिन के होने से ही मानसिक विकास तथा चेतन व्यवहार संभव हो सका है। उन शक्तियों को हम सँचय(mneme), सप्रयोजनता (horme), तथा सम्बद्धता (cohesion) कहेंगे।

१ **संचय** (mneme)—मन का स्वरूप निश्चित करते समय हमने देखा था कि यंत्र में, जड़ पदार्थ में, अपने अनुभव से लाभ उठाने की, उससे शिक्षा ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती, प्राणी में होती है। इसका कारण क्या है? मन में अनुभव से उत्पन्न संस्कारों को स्थायी बनाये रखने की अद्भुत शक्ति है, जो अनुभव एकबार किया जाता है वह बिल्कुल विस्मृत कभी नहीं होता। हम कह सकते हैं कि उसकी स्मृति थोड़ी बहुत आजन्म बनी रहती है। मन की वह शक्ति जिसके कारण यह स्मृति अथवा संस्कार बच रहता है 'संचय' कहलाती है। इसे अंग्रेजी में नेमें (mneme) कहा गया है। इसे स्मृति नहीं कहते। स्मृति में चेतना काम किया करती है। हमें किसी को स्मरण करने का ज्ञान रहता है। संचय में वह नहीं रहता। वह तो केवल अनुभव से उत्पन्न

संस्कारों को, प्रभावों को, हमारे बिना जाने संचय किया करता है। स्मृति में भी यही संचय शक्ति काम करती है। स्मृति भी एक प्रकार का संचय ही है। पर सभी संचय स्मृति नहीं कहलाता। छोटा बच्चा खिलौने को उठाने का प्रयास करता है। खिलौना मुट्ठी में आकर भी गिर जाता है। उसे सँभालने को, पकड़ने की, बुद्धि अभी बच्चे में नहीं है। बहुत बार बच्चा प्रयास करता है। प्रत्येक बार कुछ न कुछ संस्कार बनते जाते हैं। प्रयत्न में क्रमशः अधिकाधिक सफलता मिलती जाती है। अन्त में बालक वस्तुओं का उठाना सीख लेता है। यह कहना ठीक नहीं है कि पहले प्रयास की स्मृति दूसरे प्रयास के समय बच्चे को थी। हाँ, संस्कार अवश्य शेष रह गया था। बच्चे को पता नहीं था पर ज्ञान संचित हो रहा था, संचय शक्ति अपना काम कर रही थी। स्मृति से 'संचय' अधिक व्यापक है। हम कह सकते हैं कि चेतन 'संचय' ही स्मृति बन जाता है।

हम एक दीवाल बनाना चाहते हैं। पहली ईंट रखने के बाद जब हम दूसरी ईंट रखने चलें तब तक यदि पहली ईंट खिसक जाय और यह क्रम बराबर जारी रहे तो क्या दीवाल कभी बन सकती है? क्या हम बराबर एक ही स्थिति में पड़े रह कर बिना आगे बढ़े, समय तथा शक्ति का अपव्यय नहीं करते रहेंगे! ठीक यही बात मानसिक विकास पर भी चरितार्थ होता है। यदि हमारे अनुभव बिना संस्कार छोड़े नष्ट होते रहें तो हम आगे कैसे बढ़ेंगे? फिसल कर, लुढ़क कर, गिरकर धीरे-धीरे बच्चा चलना सीखता है। एक अनुभव जो संस्कार छोड़ जाता है वह आगे के अनुभव को अधिक सफल बनाता है। यह सच है कि उसका पता व्यक्ति को नहीं रहता। कम से कम स्मृति जैसी कोई क्रिया उसके मन में नहीं होती। वह शक्ति जो इन संस्कारों को अमिट बनाने में, स्थायी बनाने में, सहायक होती है 'संचय' कहलाती है। जिसे हम स्मृति कहते हैं वह इसी संचय का छोटा सा भाग

है। कुछ भी सीखना, मन का किसी रूप में विकसित होना, इसी मूल शक्ति की क्रिया का परिणाम है।

२. सप्रयोजनता (horme)—अभी हमने देखा कि मन में संस्कारों को संचित रखने की एक अपूर्व शक्ति होती है। मन की दूसरी विशेषता यह होती है कि उसका समस्त व्यवहार सप्रयोजन होता है, सोद्देश्य होता है। मन की क्रिया निरुद्देश्य नहीं हुआ करती। यों तो निर्जीव यंत्र में भी प्राय: कुछ उद्देश्य होता ही है। बिजली जलती है हमें प्रकाश देने के लिए। कलम बना है तो उसके द्वारा यह पुस्तक लिखी जा रही है। तब फिर हम क्यों कहते हैं कि हमारा कार्य तो सप्रयोजन है पर बिजली तथा कलम का, जिन के बिना यह उद्देश्य कभी पूरा ही नहीं हो सकता, निरुद्देश्य है। बात यह है कि हम तो पुस्तक को अपनी इच्छा से लिख रहे हैं। पुस्तक के लिखने में हमारा अपना उद्देश्य है। पर बिजली अथवा कलम की तो इच्छा ऐसी नहीं है। उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं है। बिजली के प्रकाश में बैठकर ताश खेला जा सकता है, गप लड़ाई जा सकती है। और कलम से ! खत लिखा जा सकता है, ग़लती तथा गुस्से में किसी की आँख फोड़ी जा सकती है, बच्चे को टूटो गाड़ी की धूरी बनायी जा सकती है उनके लिए अपना कोई प्रयोजन न होने से, सभी दशायें समान हैं। न एक प्रयोग से उन्हें हर्ष हो सकता है और न दूसरे से विषाद। उनमें जो उद्देश्य हम देखते हैं वह प्रयोग-कर्त्ता का है, दूसरे का है, उनका नहीं।

परन्तु चेतन व्यापार सप्रयोजन होते हैं। उस प्रयोजन का पता प्राणी को कभी होता है और कभी नहीं होता। हम खाना खाते हैं, उसे पचाते हैं, परन्तु पाचन-क्रिया कब होती है, कैसे होती है, इस का पता हमें नहीं चलता। तेज़ रोशनी के पड़ते ही आँख अपने आप बंद हो जाती है। बन्द होने पर हमें उसका पता चल सकता है परन्तु बंद करते समय किसी ज्ञात प्रयोजन से हम प्रभावित नहीं होते। फिर भी

हमारी जीवनरक्षा के ही उद्देश्य से यह क्रियायें होती हैं। हमारी कटी उँगली जुड़ जाती है. घाव भर आता है, मन्थरज्वर के ताप से बिगड़ा दिमाग़ फिर सही-सही काम करने लगता है। जीवधारियों की सब श्रेणियों में हमें सप्रयोजनता एक ही रूप में दिखाई देती है। अतएव हम कह सकते हैं कि मन की दूसरी शक्ति 'सप्रयोजनता' है। इसे अंगरेजी में होर्म (horme) कहा जाता है। उसे जीवनेच्छा, प्रेरणा, अज्ञात इच्छा आदि बहुत से नाम दिये गये हैं। चेतन स्तर पर आकर जिस प्रकार 'संचय' स्मृति बन जाता है वैसे ही सप्रयोजनता इच्छा का रूप धारण कर लेती है। परन्तु हमें बराबर ध्यान में रखना चाहिये कि इच्छा सप्रयोजनता का चेतन भाग है। सप्रयोजनता व्यापक है, इच्छा व्याप्य; इच्छा अंश है, सप्रयोजनता अंशी।

३. सम्बद्धता (cohesion)—अपने अनुभव से उत्पन्न समस्त संस्कारों को सम्बद्ध करने की, व्यवस्थित करने की, शक्ति मन की तीसरी विशेषता है। हमारे संस्कार आपस में जुड़ते रहते हैं। एक व्यक्ति को दो साल पहले हमने व्याख्यान देते सुना था। बड़े आकर्षक रूप में वह अपने विचारों को उपस्थित कर सकता है। कुछ दिन हुए उसे क्रिकेट खेलते देखा, वह बड़ा सिद्धहस्त खिलाड़ी है। यद्यपि इन दो अनुभवों में दो वर्ष का अन्तर है पर दोनों अनुभवों के संस्कार एक में जुड़ जाते हैं। क्रिकेट देखने के पहले हमने मिठाई भी खायी थी तथा उसके बाद सिनेमा भी देखा था, परन्तु उस व्यक्ति के खेल को देखने से प्राप्त संस्कार इनसे न जुड़ कर पहले वाले व्याख्यान से ही जुड़ा और उस व्यक्ति की योग्यता के सम्बन्ध में एक नया ज्ञान उत्पन्न करने में साधन बना। हमारे संस्कार एक विशिष्ट प्रकार से सम्बन्धित होते रहते हैं। जैसे डाकखाने में एक विशेष नगर की सब चिट्ठियाँ एक ही दराज़ में रख दी जाती हैं, प्रयाग की चिट्ठी काशी के खाने में नहीं डाल दी जाती, वैसे ही हमारा मन संस्कारों को छाँट-छाँट

कर इकट्ठा किया करता है, एक प्रकार के संस्कार एक साथ जोड़ता रहता है और इस तरह नित्यप्रति, प्रतिक्षण, परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होता रहता है। संचय (mneme), सप्रयोजनता (horme), तथा सम्बद्धता (cohesion) की तीनों शक्तियों के सम्मिलित प्रभाव से ही प्राणियों का विकास होता है।

सारांश—जड़वादियों (mechanists) का कहना है कि जीवन-क्रिया तथा चेतना जड़ प्रकृति के ही गुण हैं। जड़ पदार्थों का ही एक विशिष्ट सम्मिश्रण चेतना उत्पन्न कर देता है तथा जब उसमें फिर कोई परिवर्तन आ जाता है तो चेतना लुप्त हो जाती है। अध्यात्मवादी (idealist) ऐसा नहीं मानता। वह मन, चेतना, आत्मा आदि किसी न किसी रूप में चेतना की स्वतन्त्र सत्ता मानता है। प्राणियों तथा जड़ पदार्थों के आचरण में जो महत्वपूर्ण भेद दिखाई पड़ता है यह भी इसी पक्ष का समर्थन करता है। प्राणी स्वतन्त्र, आत्म-चालित, होता है, जड़ पदार्थ परतन्त्र, अन्य-चालित। चिड़िया भोजन की तलाश में खुद जाती है, घड़ी चाभी देने पर चलती है। प्राणी की प्रतिक्रिया पूर्णरूप से प्रेरक कारण पर आश्रित नहीं रहती, जड़ की रहती है। चाभी खतम हो जाने पर घड़ी चलना बन्द कर देती है, किन्तु घबराहट उत्पन्न करके जलकर खाक हो जाने वाला पत्र घबराहट को समाप्त नहीं कर सकता। जड़ पदार्थ की प्रतिक्रिया का रूप निश्चित होता है, चेतन आचरण में उद्देश्य के अनुरोध से अनेकरूपता हो सकती है। एक ही प्रकार की चोट से गेंद सदा एक ही जगह जाकर गिरेगा परन्तु कुत्ते से पीछा किया जाने वाला मनुष्य भाग सकता है, पेड़ पर चढ़ सकता है, कुत्ते से भिड़ भी सकता है। यांत्रिक आचरण प्रेरक शक्ति की समाप्ति के पहले रुक नहीं सकता, चेतन आचरण उद्देश्य-प्राप्ति हो जाने पर समाप्त हो जाता है। चेतन प्राणी परिस्थिति का सामना

करने की तैयारी पहले से किये रहता है, यंत्र में यह सम्भव नहीं। प्राणी अपने अनुभव से सीखता है, जड़ पदार्थ शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता प्राणी बढ़ता है, सन्तानोत्पत्ति करता है, जड़ में यह संभव नहीं। अतएव चेतन आचरण यांत्रिक नहीं है। चेतन आचरण को सुसंबद्ध एवं सोद्देश्य बनाने वाली सत्ता को हम 'मन' कहेंगे।

मन हमारे सामने दो रूपों में आता है, एक तो मानसिक क्रिया अथवा 'अनुभव' और दूसरा मानसिक गठन अथवा आकार। हम जो कुछ जानते, चाहते, अनुभव करते हैं वह सब मानसिक क्रिया अथवा अनुभव कहलाता है तथा इन सब के पीछे इन सब के प्रेरक के रूप में, हमारे अर्जित एवं जन्मजात संस्कार रहते हैं जो मन का गठन अथवा 'मन का शरीर' कहे जा सकते हैं।

अनुभव के तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक (cognitive) रागात्मक (affective), तथा क्रियात्मक (conative)। सुख, दु:ख, पीड़ा, क्रोध आदिक भावों की संवेदना रागात्मक अनुभव है; किसी भी प्रकार का ज्ञान ज्ञानात्मक अनुभव है तथा परिस्थिति को बदलने की इच्छा अथवा उसे यथास्थित बनाये रखने की वासना क्रियात्मक अनुभव है।

मूलप्रवृत्तियाँ (instincts), सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ (innate general tendencies), आदतें, स्थायीभाव (sentiments) तथा अन्य समस्त संस्कार हमारे मन का गठन अथवा आकार कहलाते हैं।

मन की तीन मूल शक्तियाँ मानी गई हैं, संचय-शक्ति (mneme) सोद्देश्यता (horme) तथा सम्बद्धता (cohesion)। मन में संस्कार ग्रहण करने की जो शक्ति है, अनुभव को किसी न किसी रूप में बचा रखने की जो ताकत है, उसे ही संचय-शक्ति कहते हैं। यही बढ़कर, चेतना में आकर स्मृति बन जाती है। हम देख चुके हैं कि प्राणी

का आचरण सप्रयोजन अथवा सोद्देश्य होता है, वह किसी न किसी लक्ष्य की प्राप्ति अपने आचरण के द्वारा करना चाहता है। यही लक्ष्य की ओर जाना उसकी सोद्देश्यता है, भले ही कभी-कभी वह उद्देश्य हमें स्पष्ट दिखाई न पड़े। इसके साथ ही हमारा मन अपने अनुभवों को क्रमहीन, असंबद्ध, दशा में नहीं पड़ा रहने देता। वह उन्हें क्रमबद्ध करके, सजाकर, एक ही प्रकार के अनुभवों को पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र से पिरोकर, रक्खा करता है। यह मन की तीसरी मूल-शक्ति सम्बद्धता कहलाती है।

प्रश्न

(१) चेतन आचरण तथा यांत्रिक (mechanical) आचरण में क्या भेद है ?

(२) मन किसे कहते हैं ? मानसिक गठन (structure of mind) कहने से हमारा अभिप्राय क्या होता है ?

(३) अनुभव का क्या अर्थ है ? उसके मुख्य प्रकारों का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

(४) सप्रयोजनता (horme) तथा संचय-शक्ति (mneme) से आप क्या समझते हैं ? उदाहरण देकर समझाइये।

मूल-प्रवृत्तियाँ

मूल-प्रवृत्तियां—पिछले अध्याय में हमने मन की कुछ सामान्य शक्तियों की चर्चा की थी। हमने देखा था कि यदि वे शक्तियाँ मन में न होतीं तो प्राणियों का आचरण भी यांत्रिक ही होता, उसमें विकास की संभावना ही न होती। परन्तु प्राणियों के आचरण को देख कर हमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का पता चलता है जो उन्हीं सामान्य मूल-शक्तियों से उत्पन्न तो अवश्य हुई हैं किन्तु जो क्रमश: विकसित होकर विशेष बन गई हैं। विशेष परिस्थिति में, उन्हीं मूल-शक्तियों के फलस्वरूप, प्राणी विशेष प्रकार का आचरण करने लगा है। इन व्यवहारों का अध्ययन करने से इस बात का पता लगा है कि प्राणियों का व्यवहार कुछ इनी गिनी प्रवृत्तियों पर ही आधारित होता है। इन प्रबल प्रेरक शक्तियों को मनोवैज्ञानिक मूल प्रवृत्तियाँ (instincts) कहते हैं। ये मूलप्रवृत्तियाँ ही प्राणी को व्यवहार करने के लिए वाध्य करती हैं, यही उसके आचरण की प्रेरक तथा मार्ग-दर्शक हैं। ज्ञात में अथवा अज्ञात में, इच्छा से अथवा अनिच्छा से, प्राणी इन्हीं प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कर्म करता है। इन प्रवृत्तियों को जिस कार्य से संतोष मिलता है प्राणी वही करता है। जो कुछ इनका बाधक होता है उससे बचने में, उसका विरोध करने में, वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है अत: हमें यह देखना चाहिए कि इन-मूलप्रवृत्तियों का स्वरूप क्या है और किस प्रकार इनका उपयोग हम बालकों की शिक्षा में कर सकते हैं।

मूल-प्रवृत्तियों की विशेषतायें—मूलप्रवृत्तियों की पहली विशेषता उनका जन्मजात होना है। प्राणी उन्हें लेकर ही जन्म लेता है, उत्पन्न होने के बाद उन्हें नहीं सीखता। बतख़ तैरना किसी से सीखती नहीं,

तैरने की शक्ति लेकर ही जन्म लेती है। बतख़ को जल के बाहर पाल कर बड़ा कीजिये। उसके अंगों का विकास हो जाने के बाद उसे तालाब में फेंक दीजिये। वह डूबेगी नहीं। तैरने की प्रवृत्ति एवं तदुपयोगी शरीर-गठन, लेकर ही वह उत्पन्न हुई है। अतएव तैरना उसके लिए स्वभाविक है, यह उसकी मूलप्रवृत्ति है। इसी प्रकार गाय का बच्चा जन्म लेते ही चलने लगता है, चिड़िया उड़ने लगती है, मानव शिशु भी दूध पीने तथा रोने लगता है। यह सब मूलप्रवृत्ति में निहित प्राकृतिक शक्ति का ही परिणाम है।

किन्तु मूल-प्रवृत्तियों के जन्मजात होने का यह अर्थ नहीं है कि उत्पन्न होते ही मूलप्रवृत्तियाँ काम करने लगती हैं और न उसका यही अर्थ है कि जिस प्रवृत्ति का उदय हो गया है उसमें विकास की, संस्कार अथवा परिवर्त्तन की, सम्भावना ही शेष नहीं रही। अनेक मूल प्रवृित्तयाँ जन्म के बहुत काल पश्चात् उदय होती हैं। काम-प्रवृत्ति (sex instinct) को ही लीजिये। यह एक सर्व-सम्मत मूल-प्रवृत्ति है किन्तु किशोरावस्था के पूर्व प्राय: इसका प्रभाव देखने में नहीं आता और यद्यपि जन्मते ही बच्चे में भोजनान्वेषणवृत्ति (food seeking instinct) दिखाई पड़ती है परन्तु सामुहिकता (social instinct) तथा विधायिकता (constructive instinct) का उदय काफी बाद में होता है। यही बात प्रारम्भिक कुशलता के सबंध में भी ठीक है। यद्यपि भूखा शेर सामान्यत:, मूलप्रवृत्ति के अनुरोध से भोजन पाकर बिना खाये नहीं मानता पर पालतू शेर सर्कस में बकरी के साथ खेला करता है। भूखा होने पर भी पालतू कुत्ता मालिक के खाने पर नहीं झपटता, घर के बालकों से परेशान किया जाने पर भी उन्हें नहीं काटता। चिड़ियाँ भी खाने की तलाश में जिस किसी ओर न जाकर विशिष्ट दिशा की ओर, जहाँ उन्हें खाना मिलने की अधिक संभावना होती है, जाना सीख लेती हैं। अतएव मूलप्रवृत्तियाँ यद्यपि

स्वाभाविक हैं, प्राकृतिक हैं, अनुभव से नहीं उत्पन्न होतीं, उनकी शक्ति जन्म के साथ ही मिलती है परन्तु उनका प्रभाव कभी कभी जन्म के बहुत दिन बाद दिखाई देता है। और यद्यपि अनुभव से उनकी उत्पत्ति नहीं होती पर अनुभव के फलस्वरूप उनके रूप में परिवर्तन अवश्य हो सकता है। यदि ऐसा होता तो कामवृत्ति (sex instinct), संग्रह वृत्ति (acquisition instinct), तथा युयुत्सावृत्ति (instinct of pugnacity) के अदम्य प्रकाशन से मानव समाज रहने के योग्य स्थान न रह जाता।

मूलप्रवृत्ति की दूसरी विशेषता उसका सप्रयोजन (purposive) होना है। मूलप्रवृत्ति किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही प्रेरणा करती है। काम-प्रवृत्ति में सन्तानोत्पादन का उद्देश्य निहित है। भोजनान्वेषण (food seeking) में आत्म-रक्षा की भावना काम करती है। पलायन (escape) में खतरे से बचकर शारीरिक रक्षा की कामना प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप से अवश्य विद्यमान रहती है। मूलप्रवृत्तियों की सप्रयोजनता (purposiveness) का सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि आने वाली परिस्थिति के लिये प्राणी पहले से ही तैयारी करता है। अंडा देने से पहले चिड़िया घोंसला बनाती है, चूहे की प्रतीक्षा में बिल्ली घंटों दुबकी, छिपी, बैठी रहती है तथा सन्तानोत्पादन के हेतु बड़ी मेहनत तथा लगन के साथ चींटी अंडों की सुश्रूषा करती है। इस उद्देश्य का एक और अकाट्य प्रमाण हमें इस बात में मिलता है कि जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, क्रिया बराबर जारी रहती है, भिन्न-भिन्न साधनों का उपयोग होता है और उद्देश्य की प्राप्ति के बिना कर्म रुकता नहीं। देखा गया है कि अंडा देने के उद्देश्य से गोबर ले जाने वाला कीड़ा रास्ते में अड़चन डालने वाले बालू के ढेर को, यथासम्भव सम करके, पार करता है और उपयुक्त स्थान पर उस गोबर में अंडा देकर, उसे ज़मीन के किसी छेद में डालकर, छेद का मुँह मिट्टी से बन्द करके ही विश्राम

लेता है। इतने समय तक बाधाओं से लड़कर काम को पूरा करके ही शान्त होना क्या सप्रयोजनता का पक्का सबूत नहीं है? और उद्देश्य-प्राप्ति के पश्चात् तुरन्त क्रिया की समाप्ति भी क्या उसी ओर संकेत नहीं करती?

मूलप्रवृत्ति की तीसरी विशेषता उसका अनुभव से लाभ उठाना है। जिस बिल्ली को आपने एक बार मारा है वह दुबारा आपके पास नहीं फटकेगी, जिस तालाब का जल सूख जाता है बर्षों से वहीं जल के उद्देश्य से आने वाले पक्षी उसका मोह छोड़ देते हैं। गंगा के घाट पर आदमी को देखकर मनुष्य से स्वभावत: छिप कर रहने वाले कछुये तथा मछलियाँ पानी के ऊपर, भोजन-लाभ के उद्देश्य से, आ जाते हैं तथा जो अबोध शिशु पहले आग को पकड़कर खाना चाहता है, वही एक बार जलकर, दोबारा उसे छूने की इच्छा भी नहीं करता।

मूल-प्रवृत्तियों की चौथी विशेषता यह है कि जो प्रवृत्ति किसी जाति के एक व्यक्ति में पाई जाती है वह सब में पाई जायेगी। यह हो सकता है कि प्रवृत्ति की तीव्रता में, परिस्थिति, अवस्था अथवा लिंगभेद के कारण, कुछ व्यक्तिगत अन्तर हो जाय पर यह नहीं हो सकता कि वह वृत्ति किसी व्यक्ति में पाई जाय और किसी में नहीं। यौवन में काम-प्रवृत्ति प्रबल रहती है, बुढ़ापे में कम हो जाती है; लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में पुत्रकामना (parental instinct) अधिक प्रबल होती है; जिस जंगल में मनुष्य का आना जाना कभी नहीं होता वहाँ के पशुपक्षी मनुष्य को देखकर पलायन (escape) के लिये आतुर नहीं हो उठते। परन्तु काम-प्रवृत्ति (sex instinct), पुत्रकामना (parental instinct) तथा पलायन वृत्ति (escape reaction) पाई सब व्यक्तियों में जाती है। अन्तर मात्रा का है, प्रकार का नहीं।

मूलप्रवृत्तिजात आचरण और चेतना—कुछ लोग मूल-प्रवृत्ति

से प्रेरित आचरण को यांत्रिक अथवा सर्वदा चेतना-विहीन बताते हैं और इसीलिये उनका ख़याल है कि बुद्धि के विकास के साथ ही मनुष्यों से मूलप्रवृत्यात्मक आचरण की समाप्ति हो गई है। अभी हम देख चुके हैं कि मूल-प्रवृत्तिजात आचरण जड़ नहीं होता और यह भी हम देख चुके हैं कि मूल-प्रवृत्ति में अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता होती है एक अनुभव के फलस्वरूप उस सम्बन्ध की दूसरी क्रिया कुछ परिवर्तित हो जाती है। यदि पहले अनुभव के समय ही उस अनुभव के अर्थ का कुछ भी ज्ञान, वह कितना ही धुँधला अथवा अस्पष्ट क्यों न हो, हम नहीं स्वीकार करते तो हमें मानना पड़ेगा कि प्रथम अनुभव में कोई शिक्षा नहीं मिली क्योंकि जिसका ज्ञान ही नहीं है उससे कुछ सीखना सम्भव नहीं है। दूसरे अनुभव के समय शिक्षा से लाभ उठाया जाता है, उस शिक्षा के अनुरोध से आचरण में कुछ परिवर्तन किया जाता है, अतएव दूसरे अनुभव के पहले ही शिक्षा ग्रहण की जा चुकी होनी चाहिये। तो फिर यह शिक्षा कब ग्रहण की गई? पहले में नहीं, क्योंकि प्राणी को उस समय कोई चेतना न थी; दूसरे में भी नहीं क्योंकि तब तक शिक्षा ग्रहण की जा चुकी थी। विचार करने से यही युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि जिस मूल-प्रवृत्यात्मक क्रिया से शिक्षा ग्रहण की गई है उसमें चेतना का अंश कुछ न कुछ अवश्य रहा होगा। अतएव मूलप्रवृत्ति को चेतना-विहीन समझना शुद्ध भ्रम प्रतीत होता है।

मूलप्रवृत्ति तथा सहज-क्रिया में अन्तर—हर्बर्ट स्पेंसर मूलप्रवृत्ति को विषम-सहज-क्रिया (complex reflex aetion) मानता है परन्तु यह ठीक नहीं है। सहज क्रिया (reflex action) एवं मूल-प्रवृत्ति के भेद को न समझने से ही यह भ्रम उत्पन्न हो गया है। दोनों में कुछ समानता अवश्य है। दोनों ही जीवनरक्षा में उपयोगी हैं दोनों समान रूप से चेतना-विहीन मालूम पड़ती हैं, तथा दोनों जन्म-

जात होने से प्राय: आरम्भ से ही कुशलतापूर्वक होने लगती हैं। किन्तु इतना होने पर भी वे एक नहीं हैं। प्रेरक कारण (stimulus) के आने से पहले सहज-क्रिया (reflex action) नहीं होती; वह तो केवल प्रेरणा पाने पर होने वाली प्रतिक्रिया (reaction) मात्र है। जब तक तेज़ रोशनी नहीं आती आँख बन्द नहीं होती। प्रेरणा के न रहने पर सहज-क्रिया समाप्त हो जाती है। नाक के भीतर खुजली इत्यादि उत्पन्न करने वाले भौतिक कारण के अभाव में छींक आना बन्द हो जाता है। किन्तु मूलप्रवृत्ति भावी परिस्थिति का सामना करने की तैयारी पहले से ही किये रहता है तथा उद्देश्य के पूरा न होने तक जारी रहती है। सहज क्रिया में आचरण प्राय: यांत्रिक ही होता है। मूलप्रवृत्ति में उद्देश्य-प्राप्ति के लिये आचरण में परिवर्तन भी होता है जो सहज-क्रिया में संभव नहीं। सहज-क्रिया में चेतना नहीं रहती, कभी-कभी प्रतिक्रिया का ज्ञान होता है। परन्तु प्रतिक्रिया होने के समय उसके पहले कभी नहीं। मूलप्रवृत्ति में उद्देश्य का थोड़ा बहुत ज्ञान, जैसा हम अभी देख चुके हैं, बराबर रहता है। इसीलिये मूलप्रवृत्ति में नियंत्रण परिवर्तन, तथा विकास सम्भव है, सहज क्रिया में नहीं।

मैकडूगल की परिभाषा और वर्गीकरण—मैकडूगल ने मूलप्रवृत्ति की निम्नलिखित परिभाषा दी है—'मूलप्रवृत्ति वह जन्मजात प्रवृत्ति है जिसके कारण प्राणी विशेष प्रकार के पदार्थ की ओर ध्यान देता है और उसकी उपस्थिति में विशेष प्रकार के संवेग अथवा मन:क्षोभ की अनुभूति करता है एवं उस पदार्थ के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार का आचरण करता है।" इस प्रकार की अनेक प्रवृत्तियाँ मनुष्यों में पाई जाती हैं। मैकडूगल ने उनमें से मुख्य चौदह मूलप्रवृत्तियों की एक तालिका भी प्रस्तुत की है और प्रत्येक मूलप्रवृत्ति से सम्बन्धित संवेग अथवा मन:क्षोभ (emotion) का भी निर्देश किया है। उसकी तालिका आगे दी जाती है—

मूलप्रवृत्ति) (emotion)	सम्बद्ध संवेग (emotion)
पलायन (escape)	भय (fear)
युयुत्सा (combat)	क्रोध (anger)
निवृत्ति (repulsion)	घृणा (disgust)
पुत्र-कामना (parental instinct)	वात्सल्य स्नेह (tender emotion, love ,
शरणागति (appeal)	करुणा (distress)
काम-प्रवृत्ति (sex)	कामुकता (lust)
कूतूहल, जिज्ञासा (curiosity)	आश्चर्य (wonder)
दैन्य (submission)	आत्म- हीनता (negative selffeeling)
आत्म-गौरव (self assertion)	आत्माभिमान (positive selffeeling)
सामूहिकता (gregariousness)	एकाकीपन (loneliness)
भोजनान्वेषण (food seeking)	भूख प्यास (appetite)
संग्रह-वृत्ति (acquisition)	अधिकार भावना (feeling of ownership)
विधायकता, रचना-वृत्ति (construction)	कृतिभाव, रचनाजात आनन्द (feeling of creativeness)
हास (laughter)	आमोद (amusement)

इन चौदह प्रमुख मूल-प्रवृत्तियों के अतिरिक्त उसने पाँच मुख्य वृत्तियों को और स्वीकार किया है। यद्यपि अन्य लोग उनकी गणना भी मूल-प्रवृत्तियों में ही करते हैं परन्तु मैकडूगल उन्हें सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ (innate general tendencies) कहता है। मैकडूगल ने मूल-प्रवृत्ति की जो परिभाषा दी है उसमें प्रत्येक मूल-

प्रवृत्ति से सम्बद्ध किसी विशिष्ट संवेग अथवा मनःक्षोभ (emotion) का होना आवश्यक माना गया है और सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों में कोई विशिष्ट संवेग नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त मूल-प्रवृत्तियों को वह एक विशेष प्रकार की वृत्ति मानता है, एक ही दिशा में प्रवृत्त करने वाला संस्कार मानता है, और सामान्य प्रवृत्तियाँ एक से अधिक मूल-प्रवृत्तियों के मूल में रह कर आचरण को प्रेरित किया करती हैं। वे सामान्य वृत्तियाँ ये हैं—

१ संकेत, निर्देश (suggestion)
२ सहानुभूति (sympathy)
३ अनुकरण (imitation)
४ खेल (play)
५ आदत डालने की प्रवृत्ति (tendency to form habits)

मैकडूगल की मूल-प्रवृत्ति की यह परिभाषा सर्व-सम्मत नहीं है। 'ड्रेवर' मूल-प्रवृत्ति-जन्य आचरण में संवेग (emotion) का होना आवश्यक नहीं मानता। उनका कथन है कि मूलप्रवृत्ति से प्रेरित क्रिया सामान्यतः बिना किसी तीव्र रागात्मक अनुभूति (affective experience) के चला करती है। उसमें संवेग (emotion) का प्रादुर्भाव तभी होता है जब क्रिया की पूर्ति में कोई अवरोध, कोई अड़-चन, आ जाती है। मूलप्रवृति सम्बन्धी क्रिया के चलते रहने के लिये उसकी उपयोगिता का अस्पष्ट, हल्का आभास मात्र ही काफ़ी है, किसी तीव्र मनःक्षोभ की उपस्थिति जरूरी नहीं है। हाँ, रुकावट आने पर मनः क्षोभ प्रकट हो जाता है 'रिवर' भी इन 'मत का समर्थन करता है। उनका कहना है कि ख़तरे के समय प्राणी की ज्ञान-क्रिया (cognitive activity) इतनी प्रबल रहती है कि रागात्मक (affective) पक्ष प्रायः दब सा जाता है। अतएव जब तक उस ज्ञान-क्रिया को बन्द कर देने में समर्थ कोई बहुत बड़ी बाधा न उपस्थित

हो जाय तब तक संवेग के लिए कोई गुंजाइश नहीं। प्राणी भागने में, रक्षा का उपाय ढूँढने में एवं प्राप्त साधनों के उपयोग में इतना तल्लीन रहता है कि संवेग उसके पास आ ही नहीं सकता। संवेग तभी आता है जब सब उपाय असफल हो जाते हैं, जब बुद्धि थक जाती है और रक्षा का कोई रास्ता नहीं सूझता। "रिबर" तथा "ड्रेवर" की आपत्ति ठीक हो सकती है पर इतना तो मानना ही होगा कि मूल-प्रवृत्ति की पूर्ति में सदा ही इतनी बाधायें रहती हैं, प्राणी को पद-पद पर इतने अवरोधों का सामना करना होता है कि संवेग का उसमें जुड़ जाना प्राय: निश्चित सा ही है। अत: सैद्धान्तिक दृष्टि से इस आपत्ति का भले ही कुछ महत्व हो, व्यवहार में तो मैकडूगल का सिद्धान्त गलत नहीं प्रतीत होता।

मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन—हम देख चुके हैं कि मूल-प्रवृत्तियाँ हमारे मन की प्राकृतिक शक्ति हैं। वे मन की सब से बड़ी प्रेरणा भी हैं। वे ही हमारी समस्त इच्छाओं के मूल में स्थित रहकर हमारे आचरण का स्वरूप निर्धारित किया करती हैं। मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति हमें सुख देती है, उनसे वंचित रह कर हम दुख की अनुभूति करते हैं। जिस प्रकार बरसाती नदी की बेगवती धारा अपने प्रवाह के अवरोधक किनारे को तोड़ती, पेड़ों को उखाड़ती, पत्थरों को अपने साथ बहाती आगे बढ़ती है ठीक उसी प्रकार मूल प्रवृत्तियाँ हमारे जीवन-प्रवाह को बरबस आगे बढ़ाती चलती हैं। हमारे विधि-निषेध में उनको रोक सकने की क्षमता नहीं। इसके अतिरिक्त वे प्रकृतिदत्त इच्छायें अथवा प्रेरणायें हमारे हित के लिए हमें मिली हैं। उन्हें मानकर चलने में ही हमारा कल्याण है, उनकी अवहेलना करने में हमारा मंगल नहीं। आधुनिक मनोविज्ञान का यही निष्कर्ष प्रतीत होता है।

तब क्या निम्न श्रेणी के पशुओं की ही भांति मनुष्य भी प्रकृति

का गुलाम है ? क्या इस प्राकृतिक जीवन से ऊपर उठने की, किसी आदर्श के अनुकूल आचरण करने की, उसकी इच्छा विडम्बना मात्र है ? और हाँ, पशु-जीवन का परित्याग कर श्रेष्ठ बनने की आकांक्षा भी क्या उसी प्रकृति से हमें नहीं मिली है ? परन्तु गम्भीर दार्शनिक विवेचन में पड़ने की हमें ज़रूरत नहीं। मूल-प्रवृत्तियों की प्रबल प्रेरक शक्ति को स्वीकार कर लेने से हमें इनकार नहीं है एवं मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन की सम्भावना मनोविज्ञान को भी मान्य है। वस्तुतः हमारी शिक्षा एवं संस्कृति इसी वांछित परिवर्तन का दूसरा नाम है। अतएव अवांछनीय मूलप्रवृत्तियों में वांछित परिवर्तन करने वाली विभिन्न पद्धतियों का संक्षिप्त परिचय दे देना ही यहां पर पर्याप्त होगा।

मनोवैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में ४ पद्धतियों का वर्णन किया है—दमन (repression), विलयन (inhibition), मार्गान्तरीकरण ((redirection) तथा शोध (sublimation)। इनमें से पहली दोनों को लोग प्रायः दमन (repression) ही कह दिया करते हैं और दूसरी दोनों शोध (sublimation) अथवा मार्गान्तरीकरण (redirection) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

दमन (repression)—अनेक मूल प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनकी पूर्ण तृप्ति हमारे लिए न तो हितकर ही है और न नीति की दृष्टि में उचित ही। संग्रह-वृत्ति (collection) को ही लीजिये। संग्रह करना हमारे लिए स्वाभाविक है। हमारा जीवन बिना इस वृत्ति के समुचित उपयोग के बहुत कष्टपूर्ण हो जाता है। खाना, कपड़ा इत्यादि आवश्यक वस्तुओं के उचित संग्रह के बिना जीवन चलेगा ही कैसे ? परन्तु इसी वृत्ति का प्राबल्य चोरी, डाका, मारकाट, कंजूसी आदि को जन्म देता है। न संग्रह-वृत्ति होती और न दूसरों को तथा अपने को भी वंचित करने के विविध प्रकारों का आविष्कार ही मनुष्य करता। कामवृत्ति भी जाति-रक्षा के लिये नितान्त

आवश्यक है परन्तु उसकी निर्बाध तृप्ति क्या हमारे समाज में सम्भव है ? इसी वृत्ति से प्रेरित नीति-बाह्य आचरण के फलस्वरूप कितनी अशांति कितना कलह, कितना मनोमालिन्य हम संसार में पाते हैं ? फलत: ऐसी अवांछनीय वृत्तियों के नियंत्रण करने के लिये अनेक नियमों की रचना की गई है। नैतिक निषेध, सामाजिक रुकावटें तथा कानूनी आज्ञायें हमें यह मत करो, वह मत करो आदि कह कर मना किया करती हैं। दण्ड से बचने के लिये उन सबको हम मान लेते हैं किन्तु उसका प्रभाव हमारे मन पर सदा अच्छा नहीं पड़ता। अपनी दुर्बलता तथा आज्ञा देने वाले की प्रबलता के कारण वाध्य होकर हम आज्ञा मानते तो हैं पर भीतर ही भीतर उस आज्ञा एवं आज्ञा देने वाले व्यक्ति का विरोध किये बिना भी नहीं रहते। हो सकता है कि बहुत बार दमन किये जाने पर किसी व्यक्ति में एक ऐसी भावना-ग्रन्थि (complex) बन जाय जो सभी नियंत्रण एवं अनुशासन की विरोधी हो। फल यह होगा कि वह व्यक्ति यथाशक्ति समस्त नियमों के अतिक्रमण करने का प्रयास करेगा। उसके अचेतन मानस में स्थित यह भावना-ग्रन्थि (complex) उसके आचरण को विकृत किया करती है। प्राय: वह स्वयं नहीं जाना करता कि उसके इस विरुद्ध आचरण का कारण क्या है। केवल एक जबर-दस्त प्रेरणा उसे मानों इस विशिष्ट आचरण की ओर ढकेलें लिये जा रही है। उदाहरण के लिये काम-वृत्ति को ही लीजिये। इसको समाज में बहुत बुरी दृष्टि से देखा जाता है। घर में मात-पिता एवं पाठशाला में अध्यापक इसकी खूब निन्दा करते हैं। वे लोग इस वृत्ति के प्रकाशन के विरोध में अनेक नियम बनाते हैं। ऐहिक दण्ड के अतिरिक्त परलोक में भी न मालूम किन विशेष नरकों की सृष्टि करके अपराधियों को, कदाचित् उन्हीं की कल्याण-कामना से, विविध भयों का शिकार बना देते हैं। दूसरी ओर प्रकृति की अतुल शक्ति, प्रबल वेग से, कामतृप्ति के लिये उन्हें आकर्षित करती है। दिखाया हुआ भय वासना को और

भी मोहक बना देता है। प्रतिबन्ध को न मानकर वे वासना की तृप्ति तो करते हैं किन्तु साथ ही एक अज्ञात भय से पीड़ित भी हो उठते हैं पाप की भावना उन्हें अपनी ही दृष्टि में गिरा देती है, वे अपने को हीन पापी तथा अयोग्य समझने लगते हैं और किसी भी उच्च आदर्श के पालन में अपने को अक्षम मान लेते हैं। इस प्रकार पाप-भावना (sense of sin) तथा हीनता-भावना (sense of inferiority) उनके वर्तमान को विषमय तथा भविष्य को नैराश्यपूर्ण बनाकर दमन के सदुद्देश्य को सफल नहीं होने देती। जब-जब आप बच्चे के दमन करने का प्रयास करते है तब-तब आप उसके विरोध को ही जगाते हैं; उसके आत्म गौरव (self assertion) की वृत्ति को उभाड़ कर निषिद्ध कर्म को यथा-सम्भव अधिक दृढ़ता के साथ करने को प्रोत्साहित करते हैं, और उनके मन में विविध भयों के द्वारा ऐसा क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं जो अनेक मानसिक रोगों का कारण बन जाता है। अत: दमन के द्वारा अवांछनीय मूल-प्रवृत्तियों को रोकना उचित नहीं।

विलयन (inhibition)—मूलप्रवृत्तियों के परिवर्तन का दूसरा उपाय विलयन (inhibition) है। जिस वृत्ति को दबाना है उस वृत्ति के उत्तेजक वातावरण को ही हम उत्पन्न नहीं होने देते और दैवात् वृत्ति के उभड़ जाने पर उसकी विरोधी वृत्ति को उत्तेजित कर देते हैं। इस पद्धति के अनुसार काम-वृत्ति से बचने के इच्छुक विद्यार्थी को शृंगार की वस्तुओं एवं स्त्रियों का साथ छोड़ देना चाहिये। लालची व्यक्ति यदि त्याग की भावना बराबर किया करे तो उसका लोभ कुछ कम हो सकता है। क्रोध से अभिभूत होने पर यदि हम शान्त विचारों में मन को लगा दें तो क्रोध का वेग बहुत कुछ कम हो जाता है। यह उपाय दमन से अच्छा है। इसके द्वारा यदि हम वृत्ति को दबाने में पूर्ण रूप से सफल नहीं भी होते तो कम से कम उसको और भी दृढ़ नहीं करते और भाँति-भाँति की भावना-ग्रन्थियों की सृष्टि करके

उसके जीवन को और भी अधिक अवांछनीय नहीं बना देते। परन्तु किसी वृत्ति से बचने के लिये परिस्थितियों से ही भागते फिरने में रक्षा नहीं है। इस प्रकार दबी हुई वृत्ति मौका पाकर उभड़ सकती है और, लोगों का ख्याल है कि, इस प्रकार उभड़ने पर उसका वेग असाधारण हो जाता है। अतएव मूलप्रवृत्तियों के रूपान्तरण का यह उपाय भी पूर्णरूप से सन्तोषकर नहीं होता है।

मार्गान्तरीकरण (redirection)—मूल-प्रवृत्तियों के रूपान्तरण का तीसरा उपाय मार्गान्तरीकरण है। इस उपाय में मूल प्रवृत्ति का न तो दमन ही किया जाता है और न उसे अप्रयुक्त पड़ा रखकर, उत्तेजित होने का मौका न देकर, क्षीण-शक्ति ही कर दिया जाता है। इसमें तो केवल उस वृत्ति के प्रकाशन का मार्ग बदल दिया जाता है। लड़कों में युयुत्सावृत्ति (instinct of combat) बहुत होती है। मार्गान्तरीकरण उसे अहितकर समझ कर दबाने का प्रयत्न नहीं करता। वह तो व्यक्ति को ऐसे काम में लगा देता है जिसमें इस वृत्ति से लाभ उठाया जा सके। युयुत्सावृत्ति का सुन्दर उपयोग देश के शत्रुओं से लोहा लेने में तथा अबोध, असहाय बालकों को छेड़ने वाले गुण्डों के शासन करने में हो सकता है। संग्रह-वृत्ति का मार्गान्तरीकरण उन पुस्तकों के संग्रह में हो सकता है जिनसे गाँव तथा मुहल्ले के अन्य लोग लाभ उठा सकें, उन विविध उपकरणों के संग्रह में हो सकता है जिनका उपयोग विवाह आदिक अवसरों पर जनता को सुविधा देने के लिये किया जाता है। मूलप्रवृत्ति के प्रकाशन में परिवर्तन नहीं हुआ, केवल प्रकाशन के बहुत से स्वरूपों में से किसी एक को चुन लिया गया। यह उपाय पहले दोनों उपायों से श्रेष्ठ है।

शोध (sublimation)—मूल-प्रवृत्ति के रूपान्तरण की चौथी विधि शोध है। इसमें मूल-प्रवृत्ति का प्रकाशन एक नवीन रूप में होता है, असंस्कृत, बर्बर प्रवृति को शुद्ध कर तत्सम्बन्धी आचरण को एक

नूतन रूप दे दिया जाता है। काम-प्रवृत्ति को परिष्कृत करके उसके मूल में कम करने वाली शक्ति का उपयोग काव्य-रचना में, चित्र-कला में अथवा मूर्ति-निर्माण में किया जाता है। संग्रह-वृत्ति का उपयोग ज्ञान-संग्रह में, सद्गुण-संग्रह में, यश एवं कीर्ति के संग्रह में किया जाता है। वृत्ति का रूप बदल गया, उसके मूल की प्रेरणाशक्ति का उपयोग हो गया तथा उस वृत्ति को तृप्ति भी मिल गई।

शिक्षा में शोध से बहुत अधिक काम लिया जा सकता है। विद्यार्थियों में आत्म-गौरव की मूलप्रवृत्ति (instinct of self-assertion) जो प्रायः झगड़ों की जड़ बनी रहती है, पारस्परिक मानापमान का कारण होती है, शोधित होकर उनमें आदर्श गुणों का संचार कर सकती है। ऐसी शिक्षा दी जाय कि बच्चे अपने को आदर्श व्यक्ति समझें और तत्सम्बन्धी गौरव की रक्षा में अपनी समस्त शक्ति लगा दें। ठाठ-बाठ, वस्त्र-भूषण, धन दौलत में दूसरों से श्रेष्ठ समझे जाने की अपेक्षा परोपकार, निश्छलता, आत्मत्याग जैसी उदात्त वृत्तियों के अर्जन में ही जीवन की सार्थकता समझें। उनकी युयुत्सा वृत्ति भौतिक न होकर आध्यात्मिक हो जाय, वे दूसरों को हराने के स्थान में अपने को हराने में लग जाँय, बराबर यह सोचें कि जो हम कल थे आज उससे बढ़कर होंगे, आज हमें उस कल के 'हम' को पराजित कर देना है। बच्चों की पलायन वृत्ति का शोध करके उन्हें अधर्म, पाप, अत्याचार से दूर भागने को प्रोत्साहित किया जाय तथा उनकी सामान्य जिज्ञासा-वृत्ति को वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक-जिज्ञासा में बदल दिया जाय।

मूल-प्रवृत्तियों पर आधारित कुछ शिक्षा-सिद्धान्त—आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान में, हम देख चुके हैं, मूलप्रवृत्तियों पर विशेष बल दिया जाता है। कहा जाता है कि हमें अपनी शिक्षा को मूल-प्रवृत्तियों पर ही आधारित करना चाहिये। इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों क

उद्भावना की गई है। उन सिद्धान्तों को स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

एक वर्ग उन मनोवैज्ञानिकों का है जो मूलवृत्तियों को शक्ति का केन्द्र तथा मानव-कल्याण के लिये ईश्वर अथवा प्रकृति का वरदान समझते हैं। उसका मत है कि हमें विद्यार्थियों की इच्छा, रुचि अथवा स्वभाव का ही अनुसरण करना चाहिये। इस सिद्धान्त को स्वभाव-शक्तिवाद (Dynamic Theory of Instincts) कह सकते हैं।

दूसरा वर्ग उन मनोवैज्ञनिकों का है जो मूलप्रवृत्तियों को आकस्मिक प्रकट होने वाली तथा क्षणस्थायी मानते हैं। उसका कहना है कि मूलप्रवृत्तियों का उदय एकाएक होता है और उदय के पश्चात् बहुत शीघ्र ही उनका अवसान भी हो जाता है। अतएव यदि हमें प्रकृति-दत्त शक्ति का उपयोग शिक्षा में करना है तो विशिष्ट मूलप्रवृत्ति के उदय-काल की प्रतीक्षा सजगता के साथ करनी चाहिये। यदि उसके उदय-काल को हमने अपनी असावधानी से खो दिया तो बड़ी हानि हो सकती है क्योंकि दुबारा वह वृत्ति जाग्रत नहीं होगी और उस मूलप्रवृत्ति से सम्बन्धित शिक्षा देने का अवसर हमें फिर कभी न मिलेगा। इस सिद्धान्त को हम 'क्षण-स्थायी-मूलप्रवृत्ति वाद' (Theory of Transitoriness of Instincts) कह सकते हैं।

तीसरा वर्ग उन मनोवैज्ञानिकों का है जो व्यक्ति के विकास का वही क्रम मानते हैं जो क्रम मनुष्य जाति के विकास का है। उनकी राय में हमें बालकों को किसी ज्ञान के देने का वही क्रम रखना चाहिये जिस क्रम से मानव जाति ने यह ज्ञान प्राप्त-किया है। इस सिद्धान्त को 'पुनरावृत्तिवाद, (Recapitulation Theory) कह सकते हैं। बच्चों की मूलप्रवृत्तियाँ, आखेट, युद्ध, आदि के लिये उनका असीम अनुराग, एक बीते युग की पुनरावृत्ति हैं। शिक्षकों को उनसे लाभ उठाना चाहिये।

स्वभाव शक्तिवाद (Dynamic Theory of Instincts)—इस सिद्धान्त में दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पहली कठिनाई तो यह है कि व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार ही शिक्षा देने की बात कहने में तो सीधी मालूम पड़ती है, कदाचित् उचित भी यही है, परन्तु इसको कार्यरूप कैसे दिया जाय ? यदि हमें बच्चों को जोड़ सिखाना हो तो उनमें उनके स्वभाव का कैसे उपयोग होगा ? मूल-प्रवृत्तियों की जो तालिका हम पहले दे चुके हैं उनमें से अधिकांश तो कक्षा के कार्य से बिलकुल असम्बद्ध प्रतीत होती हैं। भय दिखाकर कुछ काम जरूर चल सकता है किन्तु उसके प्रयोग में, जैसा हम देख चुके हैं, काफ़ी ख़तरा है। युयुत्सा प्रवृत्ति (Instinct of Combat) से भी कुछ काम लिया जा सकता है, परन्तु अधिक नहीं। सिद्धान्त को मूर्त रूप देना, उनका "कैसे" निश्चित करना, सरल नहीं है। उसी के निर्धारण में वास्तविक कठिनाई उपस्थिति होगी। सिद्धान्त ठीक हो सकता है, कदाचित् है भी, किन्तु उसका उपयोग बहुत मुश्किल है।

दूसरी कठिनाई सैद्धान्तिक है। यह सिद्धान्त मूल प्रवृत्तियों को मनुष्य की मंगल कारिणी मानता है, जैसे मनुष्य का हित जिसमें हैं उसको ठीक-ठीक समझ कर ही ये प्रवृत्तियाँ उसे प्रेरित करेंगी। परन्तु यह तो ठीक नहीं प्रतीत होता। हमें बराबर ऐसी परिस्थितियों का सामना करना होता है जब मूल-प्रवृत्तियों को दबाना ही व्यक्ति अथवा समाज के हित में अधिक युक्ति-संगत मालूम पड़ता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि मूल-प्रवृत्तियों की प्रेरणा से जो अवांछनीय आचरण बालक करता है वह भी उचित ही है। उसको रोक देने में कल्याण नहीं। इस अवांछनीय आचरण का प्रभाव रेचक (oathartic) होता है—आचरण के द्वारा भीतर का मल निकल जाता है, बालक का मन शुद्ध हो जाता है, भविष्य में उस प्रकार की दुर्वृत्ति के बढ़ने की सम्भावना नहीं रहती। मन के भीतर दबे रहने

से, शरीर के भीतर पड़े विष की तरह, परवर्ती जीवन में उस मल के उग्र रूप धारण की आशंका बनी रहती है। किन्तु क्या यह विचार ठीक है, निभ्रान्त है ? देखने में तो ऐसा नहीं आता। किसी कार्य को करने से उसका संस्कार दृढ़ ही होता जाता है, वह स्वभाव बनता जाता है तथा भविष्य में उसके प्रबल होने की सम्भावना बढ़ ही जाती है, घटती नहीं। पहली बार चोरी करना जितना कठिन है, दूसरी बार उतना नहीं रहता तथा अनेक बार चोरी कर चुकने के बाद सम्भवतः चोरी करने की वृत्ति को दबाना ही कठिन हो जाता है क्योंकि इस आचरण की आदत पड़ चुकती है। अतएव इस सिद्धान्त को मान कर चलने में बहुत सतर्कता एवं विचार की आवश्यकता है।

२. क्षणस्थायी मूल-प्रवृत्ति-वाद—(Transitoriness of Instincts)—इस मत का सब से ज़बर्दस्त समर्थक जेम्स है। वह लिखता है—"अनेक मूलप्रवृत्तियाँ ख़ास उम्र में विकसित होती हैं और फिर लुप्त हो जाती हैं। परिणाम यह होता है कि यदि मूलप्रवृत्ति के उदय के समय उसको उत्तेजित करने के लिए उपयुक्त वस्तुयें मिल जाती हैं, तो उन पर आचरण करने की आदत पड़ जाती हैं किन्तु यह मूल-प्रवृत्ति जब लुप्त हो जाती है तो आदत बच रहती है। यदि उचित वस्तुयें नहीं मिलतीं तो कोई आदत नहीं बन पाती तथा बाद के जीवन में जब प्राणी उन वस्तुओं का सामना करता है तो वैसी प्रतिक्रिया करने में वह सर्वथा असमर्थ होता है, जैसे कि पूर्व परिस्थिति में वह स्वभावतः करता।" इसकी पुष्टि में वह कहता है—"बच्चे का जीवन खेल, परियों की कहानी तथा वस्तुओं के वाह्य गुणों का ज्ञान प्राप्त करने तक ही सीमित होता है। युवक के लिए अधिक नियमित शारीरिक व्यायाम, वास्तविक जगत के उपन्यास, प्रगाढ़ मैत्री, संगीत, प्रेम, प्रकृति यात्रा, विज्ञान तथा दर्शन का विस्तृत क्षेत्र जीवन बन जाता है; प्रौढ़ होने पर महत्वाकांक्षा

नीति, संग्रह, उत्तरदायित्व, तथा जीवन-समर के लिए स्वार्थपूर्ण उत्साह जीवन का पर्याय हो जाता है। " इसके अनन्तर वह लिखता है कि शिक्षक को मूलप्रवृत्तियों के उदय काल से लाभ उठाना चाहिये, जिससे आदतें पड़ जाँय, नहीं तो अवसर के निकल जाने पर केवल पछताना हाथ में रहेगा। कमान से छूटे तीर की तरह, हज़ार इच्छा करने पर भी, उसे वापस नहीं बुलाया जा सकता।

जेम्स के इस सिद्धान्त को मैकडूगल बिलकुल निराधार बताता ह। वह कहता है कि कुछ पालतू जानवर प्रौढ़ावस्था में भी प्रथम बार शेर की गन्ध पाकर भयातुर हो उठते हैं, एक चिड़ियाखाने में पाली गई बतख़ें, जिनके पर बराबर कटे रखे गये थे, पानी को देख कर उसमें कूदने की उत्कण्ठा प्रगट करती देखी गई थीं; और कुछ जानवर, जिनकी कामवृत्ति के उत्तेजित अथवा तृप्त होने का अवसर कभी नहीं आया, अपनी उस वृत्ति को बनाये रखते पाये गये हैं। अतएव जिस रूप में इस सिद्धान्त को जेम्स ने रक्खा है वह अक्षरशः सत्य नहीं है। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मूल-प्रवृत्तियों के प्रबल वेग का एक समय अवश्य होता है। जितनी तीव्रता उन वृत्तियों में उस समय रहती है। उतनी सदा नहीं रहती। अतः उनका पूर्ण लाभ उठाने के लिए हमें उसी समय प्रयत्न करना चाहिये। अभ्यास का नियम भी ठीक ही है। एक बार आदत पड़ जाने के बाद, जैसा जेम्स कहता है, वृत्तियों में तीव्रता न रहने पर भी स्वभाववशतः क्रिया होती रहेगी।

पुनरावृत्तिवाद (Recapitulation Theory)—इस सिद्धान्त का प्रचार प्राणिशास्त्रियों (biologists) ने प्राणी की आरम्भिक अवस्था के विकास को समझाने के लिए किया था। उनका कहना है कि प्रत्येक प्राणी इस जीवन में उन सभी अवस्थाओं में होकर गुज़रता है जिनमें होकर वह अपने वर्तमान जन्म तक

पहुँचा है। गर्भस्थित शिशु जिन विभिन्न रूपों में होकर गुजरता है वे वास्तव में उन जीवों के रूप है जिनमें होकर, विकास करके, मनुष्य मनुष्य हुआ है, मानो संक्षेप में, मनुष्य होने से पहले वह अपने विकास के सम्पूर्ण इतिहास की पुनरावृत्ति एक बार कर लेना चाहता है। जन्म होने के पूर्व, गर्भ में मानवेतर अवस्थाओं की पुनरावृत्ति समाप्त हो जाती है तथा मनुष्य-जीवन की, बर्बरता से आरम्भ करके सभ्यता के पूर्ण विकास की अवस्था तक की, सभी अवस्थाओं की पुनरावृत्ति वह बाल्य-काल में करता है। उसके जीवन में एक युग आता है जब वह जंगली मनुष्य की अवस्था की पुनरावृत्ति कर रहा होता है तब अर्धसभ्य और अन्त-में सभ्य बनता है। प्रत्येक युग में एक विशिष्ट अवस्था के पुरुषों की वृत्तियाँ ही उसमें प्रबल रहती हैं। अतएव उन प्रबल वृत्तियों से सम्बन्धित बातों को, उस विशिष्ट आयु में, वह अत्यधिक सफलता तथा सरलता के साथ सीख सकता है। इसी के आधार पर स्टैनले हाल ने 'संस्कृति-युग-सिद्धान्त' (culture-epoch-theroy) का प्रचार किया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार पाठक्रम बनाने में पहले वह विषय पढ़ाने का विधान किया जाता है जो सभ्यता के विकास में पहले आया हो। साहित्य में पहले कहानियाँ, फिर वीर काव्य, तब गम्भीर विवेचन को स्थान दिया जाता है। इतिहास के पढ़ाने में तर्क तथा कारण-परम्परा को बाद में लेते हैं; पहली अवस्था में युद्ध तथा उत्तेजक वर्णनों को प्राधान्य दिया जाता है। विज्ञान-शिक्षा में ह्यूरिस्टिक पद्धति (Heuristic Method) इसी विचार-परम्परा का एक रूप है। इस मत के अनुसार बालकों को किसी सिद्धान्त का ज्ञान देने के लिये उन्हें उस समस्त प्रक्रिया में होकर ले जाने का प्रयास किया जाता है जिसमें होकर मनुष्य जाति ने उस सिद्धान्त को सबसे पहले खोज निकाला था।

प्राणिशास्त्र (Biology) के इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता विवाद-ग्रस्त है। एक संदिग्ध सिद्धान्त को आधार मानकर इस सिद्धान्त का प्रचार किया गया है। यदि कहीं-कहीं तथा कभी-कभी यह उपयोगी सिद्ध होता है तो उसका कारण सिद्धान्त की सत्यता नहीं, कुछ और है जिसका अनुसंधान हमें करना चाहिये। पुनरावृत्ति यदि कभी होती भी है तो जन्म लेने के पहले ही वह समाप्त भी हो चुकती है। जन्म के बाद मानवजाति के विकास की पुनरावृत्ति का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ऐसे अनेक बच्चे हुये हैं जिन्हें आखेट में कभी रुचि नहीं रही। विद्वान बनकर पहले पहल आखेट के लिये सर्वस्व न्यौछावर करने वाले प्रौढ़ों का कभी अभाव नहीं रहा। डैनियल स्टार्च ने अपने शिक्षा-मनोविज्ञान में एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दिया है जिसने बाल्य-काल में मछली के शिकार का नाम भी नहीं सुना था और जो तीस वर्ष की आयु में वातावरण के प्रभाव से इसे सीख गया। बाद में उसका सारा समय इसी में बीतने लगा। इसके अलावा मानवजाति ने जिस प्रकार आरम्भ में किसी बात को सीखा था उसे ही, 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' के नियम से, सिखाना हमेशा ठीक भी नहीं होगा। 'फाक्स' ने इसके विरोध में दो हेतु दिये हैं। एक यह कि व्यक्तिगत विशेषता के कारण विद्यार्थी को एक विशिष्ट पद्धति नापसन्द हो सकती है। और दूसरे यह कि जाति ने अपने विकास में अनेक बार भयानक भूलें की हैं और उन भूलों को दुहराते रहने में पाण्डित्य नहीं।

सारांश—मैकडूगल ने लिखा है—"मूलप्रवृत्ति वह जन्मजात प्रवृत्ति है जिसके कारण प्राणी किसी विशेष प्रकार के पदार्थ की ओर ध्यान देता है और उसकी उपस्थिति में विशेष प्रकार के संवेग की अनुभूति करता है एवं उस पदार्थ के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार का आचरण करता है।" जिन जन्मजात प्रवृत्तियों के साथ किसी विशेष

संवेग का सम्बन्ध नहीं रहता है मैकडूगल उन्हें सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ कहता है।

इन प्रवृत्तियों में बहुत बड़ी प्रेरणा रहती है। प्राणिमात्र उसी प्रेरणा से कर्म से प्रवृत्त होता है। अतएव यदि हम अपने शिक्षणीय विषय को बालकों की मूलप्रवृत्ति से उत्पन्न किसी वासना को पूरा करने वाला बना सकें तो बालक अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे सीख लेगा।

मूलप्रवृत्तियों में कुछ विशेषतायें पाई जाती हैं। (१) वे जन्मजात होती हैं; (२) सप्रयोजन अथवा सोद्देश्य होती हैं; (३) उनमें अनुभव से लाभ उठाकर संस्कार ग्रहण करने की शक्ति होती है; (४) वे जाति के सब व्यक्तियों में पाई जाती हैं; (५) उनमें व्यक्ति को आरम्भिक कुशलता देने की क्षमता होती है; (६) एवं उनमें चेतना सदा किसी न किसी अंश में रहती है।

मूलप्रवृत्ति तथा सहज क्रिया में अन्तर होता है। सहज क्रिया प्रेरक कारण से पहले आरम्भ नहीं होती एवं प्रेरक के अभाव में बन्द हो जाती है। मूलप्रवृत्ति प्रेरणा मिलने के लिये पहले से तैयार रहती है, प्रेरक कारण न रहने पर भी, उद्देश्य पूरा न होने तक जारी रहती है। सहज क्रिया अपरिवर्तन-शील तथा अचेतन होती है, मूल-प्रवृत्ति परिवर्तनशील तथा सचेतन।

मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन कई तरह से किया जा सकता है। दमन, विलयन, मार्गान्तरीकरण तथा शोध के द्वारा अवांछनीय मूल-प्रवृतियों को व्यक्ति एवं समाज के लिये हितकर बनाया जा सकता है। किसी प्रवृत्ति को बलपूर्वक दवा देना दमन कहलाता है एवं प्रवृत्ति को उत्तेजित करने वाली परिस्थित से बचना विलयन है। दमन की हुई प्रवृत्ति भावना-ग्रन्थियों (complexes) की सृष्टि कर सकती है और विलयन के द्वारा अवरुद्ध वृत्ति का अवसर पाकर वेग के साथ प्रकाशन हो सकता है। अत: ये हानिकारक एवं निम्न स्तर के तरीके

हैं। मार्गान्तरीकरण में मूलवृत्ति के प्रकाशन का मार्ग बदल दिया जाता है, प्रवृत्ति जहाँ वह उपयोगी हो लगा देते हैं। प्रकाशन का रूप वही है, अवसर भिन्न। यह विधि अच्छी है। किन्तु इससे भी अच्छा ढँग शोध का है। मूलप्रवृत्ति का शोध उसका आमूल परिवर्तन है। काम प्रवृत्ति का शोध काव्य-प्रेम, खेल, तथा कला आदि के द्वारा होता है। इसके द्वारा निरुद्ध वृत्ति का रेचन भी हो जाता है और कुछ उपयोगी काम भी पूरा हो जाता है। मार्गान्तरीकरण तथा शोध के द्वारा अनेक अवांछनीय मूलप्रवृत्तियों का वांछनीय उपयोग शिक्षक कर सकता है।

मूलप्रवृत्तियों को आधार बनाकर कुछ शिक्षासिद्धान्तों को प्रचारित किया गया है। एक सम्प्रदाय स्वभावशक्ति वाद कहलाता है। इसके अनुसार बालकों के स्वभाव के अनुकूल ही उन्हें शिक्षा देने की व्यवस्था पर जोर दिया जाता है। दूसरा सम्प्रदाय क्षणस्थायी मूलप्रवृत्तिवाद है इस मत से मूलप्रवृत्तियों का उदय आकस्मिक होता है और बहुत थोड़े समय तक रहने के बाद उनका अस्त हो जाता है। अतएव उनसे लाभ उठाने के लिये हमें सजग रहना चाहिये जिससे मूलप्रवृत्ति की प्रबलता के समय हम कुछ ऐसी आदतें डाल सकें जिनका अस्तित्व मूलप्रवृत्ति के चले जाने के बाद भी शेष रहे। तीसरा सम्प्रदाय पुनरावृत्तिवाद है। इस मत के अनुसार प्रौढ़ होने से पहले बच्चा मानव जाति के इतिहास की पुनरावृत्ति कर लेना चाहता है। वह कभी शाखा पर रहने वाले, कभी गुफा में रहने वाले और कभी शिकार पर जीवन बिताने वाले लोगों का अभिनय करता है। बच्चों का अध्ययन करके जब जिस अवस्था का अभिनय चल रहा हो, उसी के उपयुक्त पाठ्यक्रम बनाने से बहुत सुविधा हो सकती है। ह्यूरिस्टिक विधि, बालचर विधि आदि पर इसी दृष्टिकोण से विशेष जोर दिया जाता है। इन सब सिद्धान्तों में आंशिक सत्य है। इनका बहुत

कुछ उपयोग शिक्षा में हो सकता है परन्तु हठधर्मी करके किसी एक ही सिद्धान्त के पीछे पड़ जाना विशेष बुद्धिमानी का परिचायक नहीं है।

प्रश्न

(१) स्कूल के सामान्य कार्यों में जिन मूल-प्रवृतियों (instincts) का प्रकाशन होता है उनमें मुख्य कौन हैं ? उनमें से कोई एक लेकर यह दिखलाइये कि शिक्षक उसको किस प्रकार शिक्षण में उपयोगी बना सकता है।

(२) मूल-प्रवृत्ति की परिभाषा लिखिये। मैकडूगल तथा ड्रेवर के मत-भेद का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(३) निम्नांकितों में किसी एक पर पूर्ण प्रकाश डालिये—

(अ) "यथा-सम्भव शिक्षक को बुरी आदत छुड़ाने में निषेधात्मक आज्ञाओं को बचाना चाहिये। प्रत्येक निषेध रोके काम को करने में प्रलोभन बन जाता है।"

(इ) "मूलप्रवृत्तियों का दमन नहीं करना चाहिये प्रत्युत उनका शोध कर देना चाहिये।"

(४) मूल-प्रवृत्तियों के शोध (sublimation) का क्या अर्थ है ? अपने विद्यार्थियों की मूलप्रवृत्तियों के शोध में आप क्या सहायता देंगे दो उदाहरण दीजिये।

(५) मूलप्रवृत्तियों के शोध से क्या समझते हैं ? शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण किसी एक मूलप्रवृत्ति को लेकर उन विधियों पर विचार कीजिये जिन्हें उसके शोध में आप प्रयोग करेंगे।

(६) क्षणस्थायी मूलप्रवृत्तिवाद (Transitoriness of Instincts) का सिद्धान्त लिखिये तथा स्पष्ट कीजिये कि उसका शिक्षण में किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है।

कुछ-मूल प्रवृत्तियाँ
तथा
सामान्य स्वाभाविक वृत्तियाँ

(Instincts and Innate General Tendencies)

मूल प्रवृत्तियाँ:—पिछले अध्याय में हम मूल प्रवृत्तियों के स्वरूप का सामान्य वर्णन कर चुके हैं। वहाँ हमने यह भी बताया था कि मूल-प्रवृत्तियों में रूपान्तरण भी हो सकता है और वांछित दिशा में रूपान्तरण कर लेना ही प्राय: शिक्षा का मुख्य कार्य होता है। अब हम कुछ मूल-प्रवृत्तियों का अधिक विस्तार के साथ विवेचन करेंगे।

१. पलायन (Escape)—जिस वस्तु अथवा स्थिति से हमें खतरा होता है, किसी प्रकार की हानि की आशंका होती है, हम उससे दूर हो जाना चाहते हैं। इस बच निकलने को, भागने को, पलायन कहते हैं। पलायन मूल-वृत्ति है; 'भय' (fear) इस मूल-प्रवृत्ति से सम्बद्ध संवेग है। पलायनवृत्ति को जाग्रत करने में तथा 'भय' के उत्पादन में अनेक कारण हो सकते हैं। कोई भी अनहोनी घटना भय का कारण बन सकती है। जिस कुरसी पर बैठ कर मैं लिख रहा हूँ वह यदि एकाएक खिसकने लग जाय तो मैं डर जाऊँगा। पालने पर लेटा तीन महीने का बच्चा यदि उठ कर खड़ा हो जाय अथवा बोलने लग जाय तो बड़े से बड़े साहसी पुरुष भी डर से काँप उठेगा। कुरसी का खिसकना अथवा बच्चे की अवाज़ कोई डरने की चीज़ें नहीं हैं, केवल परिस्थिति की अपूर्वता, घटना की असम्भवनीयता, भय को उत्पन्न कर देती है। जंगली आदमी चन्द्रग्रहण को देख कर

भयभीत हो जाता है। विज्ञान-परम्परा से अनभिज्ञ उस आदमी के लिए यह असम्भव सी प्रतीत होने वाली घटना विशेष महत्व रखती है। जगत् में अनेक विचित्रताओं को देख कर, प्रकृति के अज्ञेय रहस्यों के सम्मुख, नतमस्तक हो जाता है। धार्मिक चेतना का एक प्रमुख कारण विश्व-वैचित्र्य ही है। हम आकस्मिक तथा गम्भीर शब्द से भी डरते हैं। बिजली की कड़क तथा बादल की गरज हमें कमरे के भीतर भाग कर जा छिपने की प्रवृत्ति देती है।

'भय' पाकर हम पलायन करते हैं, भागते हैं, और भाग कर छिपने का उद्योग करते हैं। भय में बहुत बड़ी प्रेरणा होती है। इसके कारण पलायन करने वाला पुरुष कभी-कभी उस शक्ति का परिचय देता है जो साधारणत: उसमें नहीं होती। मैकडूगल ने एक बहुत प्रसिद्ध दौड़ने वाले व्यक्ति के विषय में लिखा है कि जब वह बालक था तो एक बार उसका पीछा किसी वन्य-पशु ने किया। वह भागा और मार्ग में पड़ने वाली एक काफी ऊँची दीवाल को कूद गया। उसके बाद जब तक वह पूर्ण वयस्क होकर कूदने की कला में पारंगत नहीं हो गया तब तक दोबारा उस दीवाल को पार नहीं कर सका।

भय भागने तथा छिपने की प्रवृत्ति देता है। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल रहती है कि जब तक व्यक्ति भय के कारण से पलायन करके, दूर जाकर, सुरक्षित स्थान में नहीं पहुँच जाता मस्तिष्क और किसी काम में लग ही नहीं सकता। अत्यधिक भय में हृदय की गति तक बन्द होते देखी गई है।

शिक्षा में हम भय का शुद्ध, सीधे, रूप में उपयोग नहीं कर सकते। अभी कुछ दिन पहले तक अनेक शिक्षा-शास्त्रियों का विश्वास था कि डंडे का प्रयोग न करना एवं बालक को बरबाद करना एक ही अर्थ के दो शब्द हैं। परन्तु अब धीरे-धीरे यह दुर्बुद्धि कम हो रही है। लोगों की समझ में आ गया है कि भय से क्षुब्ध मन ज्ञान को

ग्रहण करने के अयोग्य हो जाता है। भय पाकर बालक 'शिक्षक' एवं 'विषय' दोनों से ही पलायन करता है, जी चुराता है, और इसके फलस्वरूप जो अवांछनीय भावना-ग्रन्थियाँ (emotional complexes) बन जाती हैं तथा अनेक प्रकार के जिन मानसिक उपद्रवों को जन्म देती हैं उनकी बात यदि हम छोड़ दें तो भी इतना तो निश्चित ही है कि विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर सकने की समस्त क्षमता खो बैठता है, जिस उद्देश्य से दण्ड दिया जाता है परिणाम ठीक उसके विपरीत होता है। हाँ, यदि भय को प्रयुक्त करना ही हो तो उसका शोध कर लेना चाहिये। बालक शिक्षक के डण्डे से नहीं, उसकी प्रतिकूल सम्मति से ही डरने लगे तो लाभ हो सकता है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी को दुराचार, दुष्टता, क्रूरता आदि से पलायन करने का अभ्यास भी कराया जा सकता है।

(२) युयुत्सा (combat)—जब प्राणी की इच्छा, रुचि अथवा किसी मूलप्रवृत्ति की पूर्ति में बाधा आ जाती है तो उस बाधा अथवा अवरोध को दूर करने में वह लग जाता है। अड़चन जब तक मिट नहीं जाती प्राणी शांत होकर नहीं बैठता। इस कठिनाई, शत्रु अथवा अवरोध से लड़ने की वृत्ति का नाम 'युयुत्सा' (combat) है और इसके सम्बद्ध संवेग (emotion) को 'क्रोध' (anger) कहते हैं। शत्रु पर आक्रमण करना इसका अविकसित रूप है। एक बच्चे का खिलौना छीन लेने से वह लड़ने को तैयार हो जाता है, मारता है, काटता है एवं यथा शक्ति शत्रु को पराजित करने में पूरी शक्ति लगा देता है। एक कुत्ते की हड्डी जब दूसरा कुत्ता छीन लेता है तो एक अच्छा खासा युद्ध ही आरम्भ हो जाता है। जब हम पढ़ने में संलग्न रहना चाहते हैं तब विघ्न डालने वाले परम प्रिय बच्चों को भी मार बैठते हैं।

लड़ने की आदत बुरी मानी जाती है, दर असल अपने अविकसित

बर्बर, रूप में वह अच्छी है भी नहीं। आवेश आने पर बुद्धि ठीक-ठीक काम नहीं कर पाती। देखा गया है कि बड़े शान्त, गम्भीर पंडित भी क्रोध के वेग में जंगली बन जाते हैं। अतएव अध्यापक तथा माता-पिता बच्चों की इस प्रवृत्ति का दमन किया करते हैं। वह अनुचित है। हम देख चुके हैं कि दमन का फल प्रायः उलटा होता है। किन्तु इस वृत्ति के दमन से सबसे बड़ी हानि यह है कि शिक्षा-सहायक एक महान् प्रेरक शक्ति को हम खो बैठते हैं। कठिनाइयों पर विजय पाने की इच्छा इसी मूलप्रवृत्ति का एक रूप है। अतएव दमन न करके हमें उसका मार्गान्तरीकरण अथवा शोध कर देना चाहिये जिससे बच्चा साथियों से लड़ना बन्द करके व्याकरण की गुत्थियों अथवा गणित तथा विज्ञान के कठिन रहस्यों से भिड़ने लगे। वह देश की वर्तमान परिस्थिति में निरक्षरता से लोहा ले। तुलसीदास का धर्म-विरोधियों पर, महात्मा गांधी का हिंसकों पर, एवं समस्त भारतीय नेताओं का, थोड़े दिन पहले तक, हमें दलित करने वाले अँगरेजों पर क्रोध इसी वृत्ति का परिणाम था। इसका शोध होने पर मनुष्य अपनी नीच वृत्तियों पर विजय पाने को उत्सुक हो उठता है। वह दूसरों से नहीं, अपने से लड़ता है; दूसरों पर नहीं, अपने पर क्रोध करता है। अतएव इस वृत्ति का दमन उचित नहीं। संघर्ष से जी चुराने वाला बालक निरा बुद्धू होता है; वह न स्वार्थ साधन ही कर सकता है और न दूसरों का उपकार ही।

(३) जिज्ञासा (curiosity)—जो अपरिचित है, अज्ञात है, उसके जानने की इच्छा को जिज्ञासा (curiosity) कहते हैं। मानव-मनोविकास का प्रधान कारण, मनुष्य के ज्ञानवर्द्धन की प्रबलतम प्रेरणा, यही जिज्ञासा है। बहुत छोटा बच्चा जब अपने खिलौने को तोड़ कर फेंक देता है तो उसकी विनाश-वृत्ति के पीछे जिज्ञासा की ही प्रेरणा रहती है। वह खिलौने के सम्बन्ध में

अधिक जानना चाहता है, उसके भीतर क्या है इससे अभिज्ञ होना चाहता है। कोई प्रौढ़ जब हिमालय की चोटी की ऊँचाई नापना चाहता है अथवा उत्तरी ध्रुव की भौगोलिक स्थिति का प्रत्यक्ष करना चाहता है तो इसी वृत्ति की प्रेरणा से। कथा सुनकर जब बच्चा पूछता है "फिर क्या हुआ ?" अथवा जीवन की क्षण-भङ्गुरता को देखकर जब कोई दार्शनिक जन्म-मृत्यु की समस्या का समाधान करने को आतुर हो उठता है तो वे दोनों ही जिज्ञासा वृत्ति से प्रभावित रहते हैं। आश्चर्य (wonder) इसका सम्बद्ध संवेग है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक जाति के व्यक्तियों में, जिज्ञासा प्रबल रूप में पाई जाती है। इस मूल-प्रवृत्ति के अभाव में हमारी संस्कृति का क्या रूप होता इसका तो पता नहीं, किन्तु यह निश्चित है कि ज्ञान विज्ञान की इतनी उन्नित अवश्य ही न हुई होती।

आरम्भ में बालक की जिज्ञासा क्षणिक एवं ऊपरी होती है। किसी वस्तु को थोड़ा जानकर वह छोड़ देता है। फिर दूसरी वस्तु की ओर बढ़ता है। एक ही विषय पर ध्यान को जमा देने की, उसके विषय में सब कुछ जान लेने की, जिज्ञासा का विकास बाद में, अभ्यास से, होता है। अतएव इस उम्र के बालकों को शिक्षा देते समय अनेक वस्तुओं का सामान्य ज्ञान ही देना चाहिये। इस समय बालक अनेक प्रश्न करता है। बार-बार अध्यापक अथवा माता पिता उसको डाँट कर चुप कर देते हैं। उससे कहते हैं कि "व्यर्थ के प्रश्न मत करो, जाकर अपना काम करो।" यह ठीक नहीं। इससे जिज्ञासा-वृत्ति का दमन होता है। अपने प्रश्नों को बार-बार व्यर्थ जानकर बच्चा धीरे-धीरे यही विश्वास करने लगता है कि कुतूहल अथवा जिज्ञासा एक दुर्गुण है और उससे बचना कदाचित् वांछनीय। वांछनीय आचरण के सत्प्रयास में बेचारे बालक का बौद्धिक विकाश रुक जाता है।

यह सच है कि प्राय: बच्चों के प्रश्न व्यर्थ होते हैं। कभी-कभी ऐसे

प्रश्न भी वे कर बैठते हैं जिनका उत्तर देना न ठीक ही होता है और न सम्भव ही, क्योंकि उनकी बुद्धि इतनी परिपक्व नहीं होती कि वे उसे उचित रूप में ग्रहण कर सकें। ऐसी दशा में भी हमें जिज्ञासा का दमन नहीं करना चाहिए। यथासम्भव प्रकृत प्रश्न का उत्तर देना चाहिए तथा ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिज्ञासा-वृत्ति का मार्गान्तरीकरण हो जाय। यदि बालक उपयुक्त विषयों की जिज्ञासा करने लगेंगे तो व्यर्थ के प्रश्नों का अवसर ही नहीं आवेगा।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है इसी जिज्ञासा का उपयोग दर्शन अथवा विज्ञान के गहनतम प्रश्नों के हल करने में होता है। जब तक कोई समाज जनसाधारण की जिज्ञासा का दमन किये रहता है, तब तक ज्ञान की उन्नति, विज्ञान का प्रसार, नहीं होता। हमें विद्यार्थियों के कुतूहल को जाग्रत करना चाहिये, और इस प्रकार उनमें निहित इस शक्ति का उनकी शिक्षा में उपयोग करना चाहिये। किसी विषय के सम्बन्ध में यदि एक बार उनकी जिज्ञासा जाग्रत हो गई है तो समझना चाहिये कि हमारे उद्देश्य का आधा भाग सफल हो गया। प्रबल प्रवृत्ति की प्रेरणा से ही बालक उसका ज्ञान प्राप्त कर लेगा। आधुनिक शिक्षा-पद्धितियों में बालकों के कुतूहल को जगाने का विशेष महत्व समझा जाता है। इस सम्बन्ध में हमें एक बात का और ध्यान रखना होगा। जिज्ञासा किसी एकान्त अपरिचित, सर्वथा नवीन, विषय के प्रति नहीं होती। उससे तो, जैसा 'पलायन के वर्णन में हम पढ़ चुके हैं, हमें 'भय' होता है, हम उससे बचना चाहते हैं जिज्ञास्य पदार्थ कुछ परिचित, किसी प्रकार वांछनीय अथवा रुचिकर भी होना चाहिए जिससे उस पर हमारा ध्यान जम सके। ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान अथवा परिचित के द्वारा अपरिचित का ज्ञान देने की जो विशिष्ट प्रथा हर्बार्ट ने चलाई है और जिसका आजकल शिक्षा जगत् में बहुत मान है, इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है।

४. संग्रह वृत्ति (instinct of collection)—संग्रह करने की वृत्ति भी प्रायः सभी मनुष्यों में पाई जाती है। प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी प्रकार की वस्तुओं को इकट्ठा करने का शौक होता ही है। कोई रुपया इकट्ठा करता है, कोई तसवीरें इकट्ठा करता है, किसी को कुरसी मेज आदि तथा किसी को विविध प्रकार की पोशाकें ही इकट्ठा करने का शौक होता है। हमें एक ऐसे सम्भ्रान्त सज्जन का पता है जिन्हें जूतों के रखने का बेहद शौक था। जब वे हमारे साथ पढ़ा करते थे तो एक साथ ६ जोड़ी से कम जूते उनके पास कभी-नहीं रहे। छोटे बच्चों में भी यह वृत्ति खूब पाई जाती है। प्रत्येक बच्चे के पास एक छोटा-पूरा संग्रहालय होता है। कंकड़, डंडे, गोली, कागज़ के टुकड़े और न जाने किन-किन 'अमूल्य' पदार्थों से वह अपने भंडार को भरा करता है। यह नितान्त स्वाभाविक है। इससे उसके मन की एक प्रधान वृत्ति को तृप्ति मिलती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, इस प्रवृत्ति का उग्र रूप चोरी, मारकाट, कंजूसी आदि अनेक दुराचरणों की सृष्टि करता है। अतएव इस मूलप्रवृत्ति का नियंत्रण होना चाहिये। किन्तु यह कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं है जिससे घबराने की ज़रूरत हो। शिक्षा में इससे बहुत सहायता मिल सकती है। इतिहास सम्बन्धी अनेक चित्र तथा मुद्रायें इकट्ठी करके ज्ञान में वृद्धि की जा सकती है। राष्ट्रीय नेताओं का एक सुन्दर चित्र-संग्रह, अलबम, बनाकर राजनीति में रुचि उत्पन्न की जा सकती है। अनेक बालक देश के मान्य नेताओं के हस्ताक्षर भी एकत्रित किया करते हैं। भिन्न-भिन्न देशों के टिकट इकट्ठे करके भूगोल के, तथा भाँति भाँति की पत्तियाँ, जड़ें फूल इकट्ठे करके प्रकृति के, ज्ञान को बच्चे सुसम्बद्ध कर सकते हैं। बच्चों को अपनी रुचि के अनुकूल पुस्तकें संग्रह करने की आदत डलवाई जा सकती है। उचित परिमाण में अर्थ-संग्रह करना भी प्रौढ़ जीवन में उपयोगी ही सिद्ध होगा। यदि इस

वृत्ति में शोध कर दिया जाय और भौतिक पदार्थों के स्थान में बालक सद्गुणों का संग्रह, सद्ज्ञान का संग्रह, करने को प्रोत्साहित कर दिया जाय तो बहुत लाभ हो सकता है।

५. विधायकता अथवा रचनावृत्ति (constructiveness)—रचना करने की, कुछ बनाने की, कुछ निर्माण करने की, इच्छा भी प्रत्येक मनुष्य में होती है। छोटे बच्चे घरोंदे बनाकर खेलते हैं, मिट्टी के भाँति-भाँति के खिलौने बनाया करते हैं, कागज काटकर, मोड़कर, न मालूम कितने प्रकार की क्रीड़ा-वस्तुओं का निर्माण वे करते रहते हैं। हम पहले देख चुके हैं कि बच्चे जो खिलौनों को तोड़ते फोड़ते रहते हैं उसमें जिज्ञासा (curiosity) का बहुत बड़ा अंश रहता है। यह जिज्ञासा प्राय: रचना-वृत्ति (constructiveness) की सहायक होती है। इसके मूल में खिलौने के स्वरूप को समझकर उसके आधार पर नई रचना करने की भावना रहा करती है। अकसर तो वस्तुओं को नया रूप देना ही, खिलौने के अवयवों को नई तरह से व्यवस्थित करना ही, उसके तोड़ने के मूल में रहता है। रचनावृत्ति-प्रकाशन के अनन्त रूप हो सकते हैं। मैकडूगल कहता है कि मिट्टी के खिलौनों से लेकर दार्शनिक सिद्धान्तों की रचना के मूल में यही विधायकता की वृत्ति कार्य करती है। बनाने की, रचना करने की क्रिया ही आनन्द-दायिनी होती है, निर्मित वस्तु की उपयोगिता कुछ हो अथवा न हो।

शिक्षा में इस वृत्ति का बहुत उपयोग होता है तथा और भी अधिक हो सकता है। गणित के नीरस सिद्धान्त को समझने में बालक कभी उतनी दिलचस्पी नहीं दिखाते जितनी शिल्प तथा कला की कक्षा में स्वयं रचना करने में। प्राचीन इतिहास का बहुत ज्ञान तो बच्चे हथियार, बर्तन, पुरुषों आदि की मिट्टी की मूर्तियाँ बनाकर प्राप्त कर सकते हैं। भारतवर्ष, की नदियाँ रटने में किसी विद्यार्थी को स्वाभाविक रुचि नहीं होती परन्तु जमीन पर भारत का बहुत बड़ा मानचित्र

बनाने में वह दिन-रात एक कर देता है। आजकल अनेक शिक्षा-पद्धतियाँ निकली हैं जो बालकों से निर्माण कराकर ही उन्हें पढ़ाने का उद्योग करती हैं। प्रोजेक्ट पद्धति (project method) में तो मकान तक बच्चे स्वयं बनाते हैं। 'मान्टीसरी-पद्धति' तथा किंडर गार्टन विधि में भी लकड़ी आदि के अनेक टुकड़ों को जोड़-जोड़ कर भाँति-भाँति के पदार्थों की रचना करने पर ही बल दिया जाता है। इस वृत्ति के समुचित विकास से बालक को इंजीनियर, शिल्पी, चित्रकार, कवि अथवा दार्शनिक बनाया जा सकता है।

६ **आत्म गौरव** (self-assertion)—प्रत्येक बालक दूसरे से अपने को श्रेष्ठ बताना चाहता है। दूसरों से श्रेष्ठ बनना चाहता है, दूसरों की प्रशंसा पाने के लिये वह बहुत कुछ करता है, बहुत कुछ सीखता है। परीक्षा में उच्च पद प्राप्त करने की इच्छा के मूल में आत्म-गौरव की भावना ही काम करती हैं; प्रसिद्ध खिलाड़ी, लोक-प्रिय लेखक तथा प्रभावशाली वक्ता बनने की प्रेरणा देनेवाली यही प्रवृत्ति है। किसी कारणवश जो बालक प्रशंसनीय गुणों का अर्जन करके इसकी तृप्ति नहीं कर पाता वह बुरा बनकर, कम से कम बुराई के क्षेत्र में ही, अपने गौरव की रक्षा करना चाहता है। अनेक प्रसिद्ध डाकू सामान्य आत्म-प्रकाशन का अवसर न पाकर, हर बार दबाये जाकर, लोक-पीड़क बन गये बताये जाते हैं।

यह एक सामाजिक वृत्ति है। साथियों के बीच में ही गौरव प्राप्त किया जा सकता है। छोटा बच्चा अच्छा कोट पहनकर ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह उसे अपने साथियों को दिखाना चाहता है। मोटर की सवारी में बड़ा आनन्द है; दूसरों की नज़र में मोटर का स्वामी होने से वह आनन्द कई गुना बढ़ जाता है। आत्मगौरव की भावना को चोट पहुँचाने से व्यक्ति को बहुत दुख होता है। कहते हैं अंगरेजी का महान् कवि कीट्स अपनी कविता की विरुद्ध आलोचना से

इतना अधिक दुखी हुआ कि उसकी मृत्यु हो गई। अनेक लोग मान खोकर, अथवा मान खोने की आशंका मात्र से, आत्म-हत्या तक करते सुने गये हैं।

अनेक छात्र प्रखर-बुद्धि नहीं होते। दूसरे विद्यार्थियों को सदा अपने से आगे पाकर वे निरुत्साह हो जाते हैं। शिक्षक भी बिना सोचे समझे उनके नैराश्य को बढ़ाते रहते हैं। बुद्धू लड़कों में बराबर उनकी गिनती की जाती है। फलत: उनका उत्साह मन्द पड़ जाता है। तबियत गिर जाती है। यदि उनसे काम लेना है, यदि उनका विकास करना है, तो हमें इस बात का पता लगाना चाहिए कि किस क्षेत्र में वे अच्छा काम कर सकते हैं और उनकी दुर्बलता की निन्दा करने के स्थान में उनके विशिष्ट गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। पढ़ने में कमजोर बालक अच्छा खिलाड़ी हो सकता है, अच्छा चित्रकार बन सकता है, अच्छा गायक हो सकता है। इस क्षेत्र में मान पाने से उसका मन ऊँचा रहेगा, कमज़ोर विषय में भी जी लगा सकेगा, हतोत्साह रहकर जितना कुछ करता उससे अधिक ही कर लेगा। प्राय: देखा गया है कि पढ़ने लिखने में कमजोर छात्र मानीटर बनकर बड़े उत्तरदायित्व के साथ अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।

इस सम्बन्ध में हमें इस बात का ध्यान जरूर रखना चाहिए कि आत्म-गौरव की भावना आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर मिथ्याभिमान को उत्पन्न कर देती है और ऐसा होने पर उससे हानि होने की संभावना है। अतएव हमें ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे हानिप्रद परिस्थिति न आने पावे।

७ **दैन्यवृत्ति** (self-abasement) दैन्यवृत्ति का प्रभाव आत्म-गौरव के ठीक विपरीत होता है। इस वृत्ति से प्रभावित व्यक्ति लोगों की दृष्टि बचाता है, दूसरों की तुलना में अपने को हीन समझता है, दूसरों को खुश करने के लिए उनकी प्रशंसा करता है, अपने से

श्रेष्ठ व्यक्ति के सम्मुख शिथिल-अंग तथा निष्क्रिय हो जाता है। मैकडूगल का कहना है कि लज्जा अथवा शर्म के मूल में यही वृत्ति काम करती है। उसने इस वृत्ति से प्रभावित व्यवहार का सर्व श्रेष्ठ उदाहरण एक बड़े, तगड़े कुत्ते के आजाने पर कमजोर छोटे कुत्ते का बताया है जो घुटनों के बल बैठ जाता है, पेट को जमीन से मिला देता है, पीठ को भीतर की ओर धँसा लेता है, सिर झुका कर, दोनों पैरों के बीच में दुम दबाकर दैन्य की मूर्ति ही बन जाता है। दैन्य-वृत्ति (selfabasement) से सम्बन्ध संवेग आत्म हीनता की भावना (negative self feeling) है। कुछ लोग 'आत्म-हीनता' को 'भय' समझा करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। आत्म-हीनता और भय में बड़ा अन्तर है। आत्म-हीनता में अपनी हीनता की, क्षीण-शक्ति की भावना रहती है, डर नहीं रहता। छोटा बच्चा शारीरिक शक्ति में बौद्धिक विकास में, कार्य कुशलता में, मां के सामने हीन पाता है किन्तु वह उससे डरता नहीं। कुशल गायक के सामने साधारण गवैया गाने में झेंपता है, भय नहीं करता। रागरहित, परोपकार-सर्वस्व, जन-प्रिय, चरित्रवान् महात्मा के सामने हम अपने को हीन अनुभव करते हैं, उसे खतरनाक समझ कर उससे पलायन नहीं करते। आत्महीनता भय नहीं है और न दैन्यवृत्ति पलायन का पर्याय।

जिसे हम विनम्रता कहते हैं उसकी जननी यही वृत्ति है। बड़ों की आज्ञा मानना, उसका आदर करना, किसी भी क्षेत्र में श्रेष्ठ व्यक्ति की हृदय से प्रशंसा करना इसी मूलप्रवृत्ति का परिणाम है। श्रद्धा और भक्ति का मूल ;यही है। प्रतिकूल परिस्थिति में झुक जाना, हार मान लेना, यही वृत्ति सिखाती है। नपुंसक क्रोध तथा व्यर्थ प्रयास से यही वृत्ति हमारी रक्षा करती है। शिक्षा में इसका बहुत उपयोग हो सकता है। उचित विनम्रता बुद्धिमानी का लक्षण है। इसी के प्रभाव से हम हठधर्मी से बच सकते हैं तथा सामाजिक मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं।

परन्तु इसकी भी ज्यादती बुरी है। यह हमें राजनीतिक गुलामी तथा बौद्धिक दासता सिखाती है अंधविश्वास इसी वृत्ति के आधिक्य से उत्पन्न होता है। अतएव इसे मर्यादित रखना आवश्यक है।

(७) सामूहिकता (gregariousness)—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नहीं रहता, अकेले में रहना उसे बहुत कष्टकर प्रतीत होता है। "एलेग्जेंडर सेलकर्क का एकान्तवास" नामक कविता में एकाकीपन (loneliness) की असहनीयता का हृदय स्पर्शी वर्णन किया गया है। वास्तव में एकान्तवास (solitary confinement) से अधिक क्लेश देने वाली सजा का आविष्कार अभी तक नहीं हो सका है। मांडले जेल की काल-कोठरी में बन्द लोकमान्य तिलक भी, सुना है, एक बार विचलित हो गये थे और उनका कथन था कि कालेपानी की सज़ा इससे लाख गुनी अच्छी है। सच तो यह है कि मनुष्य की प्रकृति की गठन में ही समाज-प्रेम जड़ित है। मेला, खेल, घूमने के लिये पार्कों में जाना इसी वृत्ति के कारण होता है। भाँति-भाँति के उत्सवों में सब लोग इसी प्रेरणा से एकत्रित होते हैं। लोग गाँव में, नगरों में, जो एक साथ रहते हैं उसमें पारस्परिक सहायता तथा रक्षा की भावना तो रहती ही है पर सामूहिक जीवन से प्राप्त तृप्ति का भी कुछ कम हाथ नहीं है। सिनेमा हाल में जो इतनी भीड़ नित्य इकट्ठी होती है वह वहां पर केवल खेल ही देखने नहीं जाती, जन-समागम से उत्पन्न तुष्टि भी उसका एक प्रधान लक्ष्य होता है। यदि बहुत अच्छा खेल दिखाया जा रहा हो परन्तु 'हाल' बिलकुल जनशून्य हो तो क्या आप उसमें जाकर आनन्द पा सकेंगे ?

सामूहिक वृत्ति ही हमारी नैतिकता का आधार है। हमें दूसरों की चाह है तभी हम उनके लिये त्याग करते हैं। बालकों में इस वृत्ति का विकास होने से उनमें उदारता, परोपकार, सेवा आदिक

सद्गुणों का विकास होता है। अतएव सामूहिक खेल, सभा छात्रावास आदि शिक्षा के मुख्य अंग समझे जाना चाहिये। कुछ मिथ्याभिमानी लोग अपने बच्चों को अन्य बालकों से इसीलिये अलग रखते हैं जिससे वे दुष्टों के साथ मे दुर्गुण न सीख लें। किन्तु एकाकी पलने वाले बच्चे दूसरे बच्चों के सद्गुणों से वंचित रह जाते हैं और जब उन्हें सामूहिक जीवन में अवतरित होना पड़ता है तब समूह जीवन के लिये आवश्यक गुणों का विकास न होने से वे महान् कष्ट का अनुभव करते हैं।

(६) पुत्र-कामना (parental instinct)—माता अपने बच्चे की रक्षा बराबर करती है। बच्चे को शत्रुओं से बचा कर रखना उसकी स्वाभाविक वृत्ति है। वास्तविक कष्ट से तो वह रक्षा करती ही है, कष्ट की आशंका मात्रा से उसके आचरण में परिवर्तन हो जाता है। जाति-रक्षा के उद्देश्य से ही प्रकृति ने इस मूल-प्रवृत्ति की सृष्टि की है। अपरिपक्व, असहाय दशा में यदि मां सन्तान की रक्षा न करे तो उसका जीवित रहना सम्भव नहीं। इसका सम्बद्ध संवेग वात्सल्य (feeling of tenderness) हैं संतान के लिये माता के हृदय में एक प्रकार का स्नेह होता है, एक प्रकार की कोमलता होती है। वह सन्तान को प्रसन्न देखना चाहती है और उसकी रक्षा करने में अपने प्राण तक दे देती है। यह प्रवृत्ति स्वभावतः स्त्रियों में ही होती है, बच्चों का पालन उन्हीं का क्षेत्र है। बहुत जमाने तक स्त्रियों के साथ रह कर, सहानुभूति वृत्ति (sympathy) के द्वारा पुरुषों ने भी यह गुण सीख लिया है। परन्तु इसकी प्रबलता स्त्रियों में ही दिखाई पड़ती है।

मनुष्यों में इसका बहुत विकास हो गया है। 'समानता नियम' (principle of similarity) के द्वारा, प्रत्येक छोटा पदार्थ सन्तान का प्रतीक बन गया है और अल्पायु, असहाय बच्चे की रक्षा

में निरत माँ चूहे, खरगोश, चिड़िया, छोटे छोटे बरतन आदि को भी सुरक्षित रखना चाहती है, उनके विनाश से उसे मानसिक कष्ट होता है। 'सहचारिता-नियम' (principle of contiguity) के द्वारा सन्तान-भाव का आरोपण उन पदार्थों पर भी हो जाता है जिनसे सन्तान का निकट सम्बन्ध रहा है। पुत्र अथवा पुत्री की पुस्तकों, वस्त्रों, खिलौनों पर भी पुत्र अथवा पुत्री की सी ही ममता हो जाती है। अधिक विकसित होकर निर्बल, अनाथ, असहाय के प्रति 'वात्सल्य भाव' हो जाता है और तब हम अत्याचार देख कर तिलमिला उठते हैं, उसके लिये दण्ड की व्यवस्था करते हैं। लोक-हित करने वाले व्यक्तियों का सम्मान करते हैं। सच तो यह है समस्त न्याय तथा व्यवस्था के मूल में यही पुत्र-कामना की वृत्ति देखी जा सकती है।

कुछ मनोवैज्ञानिक इस भावना को 'सहानुभूति' (sympathy) से उत्पन्न मानते हैं। किन्तु मैकडूगल इस मत का विरोध करता है। उसका कहना है कि दूसरे के कष्ट को देखकर सहानुभूति के द्वारा यदि हमें कष्ट होता है तो उस कष्ट से बचने का स्वाभाविक उद्योग उस कष्ट के कारण से दूर भाग जाना है, परन्तु वात्सल्य-वश हम कष्ट में पड़े स्नेह-पात्र से पलायन नहीं करते वरन् प्रयास करके उसका साहचर्य ढूंढते हैं। अतएव इस मनोवृत्ति की स्वतंत्र सत्ता माननी ही पड़ेगी।

मानव विकास में इस मूल प्रवृत्ति का बड़ा महत्व है। जहाँ अन्य वृत्तियाँ निकट अथवा दूरदर्शी स्वार्थ से प्रेरित होती है वहाँ इस वृत्ति का जन्म शुद्ध पदार्थ-बुद्धि से होता है। मनुष्य के चरित्र में यदि इस भावना का अभाव रहा तो वह समाज का उपयोगी अंग नहीं बन सकता। दुर्बलों की रक्षा, व्यवस्था की रक्षा, गरीबों की मदद आदि में इस वृत्ति से बहुत कुछ सहायता ली जा सकती है। इसी

भावना के समुचित विकास से हम पाठशाला को एक वास्तविक परिवार बना सकते हैं जहाँ पारस्परिक सद्भाव, स्नेह एवं ममता में पगे, दुष्टों का दमन तथा साधु पुरुषों का सम्मान करने वाले, नियम-पालक, श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण किया जा सके।

१०. **काम-प्रवृत्ति** (sex instinct)—मनुष्य में जितनी मूल-प्रवृत्तियाँ हैं उनमें सबसे प्रबल सम्भवतः काम वासना ही है। व्यक्ति की रक्षा के लिये जिस प्रकार भोजनान्वेषण (food seeking instinct) आवश्यक है, जाति-रक्षा के लिये उसी प्रकार काम-प्रवृत्ति (mating instinct) जरूरी है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने लिखा है कि "लड़ाइयों का कारण, शान्ति का हेतु, गम्भीरता का आधार, मज़ाक का लक्ष्य" काम वासना ही होती है। मनोविश्लेषण-विज्ञान के जनक डा० फ्रायड का कथन है कि काम शक्ति(libido)ही रूपान्तरित होकर विभिन्न प्रकार की मानसिक अथवा शारीरिक शक्ति का रूप धारण करती है। इतना तो निर्विवाद है कि काम-वासना एक बहुत बड़ी प्रेरक शक्ति है। मनोविश्लेषणवादियों के समस्त निष्कर्षों को हम मानें अथवा न मानें इतना तो मानना ही पड़ेगा कि काम-वृत्ति के सम्बन्ध में मौन तथा उपेक्षा के द्वारा काम नहीं लिया जा सकता।

मूल-प्रवृत्तियों में सबसे अधिक दमन काम-वृत्ति का ही किया जाता है और, जैसा हम पहिले देख चुके हैं, दमन का परिणाम प्रायः अवांछित ही होता है। तीन और पाँच वर्ष के बीच की आयु में बालकों की काम वृत्ति का जाग्रत होना, मनोविश्लेषणवादियों के साथ, हम भले ही न स्वीकार करें परन्तु किशोरावस्था में तो उसका प्रभाव सभी को मान्य है। इस सम्बन्ध में जिस मौन तथा दमन से अब तक काम लेने का परम्परा चली आई है उससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है। अतएव यदि हमें यह अभीष्ट नहीं है कि

हमारे बच्चे भाँति भाँति के अप्राकृतिक दुराचारों से अपने को नष्ट करते रहें तो इस सम्बन्ध का ज्ञान माता-पिता अथवा चरित्रवान अध्यापक को देना ही होगा। बालकों की सहज जिज्ञासा दबती नहीं और गुरुजनों के भय से जिस प्रकार दुष्ट-चरित्र-साथियों से उसकी तृप्ति की जाती है उसकी कल्पना मात्र से ही सच्चे बाल-हितैषियों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। किन्तु यह समस्या बड़ी नाजुक है। बच्चों को कितनी, कब, किसके द्वारा इसकी शिक्षा दी जाय इसका निर्णय करना आसान नहीं है।

बच्चों की इस शक्ति का, शोध तथा मार्गान्तरीकरण के द्वारा, कला साहित्य, खेल आदि में बहुत कुछ उपयोग हो सकता है। भिन्न लिंग के व्यक्तियों के प्रति जो सहज आकर्षण होता है उसको संयत करके पारस्परिक सद्भाव तथा श्रद्धा में बदला जा सकता है। पशु-तृप्ति से ऊपर उठकर साहचर्य, सहायता, सद्भावना में ही तृप्ति की अनुभूति की जा सकती है। शिक्षा और संस्कृति का यही उद्देश्य होना चाहिये।

सामान्य-स्वाभाविक वृत्तियाँ (innate general tendencies)—पिछले अध्याय में हमने मैकडूगल की बताई हुई सामान्य-वृत्तियों का उल्लेख किया था। यहाँ हमने यह भी बताया था कि मैकडूगल इन्हें मूल-प्रवृत्तियाँ न मानने के दो हेतु देता है। एक तो यह कि इनसे सम्बद्ध कोई विशिष्ट संवेग नहीं होता और दूसरा यह कि इनकी प्रवृत्ति विशेष न होकर सामान्य होती है। इन वृत्तियों में पाँच मुख्य हैं—निर्देश अथवा संकेत (suggestion), सहानुभूति (sympathy) अनुकरण (imitation), आदत डालने की प्रवृत्ति (tendency to form habits) एवं खेल (play)। इनमें से अन्तिम दोनों का वर्णन तो अधिक विस्तार के साथ अगले अध्याय में किया जायगा। यहां पर पहली तीन वृत्तियों का ही विवेचन किया जाता है।

(१) निर्देश (suggestion —गणित का सुप्रसिद्ध आचार्य पेस्कल कहा करता था—"यह कहना ग़लत हैं कि हम धर्मात्मा होने के कारण गिरजाघर जाते हैं, वास्तव में हम गिरजाघर जाते हैं इसी लिये धर्मात्मा हैं।" इस उलटबाँसी जैसे प्रतीत होने वाले कथन में एक बहुत बड़ा मनो-वैज्ञानिक सत्य निहित है। हमारे जीवन में निर्देश अथवा संकेत का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा करता है। हम अपने विचार, भाव एवं इच्छायें प्राय: दूसरों से उधार ले लिया करते हैं। सामाजिक जीवन बहुत कुछ इसी पर आधारित है। शिष्टाचार के नियमों की विवेचना करने के बाद, उनको ठीक समझकर, पालन करने वालों की संख्या शायद ऊँगलियों पर गिनी जा सकती है। अधिकांश लोग तो केवल इसी लिए उन्हें ठीक समझते हैं क्योंकि वे सभी को उन्हें ठीक समझते पाते हैं। धर्म की अनेक बातों में हमारा विश्वास इसी लिए है कि सब कोई उन में विश्वास करता है। संसार में प्रचार (propaganda) को जो अद्भुत सफलता मिलती देखी जाती है उनका मुख्य कारण मनुष्यों को संकेत-योग्यता (suggestibility) ही है। दूसरों के विचारों को बिना सोचे विचारे, बिना तर्क किये, ग्रहण कर लेने का नाम संकेत अथवा निर्देश है।

इस शब्द का प्रयोग सम्भवत: अस्वस्थ-मनोविज्ञान (Abnormal psychology) से ही प्रचार में आया है। मानसिक रोगी को मोह निद्रा (hypnosis) सुलाकर चिकित्सक उसे निर्देश देता है—'अब तुम अच्छे हो रहे हो' और वह उसमें विश्वास कर लेता है। मोह निद्रा के जागने पर उसे निर्देश दिये जाने की स्मृति तो नहीं रहती परन्तु विश्वास शेष रह जाता है। स्वास्थ्य पर इस विश्वास का अद्भुत प्रभाव होते देखा गया। मोहनिद्रा में पड़े व्यक्ति को जो करने को कहा जाता है वह वही करने लगता है, जो बताने को कहा जाता है वह वही बता देता है। संगीन अपराधों का पता लगाने में

अपराधियों पर इसका बहुत लाभ-प्रद प्रयोग, सुनते हैं, किया गया है। सम्मोहन की अवस्था में दिये गये संकेतों का पालन निद्रा भंग के बाद भी लोग करते देखे गये हैं। उन्हें निर्देश की स्मृति नहीं रहती, अतः वे अपने आचरण का कोई कारण नहीं बता सकते। यदि बताने को विवश किये जाते हैं तो किसी अनोखे कारण की उद्‌भावना कर लेते हैं। परन्तु उसका वास्तविक कारण संकेत का प्रभाव ही होता है इसी प्रकार के संकेतजन्य आचरण को देख कर संकेत-योग्यता सिद्धांत (Law of Suggestibility) की कल्पना की गई है। वह सिद्धांत यह है कि सम्मोहित अवस्था में दिया गया निर्देश जितना ही सीधा तथा स्पष्ट होता है उतना ही अधिक काम करता है और जितना ही टेढ़ा एवं अस्पष्ट होता है उसके ग्रहण किए जाने की सम्भावना उसी परिमाण में घट जाती है।

परन्तु सामान्य स्वस्थ आचरण पर यह सिद्धांत घटित नहीं होता। अधिकतर लोग सीधे उपदेश को मानकर नहीं चलना चाहते। जब हम बालकों को रात में पढ़ने को मना कर देते हैं तो हठ करके बच्चे रात में ही पढ़ने का प्रयास करते हैं। जो पुस्तकें उन्हें पढ़ने को मना कर दी जाती है वे उन्हें अवश्य पढ़ते हैं। इस सम्बन्ध के एक प्रयोग का चार्लस फाक्स ने अपने "शिक्षा-मनोविज्ञान" में वर्णन किया है। कुछ लोगों को वर्णों अथवा अंकों की एक श्रृङ्खला (series) जो एक विशिष्ट क्रम में लिखी हुई थी, दिखाई गई। पूरी श्रृङ्खला दिखा चुकने के बाद तुरंत ही उनसे कहा गया कि जो भी वर्ण अथवा अंक तुम्हारे मन में आवे उसे लिखो। वर्णों अथवा अंकों के क्रम, प्रयोग-बाहुल्य तथा वातावरण के द्वारा उन लोगों के निश्चय को प्रभावित करने का प्रयत्न किया गया। कभी कभी अंक अथवा वर्ण दिखाते समय ही जोर से उच्चारण करके संकेतित कर दिया गया। फल यह हुआ कि जितना

ही उन लोगों को मालूम पड़ा कि उन्हें संकेत दिया जा रहा है, विशेषतया शाब्दिक संकेत, उतना ही उनका निश्चय उसके विरोध में दृढ़ हो गया। इसी परीक्षण के आधार पर डाक्टर सिडिस ने साधारण पुरुषों के संबंध में संकेत योग्यता का यह नियम निकाला कि संकेत जितना सीधा तथा स्पष्ट होता है उतना ही कम ग्रहण किया जाता है तथा जितना ही अस्पष्ट होता है उतना ही अधिक। यद्यपि यह नियम सर्वत्र नहीं लागू होता परन्तु इसमें सत्य का बहुत बड़ा अंश है। शिक्षकों को यथासम्भव इस प्रकार निर्देश देना चाहिए जिससे वह विरुद्ध-संकेत (contra suggestion) को उत्तेजना न दे। जब विद्यार्थी किसी गम्भीर विचार में निरत हो, किसी जटिल कार्य में तल्लीन हो, तभी उसे संकेत देना चाहिए। यह अस्पष्ट निर्देश, होम्योपैथिक औषधि की तरह, उसके मन में प्रविष्ट होकर, विरोध को बिना जगाये, अवश्य प्रभाव दिखता है।

संकेत-योग्यता का माप करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग किए जाते हैं। उनमें से एक का ही संक्षिप्त वर्णन यहाँ काफी होगा यह आउसेज-परीक्षण (Aussage Experiment) के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कोई तसवीर—दूसरी वस्तुयें भी ली जा सकती हैं—दिखाई जाती है और दर्शकों से ध्यानपूर्वक उसे देखने को कहा जाता है। देखने के पश्चात् तुरन्त अथवा कुछ काल बीतने पर उनसे प्रश्न किए जाते हैं। परीक्षण के दो भाग होते हैं। एक तो चित्र का वर्णन और दूसरे उस पर की गई जिरह। इस जिरह का ही विशेष महत्व है। इसमें अनेक प्रकार से उत्तरों को सुझाया जाता है, उनका संकेत दिया जाता है। उदाहरण के लिये रामचन्द्र जी का चित्र ले लीजिये। दर्शकों से पूछा जा सकता है—"चित्र में हनुमान क्या खा रहे हैं?" (वास्तव में वह कुछ नहीं खा रहे) अथवा "दशरथ राम के किस ओर हैं?" (वास्तव में दशरथ चित्र में हैं ही नहीं) अथवा

"रामचन्द्र जी के हाथ में पुस्तक है न ?" (वास्तव में नहीं) । कभी-कभी तथा कोई-कोई दर्शक संकेत नहीं ग्रहण करता, वह अपने ज्ञान का उपयोग करके यथासम्भव ठीक उत्तर ही देता है । प्राय: लोग संकेतित उत्तर ही मान लेते हैं । इस परीक्षण से किसी व्यक्ति की संकेत-योग्यता का माप लिया जा सकता है । मान लो उसे १०० संकेत दिये गये और उसने ५० संकेत ग्रहण किये । तो उसकी संकेत-योग्यता ५०/१०० अथवा १/२ हुई और उसका संकेत-योग्यता-लब्धि (suggestibility quotient) १/२ × १०० अथवा ५० हुआ । जो व्यक्ति जितना ही अधिक स्थिर-बुद्धि होता है वह उतने ही कम संकेत ग्रहण करता है और उसका संकेत-योग्यता-लब्धि, इसलिए, उसी परिमाण में कम होता है ।

परीक्षणों से पता चलता है कि अधिकतर लोग संकेत ग्रहण कर लेते हैं । कई कारण संकेत-योग्यता को निश्चित करते हैं । अवस्था का प्रभाव पड़ता है । कम उम्र के बच्चे प्राय: संकेत ग्रहण कर लेते हैं; प्रौढ़ उनकी अपेक्षा बहुत कम । शिक्षा तथा विश्वासों का भी प्रभाव पड़ता है । अशिक्षितों की संकेतयोग्यता शिक्षितों की अपेक्षा अधिक होती है क्योंकि उनका ज्ञान कम होता है और विवेचना-शक्ति अविकसित । जिस व्यक्ति के कुछ दृढ़ तथा निश्चित विश्वास होते हैं वह अपने विश्वास के विरुद्ध किसी संकेत को साधारणतया ग्रहण नहीं करता । मानसिक स्वास्थ्य का भी बहुत हाथ रहता है । स्वस्थ मस्तिष्क बहुत कम संकेत ग्रहण करता है, मानसिक रोगी बहुत अधिक संकेत मान लेता है । हिस्टरिया आदि मानसिक बीमारियों से पीड़ित व्यक्ति को चाहे जो सिखा दो वह सब कुछ स्वीकार कर लेता है ।

संकेत-योग्यता को निर्धारित करने वाली कुछ वैयक्तिक दशाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है । वे संकेतित व्यक्ति की दशायें हैं । कुछ

ऐसी बाहरी, वातावरण की, परिस्थितियाँ भी हैं जो संकेत-योग्यता निर्धारण करती हैं। मुख्य परिस्थिति संकेत देने वाले पुरुष का व्यक्तित्व (prestige) होता है । अपने से कम बुद्धि अथवा ज्ञान रखने वाले व्यक्ति का संकेत नहीं ग्रहण किया जाता, विद्वान् का कर लिया जाता है। समवयस्कों तथा अल्पवयस्कों का दिया हुआ संकेत नहीं माना जाता परन्तु वयोवृद्ध श्रद्धास्पदों का मान लिया जाता है। दूसरा सामूहिक संकेत (mass suggestion) होता है। हमारे समाज के, धर्म के,पास पड़ोस के लोगों के विश्वास एवं विचार जान में अथवा अनजान में हमें बराबर प्रभावित किया करते हैं। हम उन विचारों को ग्रहण कर लेते हैं जिन्हें एक समूह ठीक समझता है। धर्म, शिष्टाचार, लोक-रीति, फैशन आदि को मानकर चलने में हम सामूहिक-संकेत का ही अनुसरण किया करते हैं। तीसरी प्रकार का संकेत जिसे हम ग्रहण कर लेते हैं आत्म-संकेत (auto-suggestion) है। कभी-कभी हम स्वयं अपने को निर्देश दिया करते हैं। बीमार व्यक्ति सोच सकता है कि मैं अच्छा हो रहा हूँ। और यह विश्वास उसे निरोग करने में बहुत सहायता करता देखा गया है। यदि किसी आदमी का विश्वास हो जाय कि उसे क्षय रोग हो गया है तो, हम सभी जानते हैं, उसका मंगल नहीं। ऊपर हम जिस टेढ़े तथा अस्पष्ट (indirect) संकेत के अधिक ग्रहण किये जाने की चर्चा कर आये हैं वह इसीलिये अधिक स्वीकृत होता है कि संकेतित व्यक्ति उसे अपने ही से उत्पन्न, आत्मजात, मानता है। उसको ग्रहण करने में उसकी आत्म गौरव की वृत्ति को ठेस नहीं पहुँचती और वह विरुद्ध-संकेत (contra suggestion) के रूप में उसे नहीं बदल देता ।

शिक्षा में संकेत-योग्यता से बहुत लाभ उठाया जा सकता है। परन्तु कभी-कभी लोग उसे हानिकारक बताते हैं। कहा जाता है कि संकेत

स्वीकार करते-करते छात्रों का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। वे दुर्बल मस्तिष्क एवं अन्य-आश्रित बन जाते हैं। उनकी मौलिकता जाती रहती है। इसमें बहुत कुछ ठीक है। हमें व्यक्तित्व का विकास करना है, आत्मबल को प्रोत्साहित करना है। जो निर्देश बालकों के स्वतन्त्र विकास में विघ्न डाले, तुलसी के शब्दों में, "तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही" परन्तु जिस निर्देश को वे आत्मनिसृत समझें, जिसे वे आत्म-निर्देश समझें, वह उन्हें दिया जा सकता है। पाठशाला की मर्य्यादा, अनुशासन, सत्यप्रेम, समाज-भावना आदि का वातावरण ही बना देना चाहिए जिसमें कोई व्यक्ति-विशेष निर्देशक न रह जाय, आत्म-सम्मत व्यवस्था ही सब कराती प्रतीत हो—अध्यापक शब्दों से नहीं, अपने आचरण से निर्देश दे सकता है। आत्मगौरव की प्रवृत्ति पुरुष में हैं तो दैन्यवृत्ति भी स्वाभाविक है और उसका उपयोग यदि हम सदाचरण एवं सद्गुणों की वृद्धि में नहीं करते तो सम्भव है उसका प्रकाशन अवांछनीय व्यक्तियों के अवांछनीय निर्देशों को ग्रहण करने में होने लगे। अतएव इस बात का ध्यान रखकर कि छात्रों को मानसिक दासता की आदत न पड़े, हमें उनकी संकेत-योग्यता से जहाँ तक हो सके, लाभ उठाना चाहिए।

(२) सहानुभूति (sympathy)—अब्राहमलिंकन के विषय में प्रसिद्ध है कि एक बार जब वह पार्लामेंट भवन जा रहा था तो उसने कुछ नटखट बालकों को एक सुअर के बच्चे को, जो किसी गढ़े में पड़ा था, ईंटों से मारते देखा। बेचारा जानवर बड़े कष्ट में था, बहुत दुखी था, पर बच्चे छोड़ते ही न थे। लिंकन ने दौड़कर उसे गोद में उठा लिया और किसी प्रकार उन दुष्ट लड़कों से उसकी रक्षा की, यद्यपि इस कार्य में उसके सब कपड़े कीचड़ से सन गये। उसके इस आचरण की जब लोग प्रशंसा करने लगे तो उसने उत्तर दिया—"परोपकार अथवा दया की दृष्टि से तो मैंने कुछ नहीं किया। उसके दुख

देखकर मैं इतना परेशान हो गया था कि अपने दुख को दूर करने के लिये उसकी रक्षा करना मेरे लिये अनिवार्य हो गया था।" मनोवैज्ञानिक भाषा में इसी बात को यों कहा जा सकता है कि सहानुभूति-वृत्ति (sympathy) के कारण लिंकन उस जानवर के दुःख से पीड़ित हो गया। दूसरों की रागात्मक वृत्ति को देख अथवा सुनकर स्वयं उसी वृत्ति का अनुभव करने लगना सहानुभूति कहलाता है।

दूसरों के विचारों को हम जिस प्रकार बिना मीमांसा किये स्वीकार कर लिया करते हैं उसी प्रकार दूसरों के भावों तथा संवेदनाओं से भी प्रभावित हो जाया करते हैं। यह हमारी सामान्य प्रवृत्ति है। किसी को उदास देखकर हम उदास हो जाते हैं, प्रसन्न देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। हमारे राग अथवा भाव संक्रामक होते हैं। दुखी से दुखी व्यक्ति भी हँसी खुशी के वातावरण में पहुँच कर अपना दुःख भूल जाता है। किसी क्रोधित मित्र को देखकर हमारी भी आँखें लाल हो जाती हैं, हमारे हाथ जैसे कुछ कर गुजरने को मचल उठते हैं। बड़े-से-बड़े मांसाहारी व्यक्ति भी बध किये जाने वाले पशु का करुण-क्रन्दन सुनकर करुणार्द्र होते देखे गये हैं। यह वृत्ति पशुओं तथा पक्षियों में भी पाई जाती है। एक चिड़िया जब भय सूचक शब्द करती है तो उस शब्द को सुनकर सभी चिड़ियाँ भय पाकर उड़ जाती हैं। जब दो कुत्ते क्रुद्ध होकर भूकते, गुर्राते, एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं तो उस शब्द को सुनकर थोड़ी ही देर में पास पड़ोस के सब कुत्ते युद्ध की हुंकार करते हुए, क्रोध की मूर्ति बने, रणस्थल पर आ जुटते हैं।

साधारण भाषा में हम जिसे सहानुभूति कहा करते हैं उसमें और इसमें अन्तर है। जब किसी के दुःख से प्रभावित होकर हम उसके दुःख को किसी कदर बाँट लेने के इरादे से कुछ दयापूर्ण

आचरण करते हैं तो बोलचाल की भाषा में उसे सहानुभूति कहते हैं। यदि किसी भूख से तड़पते असहाय दरिद्र को देखकर हमें कष्ट हो और उस कष्ट से अपनी रक्षा करने के उद्देश्य से हम आँख फेर कर आगे बढ़ जायँ तो साधारण भाषा में कहा जायगा कि हम में सहानुभूति की कमी है। मनोविज्ञान की दृष्टि में यह भी सहानुभूति का ही उदाहरण है दूसरे के दुःख से दोनों को भी दुःख हुआ। एक ने दुःख से प्रभावित होकर एक प्रकार का आचरण किया, दूसरे ने दूसरे प्रकार का। कदाचित एक आचरण लोक-मंगल की दृष्टि से अधिक उपयोगी है। पर मनोविज्ञान तो नीति-शास्त्र नहीं है। वह नैतिक आदर्श का नहीं, मनोवृत्ति का अध्ययन करता है और जब कभी मन किसी राग का अनुभव केवल दूसरे की अनुभूति से प्रभावित होकर करता है तो रागानुभूति को सहानुभूति जन्य कहा जाता है, उस अनुभूति के परिणाम स्वरूप उसका आचरण चाहे जैसा क्यों न हो।

समाज के विकास में इस सामान्य वृत्ति का काफ़ी हाथ है। समाजद्रोहियों के प्रति क्रोध, लोक-हितैषियों के प्रति श्रद्धा, हिंसक के प्रति घृणा आदि सामाजिक भावनायें हैं जिन्हें हम सहानुभूति के द्वारा ही अनुभव कर सकते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि सहानुभूति एक परमोपयोगी वृत्ति है किन्तु अन्य वस्तुओं की ही भांति इसकी भी अति अच्छी नहीं होती है। किसी के कष्ट से यदि हम बहुत अधिक पीड़ित हो जायँ तो उस दुःखाधिक्य के कारण हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है और हम उसकी यथोचित सहायता नहीं कर सकते।

सहानुभूति के दो रूप होते हैं। एक को हम निष्क्रिय (passive) कह सकते हैं और दूसरे को सक्रिय (active)। निष्क्रिय सहानुभूति तो मूल सहानुभूति-वृत्ति से उत्पन्न दूसरों के रागों की अनुभूति को कहते हैं जो पशु-पक्षियों के ही साथ मनुष्यों की भी एक स्वा-

भाविक शक्ति है। परन्तु मनुष्य उनसे अधिक उन्नत है यह केवल किसी अनुभूति को लेकर ही नहीं सन्तुष्ट होता वरन् अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है। वह अपने सुख एवं दुःख को, अपने क्रोध एवं घृणा को, दूसरों को बाँटकर भोगना चाहता है। उसकी इच्छा रहती है कि हमारी भावनायें दूसरों तक पहुँचें। वह काव्य में, कला में, व्याख्यान देकर, गाकर अपनी अनुभूति से दूसरों को प्रभावित करना चाहता है। यही वृत्ति सक्रिय सहानुभूति कहलाती है। यह सक्रिय होती है क्योंकि बिना क्रिया के दूसरों तक हमारी भावनायें नहीं जा सकतीं।

शिक्षा में इस वृत्ति का काफ़ी उपयोग हो सकता है। कविता अथवा इतिहास पढ़ते समय शिक्षक के जो भाव रहते हैं बालकों के भी भाव वैसे ही बन जाते हैं। हम उचित भावनाओं का प्रदर्शन करके सयत्काव्य में, सद्भावों में सत्पुरुषों में उनका अनुराग उत्पन्न कर सकते हैं; अत्याचारियों, दुष्ट तथा नीच वृत्तियों के पोषक काव्य में उनकी अरुचि उत्पन्न कर सकते हैं। उनमें श्रेष्ठ स्थायी-भावों को जगाकर उन्हें योग्य नागरिक बना सकते हैं। किन्तु इसमें एक भय भी है। यदि शिक्षक का ही चरित्र अवांछनीय है तो बालकों को उसकी भावनायें भी प्रभावित करेंगी ही और उस दशा में उनमें निकृष्ट भावनाओं का संचार एवं उनके फल स्वरूप निकृष्ट चरित्र का निर्माण भी हो सकता है। अतएव शिक्षक को सदा सजग रहना होगा जिससे वह ऐसी भावनायें उसमें न जगावे जो हानिकारक हों।

(३) **अनुकरण** (imitation)—जिस प्रकार हम दूसरों के विचारों को बिना परीक्षा किये स्वीकार कर लेते हैं तथा दूसरों की भावनाओं से प्रभावित हो जाया करते हैं ठीक उसी प्रकार हम दूसरों के कामों को देखकर उनकी नकल अपने कामों के द्वारा करने लगते हैं। क्रिया अथवा आचरण की नकल करने की वृत्ति को अनुकरण

(imitation) कहते हैं। वास्तव में संकेत, सहानुभूति एवं अनुकरण एक ही सामान्य वृत्ति के तीन पहलू हैं। साधारणत: तीनों को ही यदि अनुकरण कहा जाय तो अनुचित न होगा। हम आरम्भ में बता चुके हैं कि अनुभव के तीन प्रकार होते हैं, ज्ञानात्मक, रागात्मक, तथा क्रियात्मक दूसरे व्यक्ति के अनुभव को अपना अनुभव बना लेना ही अनुकरण है चाहे हम जानकर अनुकरण करें और चाहे वह अज्ञात रूप से हम से होने लगे। ज्ञानात्मक अनुकरण को संकेत (suggestion) कहा गया है, रागात्मक अनुकरण को सहानुभूति (sympathy) बताया गया है तथा क्रियात्मक अनुकरण को अनुकरण (imitation) का ही नाम दे दिया गया है। वस्तुत: वे एक सी वृत्ति के तीन पहलू भर हैं।

मानव-मस्तिष्क के विकास का प्रमुखसाधन अनुकरण ही है। अनुकरण-वृत्ति मनुष्यों की विशेषता बताई जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिक तो निम्नश्रेणी के प्राणियों में इस वृत्ति का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। परन्तु मनुष्य का जीवन तो विविध प्रकार के अनुकरणों की एक शृंखला ही है। वह दूसरों का अनुकरण करके बोलना सीखता है, लिखना सीखता है, पढ़ना सीखता है। खाना कितनी स्वाभाविक क्रिया है। मूलप्रवृत्ति-जात क्रिया में भी मनुष्य की अनुकरण वृत्ति काम करती दिखाई पड़ती है। किसी वातावरण में वह चम्मच कांटे का उपयोग करने लगता है तो कहीं लकड़ी के दो टुकड़ों से चावल इस सफाई से उठाकर खाने लगता है कि नये व्यक्ति के लिए वह एक आश्चर्य का विषय बन जाता है। पोशाक, चलने का ढंग, हकलाने की आदत तक अपने स्नेह-पात्रों की अनुकरण कर ली जाती है।

अनुकरण दो प्रकार का होता हैं, एक अज्ञात अनुकरण और दूसरा ज्ञात। अज्ञात अनुकरण में अनुकरण करने वाले व्यक्ति को कुछ भी पता नहीं रहता कि वह अनुकरण कर रहा है। जिस अन्धानुकरण वृत्ति से प्रेरित भेड़ों का झुंड एक ओर को चल पड़ता है, उसके द्वारा

मनुष्यों की भी अनेक क्रियायें हुआ करती है। मैकडूगल का कहना है कि उसका एक बच्चा जिसकी आयु चार मास से भी कम थी जब किसी आदमी को ज़बान निकाले देखता था तो खुद भी ज़बान निकाल लेता था। इस उम्र में, निश्चय ही ज्ञात अनुकरण सम्भव नहीं। वह तो एक प्रकार सहज क्रिया ही हुई। वयस्क होकर भी हम न जाने कितनी क्रियायें अचेतन अर्द्धचेतन दशा में ही किया करते हैं। दूसरा प्रकार ज्ञात अनुकरण का है। हम जिसे पसन्द करते हैं उसके चरित्र आदि को भी पसन्द करने लगते हैं और उसके अनुकरण पर, उसको आदर्श मानकर अपना चरित्र एवं कार्य ढाल लेते हैं दुर्भाग्य से यदि आदर्श ठीक न हुआ तो हम उसका अनुकरण करके अपने को बरबाद भी कर सकते हैं। बच्चे स्वभावतः साहसपूर्ण कार्यों को पसन्द करते हैं और दुष्ट बालक बड़े साहसी होते हैं। अतएव दुष्ट बालक शीघ्र ही सारे स्कूल के आदर्श बन जाते हैं। मसल मशहूर है कि एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती हैं। ऐसे स्वाभाविक नेताओं से अबोध तथा सुकुमारमति बालकों की रक्षा करने के लिये अध्यापक को उस नेता को पहले वश में करना होगा। उसके आचरण को ठीक करके शान्त, वांछनीय वातावरण बनाना होगा परन्तु कभी-कभी यह सम्भव नहीं होता। उस दशा में स्कूल के शांत वातावरण को क्षुब्ध करने वाले शत्रु पर प्रहार करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। यदि दंड से भी उसका दमन सम्भव न प्रतीत हो तो उसको स्कूल से दूर हटा देना ही उचित है। परन्तु यह उग्र साधन है और इसमें एक प्रकार से शिक्षक की अक्षमता की स्वीकारोक्ति भी है। अतएक विवश होकर इस अस्त्र का प्रयोग करना चाहिये। अच्छे आचरण का आदर्श उपस्थिति करके हम बच्चों की अनुकरण वृत्ति से बहुत लाभ उठा सकते हैं। असत्यवादी, दुराचारी शिक्षकों का भी अनुकरण बच्चे करते हैं। अतएव अध्यापकों के निर्वाचन में इस ओर भी ध्यान देना परमावश्यक है।

हमें युद्ध करना पड़ता है। इस वृत्ति का बर्बर रूप, मार काट आदि, अवश्य ही बुरा है। किन्तु इसका शोध करके शिक्षा में बहुत उपयोग हो सकता है यदि बालक किसी व्यक्ति से नहीं, गणित अथवा विज्ञान की कठिनाइयों से, दार्शनिक अथवा राजनीतिक समस्याओं से भिड़ने लगे, तो शिक्षा की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है। वह दूसरों पर नहीं, अपने पर विजय पाने की चेष्टा में लग जाय, तो उसके चरित्र-निर्माण के लिये हमें व्यर्थ ही चिन्तित क्यों होना पड़े ?

अज्ञात को जानने की इच्छा ही जिज्ञासा है। बच्चे बहुत कुछ जानना चाहते हैं। उनके प्रश्नों से ऊब कर कभी-कभी हम उन्हें डांट देते हैं, उनके कुतूहल का दमन कर देते हैं, यह अच्छा नहीं। इससे उनका बौद्धिक विकास रुक जाता है। निरर्थक कुतूहल को मार्गान्तरीकरण के द्वारा हम शिक्षा में बहुत उपयोग कर सकते हैं। भौगोलिक अन्वेषण, वैज्ञानिक गवेषणा तथा दार्शनिक मीमांसा इसी वृत्ति के संस्कृत रूप हैं।

संग्रहवृत्ति का भी शिक्षा में बहुत उपयोग हो सकता है। नेताओं के चित्रों का संग्रह राजनीति में रुचि उत्पन्न कर सकता है टिकटों को इकट्ठा करके भूगोल सम्बन्धी बहुत कुछ ज्ञान दिया जा सकता है, फूल-पत्तियों के संग्रह से प्रकृति-पाठ को सरस बनाया जा सकता है तथा पुस्तकों का संग्रह विद्या के अर्जन का दृढ़ सोपान हो सकता है।

मनुष्य में रचनावृत्ति उसे कुछ न कुछ सृजन करने को प्रेरित किया करती है। मिट्टी के खिलौने, चित्र एवं अन्य शिल्प सम्बन्धी कार्य इसी से बच्चों को अधिक प्रिय हैं। इस सामान्य रचना का परिष्कार करके हम बालकों को ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्त एवं श्रेष्ठ काव्यों की रचना करने में, उपयोगी सामाजिक एवं राजनीतिक योजना बनाने में, प्रवृत्त कर सकते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में आत्म-गौरव की भावना होती है। वह बड़ा

अनुकरण मौलिकता का विनाशक है ऐसा प्राय: कहा जाता है। अधिकांश में यह भय काल्पनिक है। अंगरेजी का अमर साहित्याकार राबर्ट स्टीवेंसन इस बात का प्रमाण है कि श्रेष्ठ लेखकों की शैली का अनुकरण करके कितनी मौलिक शैली को जन्म दिया जा सकता है। प्राप्त साधनों का उपयोग न करके हम मौलिकता की वृद्धि नहीं प्रतिभा का अपव्यय कर सकते हैं। फिर अनुकरण करने की स्वाभाविक सामान्य प्रवृत्ति के निर्माण करने की राय कोई कहाँ देता है ? वह प्रवृत्ति तो बालकों में है ही, उसका उपयोग तो करेंगे ही। हमें तो केवल ऐसा वातावरण बना देना है जिससे इस वृत्ति का दुरुपयोग न हो और जो कुछ उन्हें सिखाना है उसमें, जहाँ तक हो सके, हम इससे लाभ उठा सकें।

सारांश—खतरे की परिस्थिति 'भय' का कारण बनती है। उससे 'पलायन' नाम की मूलप्रवृत्ति जग जाती है और व्यक्ति 'भय' के कारण से भागता है। अनहोनी घटना, दुर्भेद्य रहस्य, आकस्मिक एवं गम्भीर शब्द आदि का 'भय' के उत्पादन में विशेष हाथ रहता है। भय पाकर आदमी छिपकर आत्म-रक्षा करना चाहता है। भय में बहुत बड़ी प्रेरणा होती है। भयातुर व्यक्ति कभी-कभी ऐसे साहस के कार्य कर डालता है जिनको करने की शक्ति सामान्यता उसमें नहीं होती। अधिक भय पाकर मनुष्य हृदय की गति के बन्द हो जाने से मरते तक देखे गये हैं। इस वृत्ति का सीधा उपयोग शिक्षा में नहीं हो सकता। बालक शिक्षक से नहीं, उसकी प्रतिकूल सम्मति से डरे, उसे दुष्टता, दुराचार, क्रूरता आदिक अवांछनीय वृत्तियों से पलायन करने का अभ्यास कराया जाय तो अधिक लाभ हो सकता है।

युयुत्सा-वृत्ति प्राय: बुरी समझी जाती है। लड़ाई, झगड़ा आदि सब इसी मूल-प्रवृत्ति का परिणाम हैं। अपने मार्ग में आई हुई बाधा को देखकर हमें क्रोध होता है और उस अड़चन को हटाने के लिये

बनना चाहता है, अपनी प्रशंसा से प्रसन्न एवं हीनता से अप्रसन्न होता है। महान् बनने, विद्वान् एवं यशस्वी बनने, की इच्छा के मूल में यही प्रवृत्ति काम करती है। हीन-बुद्धि बालकों से भी, उनके अच्छे गुणों की प्रशंसा करके, उनके स्वाभिमान को सन्तुष्ट करके, बहुत कुछ काम लिया जा सकता है।

दैन्य-वृत्ति आत्म गौरव की भावना को विपरीत वृत्ति है। अपने से श्रेष्ठ के सम्मुख झुक जाना इसी के प्रभाव से सम्भव होता है। विनम्रता की जननी यही वृत्ति है। इस वृत्ति के अभाव में लोग दुराग्रही तथा हठी हो जाते हैं। अजेय विरोधी परिस्थितियों से पराजय स्वीकार कर लेना, जो बुद्धि का प्रतीत है, इसी वृत्ति का फल है। किन्तु आवश्यकता से अधिक विनम्रता हीनता की भावना को जन्म देती है जो हठधर्मी से कहीं अधिक हानिप्रद है।

सामूहिकता भी मनुष्य की एक प्रमुख वृत्ति है। एकान्त वास मनुष्य की सबसे बड़ी सज़ा है। मेला, खेल, तमाशा इसी वृत्ति की तृप्ति करते हैं। सामूहिक वृत्ति ही हमारी नैतिकता का आधार है। हमें दूसरों की चाह है तभी न हम उनके लिये त्याग करते हैं? अतः सामूहिक खेल, सभा, छात्रावास आदि शिक्षा के अनिवार्य अंग समझे जाने चाहिये।

मनुष्य में जो कोमल भावना होती है वह पुत्र-कामना नामक मूल प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। यह अधिकांश में स्त्रियों में पाई जाती है, उन्हीं के साहचर्य से आदमी ने भी इसे सीख लिया है। मानव-विकास में इस वृत्ति का विशेष महत्व है। उसकी अन्य वृत्तियाँ उसके स्वार्थ का साधन हैं, यह कोमल वृत्ति उनके उदात्त स्नेह को जगाती है, उसकी परोपकार वृत्ति को प्रोत्साहित करती है।

काम-वासना का सबसे अधिक दमन किया जाता है। यह वृत्ति मनुष्य की सबसे बड़ी प्रेरणा है। इसका दमन करने से हम उस

शक्ति को प्राय: नष्ट कर डालते हैं जिसका बहुत सुन्दर उपयोग बाल-शिक्षण में किया जा सकता है। किशोरावस्था में इस वृत्ति का असाधारण उत्कर्ष देखने में आता है। उस समय सजग एवं सदय रहकर यदि हम इस वृत्ति से प्राप्त शक्ति का शोध कर लें और उसका उपयोग कला, संगीत, काव्य आदि की शिक्षा में करें तो बहुत अधिक लाभ हो सकता है।

मनुष्य बड़ा ही अनुकरणप्रिय प्राणी है। वह दूसरों के विचारों, भावों तथा क्रियाओं का अनुकरण करता है। अन्य के विचारों का अनुकरण निर्देश ग्रहण करना कहलाता है; भावों का अनुकरण सहानुभूति तथा क्रियाओं का अनुकरण, अनुकरण कहलाता है। बालक अपने विचार प्राय: समाज से उधार लिए रहता है। घर में, स्कूल में, पड़ोस में जिस विचार के लोग रहते हैं उसके विचार भी वैसे ही बन जाते हैं। उसे विश्वास दिला दीजिये कि वह दुष्ट है, हीन चरित्र है, तो वह वैसा ही बन जायगा। उसे उत्तरदायी, सदाचारी प्रसिद्ध कर दीजिये, वह निश्चय ही भला बन जायगा।

अपने आस-पास के लोगों के संवेगों की अनुभूति भी वह उन्हें देखकर करने लगता है। किसी को हँसता देखकर हँसने लगता है, क्रोध में देखकर स्वयं भी आवेश में बह जाता है। अध्यापक जिस कविता को पढ़कर आनन्द-विभोर हो जाता है, उसे पढ़कर वह भी, केवल इसीलिए, प्रशंसा की मूर्ति बन जाता है।

लोगों के कामों की, उनके आचरण की, भी नकल वह किया करता है। वेशभूषा, खानपान, शब्दों का प्रयोग तथा उनका उच्चारण वह अपने साथियों से ही लेता है। सिगरेट पीना, पान खाना आदि बच्चे अपने आस-पास के लोगों से ही सीखते हैं। अतएव इस अनुकरण शक्ति का शिक्षा में विशेष उपयोग होना चाहिये। उनके सामने यदि गुरुजन वांछनीय आदर्श उपस्थित करें, विचार, भाव तथा

आचरण को अनुकरणीय रूप में ही रखें, तो सुन्दर चरित्र का निर्माण बहुत सरलता पूर्वक किया जा सकता है।

प्रश्न

१—'अनुकरण-वृत्ति' (imitation) से क्या तात्पर्य है ? बालक के मनोविकास में इसका क्या स्थान है ?

२—भय (fear) के शिक्षा सम्बन्धी महत्व को संक्षेप में समझाइए।

३—जिज्ञासा वृत्ति (curiosity) की मनो-वैज्ञानिक विशेषता पर प्रकाश डालिए एवं स्पष्ट कीजिये कि बाल-मनोविकास में इसका क्या स्थान है ?

४—आत्म गौरव का मूल प्रवृत्ति (instinct of self assertion) से आप क्या समझते हैं ? बाल-विकास में उसकी क्या उपयोगिता है ?

५—निर्देश (suggestion) तथा अनुकरण (imitation) किस प्रकार बाल-विकास में सहायक होते हैं ? शिक्षक उसका क्या उपयोग कर सकता है ?

आदत एवं खेल

आदत (habit)—मनुष्य की यह एक स्वाभाविक वृत्ति है कि जिस काम को वह एक बार कर लेता है उसे फिर करना चाहता है, जिस विचार को एक बार मन में स्थान देता है उसे फिर मन में लाना चाहता है। परिचित के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में उसे आनन्द मिलता है। अपने अनुभवों की आवृत्ति में उसे परम तृप्ति मिलती है। बच्चे सुनी कहानी को दुबारा सुनना पसन्द करते हैं। बालप्रियकथासाहित्य में उन पुस्तकों का बहुत ऊँचा स्थान है जिनमें शब्द, वाक्य तथा कभी-कभी परिस्थितियों तक की आवृत्ति की जाती है। कविता में अनुप्रास तथा छन्द इसी मनोवृत्ति को संतोष देते हैं। गाने की लय तथा ताल इसी आवृत्ति के कारण इतने लोकप्रिय हैं। नृत्य में एक ही प्रकार की गतियाँ बार बार आकर हमारे मन को बलात् आकृष्ट कर लेती हैं। यह नियम इतना व्यापक है कि हमें सर्वत्र लय, गति अथवा शब्द-साम्य का ही एकाधिकार दिखाई पड़ता है। हमारी रक्त-वाहिनी शिरायें तथा हमारी श्वासप्रक्रिया, टी० पी० नन के शब्दों में, एक ही गति की आवृत्ति निरन्तर करती दिखाई देती हैं। जड़ पदार्थों में भी पहले के किये काम को दुहराने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कागज़ को एक जगह से मोड़ दो। दुबारा मुड़ने का मौका आने पर वह वहीं से मुड़ जायगा। कोट अथवा पेंट की टूटन जहाँ होती है वह वहीं से दुबारा मुड़ना चाहता है। पूर्वकृत अनुभव की आवृत्ति करने की यह इच्छा ही हमारी समस्त आदतों का मूल है। प्रत्येक अनुभव को हम दुहराना चाहते हैं। जो अनुभव जितना ही दुहराया जाता है उसका संस्कार उतना ही दृढ़ होता जाता है और उसको दुहराने की इच्छा उतना ही

बलवती। बार-बार किये जाने से वह संस्कार हमारे स्वभाव का अङ्ग बन जाता है। आवृत्ति से पुष्ट संस्कार ही हमारी आदतें हैं।

मूल-प्रवृत्ति तथा आदत में अन्तर है। मूल-प्रवृत्ति जन्मजात संस्कार होता है, आदत अर्जित संस्कार का नाम है। परन्तु उनमें समानता भी कम नहीं होती। एक बार आदत पड़ जाने के बाद उसका स्वरूप बहुत कुछ मूल-प्रवृत्तियों का सा ही हो जाता है। जेम्स मूल-प्रवृत्ति को जातिगत आदत (racial habit) एवं आदतों को हमारी दूसरी प्रकृति (second nature) कहा करता था। जिस प्रकार मूल-प्रवृत्तियों के कार्य अचेतन अथवा अर्द्धचेतन दशा में अपने आप चलते रहते हैं वैसे ही जिस काम को करने की हमें आदत पड़ जाती है उसमें अवधान की तो बिल्कुल ही ज़रूरत नहीं रहती या बहुत कम रहती है। मूल-प्रवृत्ति से प्रेरित कार्य जिस प्रकार अनायास तथा कुशलता पूर्वक हुआ करते हैं वैसे ही जिस काम को करने की हमें आदत पड़ जाती है वह भी होने लगता है। मूल-प्रवृत्ति जिस तरह हमें विशिष्ट अनुभवों के लिए प्रेरित करती है, उनके लिये हमें आतुर बनाती है, वैसे ही हमारी आदत भी पूर्वानुभूति की पुनः प्राप्ति के लिए हमें उतावला बना देती है। इसीलिए आचरणवादी (behaviourists) मूल-प्रवृत्ति तथा आदत में बहुत भेद नहीं मानते।

अभी हमने बताया कि मूल-प्रवृत्तियों की ही भाँति आदतें भी विशिष्ट अनुभूतियों के लिए हमें प्रेरणा देती हैं, उनके लिए हमारे मन में एक प्रकार की तृष्णा (urge) उत्पन्न करती हैं। मैकडूगल इस बात को नहीं मानता। उसका कहना है कि आदत किसी भी दशा में प्रेरणा नहीं बन सकती। प्रेरणा तो मूल-प्रवृत्ति अथवा सामान्य प्रवृत्ति से ही मिलती है। आदत में जो प्रेरणा दिखाई देती है वह उसी मूल-प्रवृत्ति की प्रेरणा है जिसके अनुरोध से पहले पहल, आदत पड़ने से पहले, हमने अनुभव किया। उसी को बार-बार करके

ही तो आदत पड़ी है। अतएव आदत में कभी कोई मौलिक प्रेरणा नहीं हो सकती। किन्तु थोड़ा विचार करने से पता चलता है कि आदतों में भी मौलिक तृष्णा उत्पन्न करने की शक्ति होती अवश्य है। हम में से प्रत्येक को आदत से उत्पन्न नई-नई तृष्णाओं का अनुभव होगा। तम्बाकू पीने की आदत को ही लीजिये। जब तक हमें उसकी आदत नहीं पड़ जाती कोई मनोवृत्ति तम्बाकू पीने की प्रेरणा नहीं करती। तम्बाकू पीने की इच्छा भोजनान्वेषण-वृत्ति (food-seeking instinct) की प्रेरणा से भिन्न है तथा मैकडूगल की गिनाई हुई अन्य वृत्तियों में से किसी से उसका सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता। वह एक विशेष प्रकार की प्रेरणा है और कितनी प्रबल! आदमी बिकल हो उठता है। कितनी बेचैनी उसे होती है इसका ज्ञान किसी भुक्तभोगी को ही होगा। जो प्रात: उठकर स्नान करने के आदी हैं उन्हे उस समय, जब किसी कारणवश, नहाने को नहीं मिलता तो वे कैसे खोये खोये से दिखाई देते हैं इसे कौन नहीं जानता। अखबार पढ़ने के लिए विकल हो उठना केवल कुतूहलवृत्ति (curiosity) के अनुरोध से नहीं होता, आदत के कारण भी होता है। आदत पड़ने से पहले और आदत छूट जाने के बाद उसके लिए हमें भीतर से प्रेरणा नहीं मिला करती। हमारे एक मित्र हैं जिनको सोने से पहले दूध पीने की आदत है। वह चाहे जितना खाना खाये हों किन्तु जब तक दूध उन्हें पीने को नहीं मिल जाता ठीक से नींद नहीं आती। टेनिस का खिलाड़ी ठीक समय से ही क्लब की ओर चल पड़ता है। किताब पढ़ने में, बात करने में, उस समय उसका जी नहीं रमता। टेनिस के बावजूद भीं हमें मानना ही होगा कि आदतें नवीन प्रेरणायें दे सकती हैं और देती हैं। अतएव व्यक्तित्व-विकास एवं चारित्रिक शिक्षा में उचित आदतों के डालने का एक विशेष महत्व है।

आदत के गुण-दोष—वास्तव में शिक्षा वांछनीय आदतें डालने का ही दूसरा नाम है। हम लिखना सिखाते हैं। जिसे बिलकुल लिखना नहीं आता उसे बार-बार लिखने का अभ्यास कराते हैं। जब भली भाँति आदत पड़ जाती है तो बहुत आसानी से लिखा जा सकता है। टाइप करना, गणित के प्रश्नों को हल करना, सब आदत पड़ने पर ही सम्भव हो सकता है। जेम्स ने "शिक्षकों से दो-दो बातें" (Talks to Teachers) नामक पुस्तक में लिखा है कि हम लोग केवल कुछ 'आदतों के पुंज' भर हैं। आदतों से शिक्षा कार्य में बड़ा लाभ होता है, सबसे मूल्यवान् वस्तु समय है। बीता समय किसी प्रकार वापस नहीं बुलाया जा सकता और हमारे पास, हम सब के पास, परिमित समय ही होता है। आवश्यक कार्यों में समय की बचत करके एक प्रकार से हम जीवन को ही अधिक लम्बा बना देते हैं। आदत पड़ जाने पर काम जल्दी किया जा सकता है। जो लड़का आरम्भ में बड़े परिश्रम के बाद आध घंटे में एक अक्षर लिख पाता है वही अभ्यास के फलस्वरूप आदत पड़ जाने पर कई पृष्ठ उतने ही समय में लिखने लगता है। शुरू में जब हम टाइप करना सीखते हैं तो एक मिनट में पाँच सात अक्षरों को टाइप कर लेना भी काफी मुश्किल मालूम पड़ता है। आदत पड़ जाने के बाद सामान्यतः लोग १५० अक्षर प्रति मिनट छाप सकते हैं। इसी प्रकार जिस काम को हमें आदत पड़ जाती है वह कम समय में ही होने लगता है तथा उसमें श्रम भी कम पड़ता है।

आदत से कार्य में केवल शीघ्रता ही नहीं होती वरन् कुशलता भी आ जाती है। हम काम थोड़े समय में अधिक सुन्दरता के साथ करने लगते हैं। मिट्टी के खिलौने जब कोई पहले बनाना शुरू करता है तो से बहुत समय तो लगता ही है, खिलौना भद्दा भी बनता है। आदत पड़ जाने पर कहीं अधिक सुन्दर खिलौना वह बनाने लगता है। यही बात लिखने, पढ़ने, गणित के प्रश्न हल करने, चित्र बनाने

आदि के सम्बन्ध में ठीक है। आदत कुशलता की जननी है।

आदत का एक और प्रभाव होता है। आदत पड़ जाने पर काम अपने आप होने लगता है, उसमें अवधान की जरूरत नहीं पड़ती। यदि हमें चलने की आदत न पड़ जाय और हम चलना आरम्भ करने वाले नवजात शिशु की तरह प्रत्येक कदम को सोच समझ कर, पूरी मानसिक शक्ति लगाकर, रखते रहें, यदि चलते समय हमारा ध्यान केवल चलने की क्रिया में ही लगा रहे, हम उसे और किसी ओर न लगा सकें, तो हमारा जीवन एक भार हो उठे। जीवन के साधारण से साधारण काम ही कभी पूरे न हो सकें, नवीन बातें सोचने की चर्चा चलाना तो दूर की बात है।

अतएव हमारे विकास में आदतों का एक विशेष महत्व है। छोटे-मोटे साधारण परन्तु जीवन के लिये परम आवश्यक कार्य हम आदत के सुपुर्द कर देते हैं—वे मशीन की तरह स्वयं हुआ करते हैं। उनके लिये हमें विचार-व्यय नहीं करना पड़ता। हमारा मस्तिष्क अधिक गम्भीर समस्याओं को हल करने के लिये खाली हो जाता है। एक खास समय पर उठना, शौचादि, स्नान-भोजन, लोगों से मिलने पर यथोचित अभिवादन आदि हम ठीक यंत्रचालित की भाँति किया करते हैं। यदि नित्य प्रातः उठकर हमें इन सब बातों का क्रम सोचना पड़े, उनको किस विधि से करना होगा यह विचार करना पड़े तो, मेरा ख्याल है, हमारी विचार-शक्ति और किसी काम में लगाई जाने को बचे ही नहीं। यंत्र की तरह वह सब करते रहकर हम अपने मस्तिष्क को ऊँची-ऊँची राजनीतिक, दार्शनिक वैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने में जो लगाये रह सकते हैं—लगाये रहते हैं—वह केवल इसीलिये कि इन कामों की आदत हमें पड़ चुकी है। अतएव आदत हमारे श्रम, समय, अवधान की बचत करके हमारा बहुत उपकार करती है।

परन्तु जहाँ आदत इतना उपकार कर सकती है वहाँ अपकार कर सकने की क्षमता भी उसकी बहुत बड़ी है। यदि एक बार कोई आदत पड़ जाती है तो उसके भी हम गुलाम बन जाते हैं। कितना ही प्रयत्न करें, कितने ही सत्संकल्प करें, आदत के सामने सब परास्त हो जाते हैं। शराबी शराब को चाहने पर भी, नहीं छोड़ पाता, जुआरी नित्य प्रतिज्ञा करता है कि अब नहीं खेलेंगे किन्तु अवसर आने पर जुआ-घर की ओर वैसे ही चल पड़ता है जैसे चुम्बक की ओर लोहा विवश खिंच जाता है। अतएव जहाँ अच्छी आदतें डालने का महत्व है, वहाँ बुरी आदतों से बचे रहना उससे अधिक ज़रूरी है।

आदतों के विरोध में एक बात और कही जाती है। कहते हैं उससे मौलिकता नष्ट होती है। आदत पड़ जाने पर हम नई पद्धति को अपनाना नहीं चाहते। वह हमें लकीर का फकीर, अनुदार एवं परिवर्तन-विरोधी बनाती है। वह व्यक्तित्व-विकास में बाधक होती है। रूसो इसीलिये आदत का घोर विरोधी था। उसने लिखा है—"इमील (उसका आदर्श बालक) केवल एक आदत डालेगा और वह है किसी प्रकार की आदत न डालने की आदत।" रूसो की घबराहट हम समझ सकते हैं। जिस परिवर्तन हीनता एवं अन्ध-परम्परा से आज हमारा समाज परेशान है वह इन्हीं आदतों का परिणाम है। किन्तु उसका जो उपचार रूसो ने बताया है वह ठीक नहीं है। यह सच है कि हमें मशीन नहीं बनना है पर यह भी तो सच है कि प्रत्येक व्यक्ति, हर समय, प्रत्येक क्षेत्र में, न तो विकास अथवा आविष्कार करना ही चाहता है और न चाहने पर कर ही सकता है - अतएव जिस बात में विशेष परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है उसे आदत के द्वारा सरलता एवं सफलता के साथ सम्पादित करके हम आवश्यक कार्य में अधिक अवधान एवं समय दे सकते हैं। जब-जब भूख लगे तब-तब यदि हम घी पीने लगें तो वह अवश्य ही हानि पहुँचावेगा परन्तु इसलिये क्या यह उचित है कि हम

घी को एक दम ही खाद्य पदार्थों से निकाल दें ?

आदतें अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ आदतें क्रिया सम्बन्धी होती हैं। लिखना, चित्र बनाना, साइकिल चलाना, टाइप करना आदि क्रिया-गत आदतें हैं। आदत पड़ जाने पर ये काम प्राय: यांत्रिक ही हो जाते हैं। किन्तु बिल्कुल यांत्रिक हो जाँय ऐसी बात नहीं है। संभवत: थोड़ी बहुत चेतना प्रत्येक कार्य में रहती ही है। कुछ कार्य तो ऐसे होते हैं जिनका अंश-मात्र ही यांत्रिक बन सकता है। स्टाउट लिखता है—"परम कुशल मल्ल भी द्वन्द्व युद्ध करते समय इधर उधर के विचारों में तल्लीन नहीं रह सकता। प्रत्युत उसे वर्तमान क्रिया में बहुत सजगता एवं ध्यान से काम लेने की जरूरत पड़ती है" इसी प्रकार हमें विचार करने की भी आदत पड़ जाती है। एक विशिष्ट दिशा में, विशिष्ट प्रकार के विचार करने की आदत सी हो जाती है। अन्त्याक्षरी में भाग लेते-लेते कुछ विद्यार्थियों की आदत पड़ जाती है कि किसी कविता को सुनते ही उसके अन्तिम अक्षर से आरम्भ होने वाले छन्द अनायास उन्हें स्मरण हो आते हैं। शब्द-श्लेष (pun) की आदत जिन्हें पड़ जाती है वे किसी शब्द को सुनकर इसके प्रकृत अर्थ से भिन्न कुतूहल-वर्द्धक अनेक अर्थों की उद्भावना प्राय: बिना विचारे ही करने लगते हैं। इसी प्रकार इच्छा करने की आदत भी पड़ जाती है। कोई काम आ जाने पर उसे बिना स्थगित किये कर डालना, समय की पाबन्दी आदि की इच्छा भी आदत बन जाती है यद्यपि ऐसे कामों में भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियायें भिन्न-भिन्न समयों पर करनी होती है, उनमें अवधान की भी बराबर आवश्यकता रहती है, परन्तु उन्हें ठीक समय से, ठीक प्रकार से करने की इच्छा आदत बन जाती है।

आदत के नियम—जेम्स ने आदत डालने के कुछ नियम बताये हैं। वह कहता है कि जिस बात की आदत डालना हो हमें उसके लिये दृढ़ व्रत लेना चाहिये। यदि सम्भव हो तो ऐसा व्रत बहुत लोगों

के सम्मुख लेना चाहिये। जिससे आत्म गौरव की रक्षा करने के लिये ही उसका पालन करना हमारे लिये आवश्यक हो जाय। व्रत लेने के पश्चात दूसरा काम हमें यह करना चाहिये कि उसे कार्य रूप में परिणत करने में शीघ्रता करें। समय जितना टलता जाता है, इरादा उतना ही शिथिल होता जाता है। व्रत लेकर भी उसके अनुसार आचरण न करने की आदत हमारे चरित्र को बिलकुल अवांछनीय बना देती है। अतएव व्रत को लेने के पश्चात् उसे शीघ्रातिशीघ्र कार्य रूप देना चाहिये, सर्व प्रथम अवसर को हाथ से न जाने देना चाहिये। तीसरी बात जिसका ध्यान रखना आवश्यक है यह है कि कार्य प्रारम्भ करने के बाद उसमें अपवाद नहीं करना चाहिये। जब तक आदत पूर्णतया पुष्ट न हो जाय तब तक किसी भी प्रलोभन से उसके विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार किसी सूत के गोले को बहुत देर तक लपेटने के बाद यदि छोड़ दिया जाय तो एक बार छूटने से बहुत देर श्रम व्यर्थ हो जाता है वैसे ही बहुत दिनों की पड़ी आदत एक भी अपवाद से ढीली पड़ जाती है। आदत डालने में चौथी आवश्यक बात यह है कि जहाँ तक सम्भव हो काम किया जाय। बात, सूक्ष्म विचार, ऊँची-ऊँची उड़ान, मन को दूसरी ओर ले जाकर चित्त को चंचल करते हैं; आदत में सहायक बनने के स्थान में बाधक होते हैं। पाँचवीं बात यह है कि आदत पड़ जाने के बाद भी, कभी-कभी उसकी आवृत्ति करके उसका अभ्यास बनाये रखना चाहिये अन्यथा उसके भूल जाने की, उसके अनभ्यस्त हो जाने की, सम्भावना रहती है। इन पाँच बातों का ध्यान रखने से अनेक उपयोगी आदतें डाली जा सकती हैं तथा बुरी आदतें छोड़ी जा सकती हैं।

शिक्षा में उचित आदतें डालकर एवं बुरी आदतों से बच्चों को बचा कर बहुत लाभ उठाया जा सकता है। समय से काम करने की, शिष्टाचरण की, कायदे मानकर चलने की, स्वाध्याय की, सुन्दर

आदतें यदि आरम्भ में पड़ जाती हैं तो वे श्रेष्ठ चरित्र के निर्माण में बहुत सहायक हो सकती हैं। इसके साथ ही शिक्षणीय विषयों में भी अभ्यास एवं आदत से बहुत लाभ होता है। व्याकरण के नियम, गणित के सिद्धान्त, भूगोल, इतिहास आदि के सामान्य ज्ञान को मुखस्थ रखने से अगला कार्य करने में बहुत सुविधा हो जाती है। शिक्षा का जो क्रियात्मक भाग है वह तो बिना बार-बार की आवृत्ति के, बिना आदत बने, कभी उचित रूप से हो ही नहीं सकता। लिखना आदत से ही सम्भव है, चित्र-कला बिना अनवरत अभ्यास के आ ही नहीं सकती। पर उसके ऊपर उठ कर साफ़ लिखना, सुन्दर चित्र बनाना भी आदत का ही परिणाम हैं। आदत की शक्ति को जानकर प्रत्येक बुरी आदत से बचने की सावधानी भी रखनी होगी। अच्छी आदतें डालना तथा बुरी आदतों से बचाना दोनों ही शिक्षा के अंग हैं।

खेल (play)—खेल मनुष्य मात्र को प्रिय है। किसी न किसी रूप में सभी खेलना चाहते हैं। बच्चे तो जैसे खेल छोड़कर और कुछ भी नहीं करना चाहते पर बड़े बूढ़े भी खेल में कुछ कम मज़ा नहीं लेते। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से हमारे यहाँ के प्रौढ़ भी नियमित खेल खेलने लग गये हैं। शतरंज, ताश, चौपड़ इत्यादि खेलने वालों की पहले भी कमी न थी। एक समय नाटक इत्यादि देखने का भी बहुत प्रचार था। हँसी-दिल्गी भी खेल का ही एक रूप है। होली पर भी शिष्टाचार, नियम, मर्यादा को बहाकर जिस परिहास, धूल कीचड़, रंग-अबीर की बहिया सी आ जाती है वह सब खेल ही तो है।

खेलने की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति मनुष्यों तक ही सीमित हो सो बात भी नहीं है। जानवर भी खेलते हैं। कुत्ते आपस में खेल खेल में लड़ते हैं। बिल्ली का बच्चा कपड़े का चूहा बना कर उसके शिकार

करने का स्वांग बनाया करता है। खेल की वृत्ति प्रकृतिदत्त शक्ति है जो अन्य वृत्तियों की ही भाँति प्राणियों को मिली है और जिसका उपयोग उनके कल्याण के ही लिये होता है।

खेल आखिर किसे कहते हैं ? उनके लक्षण क्या हैं ? खेल तथा काम, बोलचाल की भाषा में, विपरीत क्रियायें समझी जाती हैं। तो काम एवं खेल में क्या भेद है ? और सबसे बड़ी बात, खेल की प्रवृत्ति देकर प्राणियों का क्या हित प्रकृति करना चाहती है ? खेल की परिभाषा निश्चित करने से पहले हमें यही देख लेना चाहिये कि इस मनोवृत्ति को देकर प्रकृति जीव का क्या उपकार करती है और कैसे ?

खेल की वैज्ञानिक व्याख्या—इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों का प्रचार है ! खेल की उपयोगिता भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न ढँग से समझाई है। हर्बर्ट स्पेंसर का सिद्धान्त है कि प्राणी को जो प्राकृतिक शक्ति मिली है उसका काफ़ी अंश तो वह भोजन-संग्रह में, शत्रुओं से अपनी रक्षा करने में एवं प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों से लड़ने में ख़र्च कर देता है। किन्तु इसके पश्चात् भी कुछ शक्ति बच रहती है। वह अतिरिक्त शक्ति (surplus energy) किसी काम में नहीं आ सकती। अतएव उसके निकास के लिये खेलों का विधान किया गया है। जिस प्रकार इंजन में एक सेफ़टी वाल्व (safety valve) रहता है जिसके द्वारा अप्रयुक्त तथा अतिरिक्त भाप बाहर निकाल दी जाती है उसी प्रकार खेल भी प्रकृति का बनाया एक सेफ़टी-वाल्व है। जिस शक्ति की प्राणी को आवश्यकता नहीं होती वह खेल के द्वारा व्यय कर दी जाती है। इस सिद्धान्त को अतिरिक्त-शक्तिवाद (surplus Energy Theory) कहा गया है।

यह सिद्धान्त काफी युक्ति-संगत मालूम पड़ता है। जो व्यक्ति जितना ही दूर जीवन-संग्राम में व्यस्त रहता है वह साधारणत: खेल से उतना ही दूर रहता दिखाई पड़ता है। खेल ज्यादातर बच्चे खेलते हैं

क्योंकि उन्हें अपनी शक्ति भोजनान्वेषण इत्यादि में बिल्कुल ही नहीं ख़र्च करनी पड़ती। परन्तु इस सिद्धान्त में दो कठिनाइयाँ हैं। कभी कभी काफी थके होने पर भी लोग खेलना चाहते हैं, जब, समझना चाहिये, उनके पास अतिरिक्त शक्ति नहीं होती। दिन भर दफ्तर में काम करके, थककर, परेशान होकर टेनिस खेलने और अधिक पसीना बहाने में अतिरिक्त शक्ति ख़र्च करने की बात कुछ कम ही समझ में आती है। और दूसरी बात जो इस सिद्धान्त के पूर्णत: ठीक होने में शङ्का उपस्थित करती है यह है कि इंजन की अतिरिक्त शक्ति को कदाचित् अनेक उपयोगी कार्यों में लगाया जा सकता है परन्तु, जैसा नन ने कहा है, यह नहीं हो सकता कि उस शक्ति का उपयोग इंजन को ही अधिक अच्छा बनाने में किया जा सके। इंजन की अतिरिक्त शक्ति से इंजन को ही और अच्छा बनाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। और खेल के द्वारा प्राणी विकास करता है, उन्नति करता है, श्रेष्ठ बनता है। अतएव यह सिद्धान्त यद्यपि कुछ खेलों को समझाता है किन्तु सभी खेलों को नहीं।

एक दूसरा सिद्धान्त है जिस पर लार्ड किन्स ने बहुत ज़ोर दिया है। उनका कहना है कि क्षीण शक्ति को फिर से देना, उसकी पुन: प्राप्ति, खेल का उद्देश्य है। खेल से अतिरिक्त शक्ति का व्यय नहीं, खोई शक्ति का पुनर्निर्माण होता है। मनोरंजन तथा आराम करने से हमारे अवयव फिर से शक्ति का अर्जन करने में समर्थ हो जाते हैं कुछ वैसे ही जैसे कभी-कभी खेत को परती छोड़ देने से उसकी उर्वरता में वृद्धि हो जाती है। इस सिद्धान्त को पुन: प्राप्तिवाद (Recreation Theory) कहते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त भी उन परिस्थियों की कोई मीमांसा नहीं करता जब शक्ति का व्यय नहीं हुआ रहता और जब शायद इसीलिये खेल की आवश्यकता एवं इच्छा बढ़ जाती है। छोटे छोटे बच्चे जिन्हें खेल को छोड़कर अन्य

कोई काम ही नहीं रहता किस लिए खेलते हैं ? जब शक्ति का ह्रास हो नहीं हुआ तो पुन: प्राप्ति कैसी।

(३) स्टैनले हाल ने, जिसे अतीत से विशेष प्रेम है, खेल की एक और उपपत्ति दी है। उसका कहना है खेल में बालक मानव जाति के विकास की पूर्वावस्थाओं की पुनरावृत्ति करता है। संस्कृति के शैशव काल में एक युग ऐसा भी रह चुका है जब पूर्ण विकसित प्रौढ़ मनुष्य का मस्तिष्क आज के बच्चों के ही समान था। गुफा, पेड़ अथवा वन का निवास तथा आखेट करके जीविका-अर्जन करना उसका सामान्य जीवन था। जन्म के समय बच्चा उन पीढ़ियों के समस्त संस्कार सूक्ष्म रूप से लेकर ही आता है। उन संस्कारों की प्रेरणा से शिकार, युद्ध, पेड़ पर चढ़ने आदि में बच्चा परम आनन्द पाता है। जब उसकी बुद्धि का विकास हो जाता है और वह मानव इतिहास की उस अवस्था की आवृत्ति कर चुकता है, जिसमें यही खेल वास्तविक जीवन के वास्तविक व्यापार थे, तो वह खेलना अपने आप बन्द कर देता है। बाल्यकाल असभ्य मानवता का काल है। इस समय बालक उसी इतिहास को दुहराता है। अतएव खेल उसके बालक होने का परिणाम है। हम बालक हैं इसी लिये खेलते हैं इस सिद्धान्त को पुनरावृत्तिवाद (Recapitulation Theory) कहते हैं।

इस सिद्धान्त में बहुत तथ्य है। बच्चों के अनेक खेलों की इस सिद्धान्त के द्वारा बड़ी संगत एवं सहेतुक व्याख्या की जा सकती है। बच्चों के अनेक खेल तो सचमुच मानवता के शैशव का स्मरण दिलाते हैं। रास लिखता है—"छिपने तथा खोजने का खेल, पीछा करना, आखेट करना तथा मछली मारना, पत्थर फेंकना, घर तथा अन्य प्रकार के आवासों का निर्माण, विशेषत: पेड़ों पर, गुफाओं के प्रति प्रबल ममता, ये सब मानव-जाति के बचपन के जबर्दस्त स्मारक हैं।" स्टैनले हाल का कहना है कि "बालक का खेल के प्रति जो इतना

मोह है वह कदाचित् इसीलिए कि खेल में उसके खोये हुए स्वर्ग की मधुर स्मृति ताज़ी हो उठती है।" परन्तु प्रौढ़ों के खेलों तथा बच्चों के अनेक कल्पना-चित्रों (परी की कल्पना, उड़ने के जाग्रत स्वप्न) की मीमांसा इस सिद्धान्त से भी नहीं होती। हाँ इतना माना जा सकता है कि हमारे खेलों में अनेक ऐसे भी हैं जिनमें हम अवश्य ही अपने अतीत की आवृत्ति करते हैं।

(५) कार्लग्रूस एक और ही प्रकार से खेल की व्याख्या करता है। उसकी युक्ति भी प्रबल है। यह कहता कि "खेल वास्तव में प्रकृति की पाठशाला है जिसमें प्राणी भावी जीवन के लिए उपयोगी आचरण की शिक्षा ग्रहण करता है"। खेल के द्वारा बच्चा भविष्य जीवन की तैयारी करता है। जो काम उसे आगे चलकर प्रौढ़ जीवन में करने होंगे वह पहले से ही एक बार उनका अभिनय कर लेना चाहता है जिससे उस प्रकार की परिस्थिति आने पर वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ न हो जाय। इस सिद्धान्त को पूर्वाभिनयवाद (Anticipatory Theory) कहते हैं।

लड़कियाँ जो गुड्डे-गुड़ियों का खेलखेला करती हैं वह इस बात को भली भाँति पुष्ट करता है। जिस प्रकार की क्रियायें उन्हें भविष्य में करनी हैं उन सबका खेल में अभिनय किया जाता है। बच्चों का पालन-पोषण, ब्याह, खाना पकाना इत्यादि सभी बातों का अभिनय होता है। बच्चों के युद्ध के खेल भी इस सिद्धान्त से समझाये जा सकते हैं। भावी जीवन में उन्हें जो अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना होगा इसकी तैयारी जैसे वे अभी से कर रहे हैं। कुत्ते तथा बिल्लयाँ जो शिकार तथा युद्ध के अभिनय किया करते हैं उनको भी भविष्य-जीवन की तैयारी ही समझना चाहिये। ग्रूस का कहना है कि जो प्राणी जितना ही असहाय उत्पन्न होता है उसका बाल्य-काल उतना ही लंबा होता है क्योंकि जीवन-समर के लिये तैयारी

उसे उतनी ही अधिक करनी होगी। बतख का बच्चा परिस्थितियों का मुकाबिला करने की पूरी शक्ति लेकर ही जन्म लेता है अतएव वह खेल नहीं खेलता। जन्म के समय मानव-शिशु बिलकुल निस्सहाय होता है। उसकी शक्तियों का जितना ही अधिक विकास सम्भव होता है उतना ही कम विकसित वे आरम्भ में होती हैं। उनके विकास के लिए काफ़ी समय एवं काफ़ी अभ्यास चाहिए। अतएव उसका बचपन लंबा होता है। उसे अधिक तैयारी करनी है, अधिक अभिनय करना है, अधिक खेल खेलना है। "वह बालक है इसलिये नहीं खेलता वरन् हमें समझना चाहिए कि चूंकि उसे बहुत खेलना है इसीलिए वह बालक है।" प्रकृति ने उसे लम्बा बचपन खेलने के ही लिए दिया है।

अधिकांश खेलों को इस सिद्धान्त की मदद से समझाया जा सकता है। किन्तु फिर भी अनेक ऐसे खेल हैं जो बड़े जटिल हैं और इसीलिए जिनकी कोई स्पष्ट, निश्चित उपयोगिता भविष्य जीवन के लिये नहीं प्रतीत होती। ग्रुस का कहना है कि वे भविष्य की जटिल परिस्थितियों के प्रतीक हैं। जटिलता स्वयं एक समस्या है तथा जटिल खेल उसी के लिये हमें तैयार करते हैं।

(5) एक और सम्प्रदाय है जिसे हम रेचनवाद (Cathartic Theory) कह सकते हैं। उसकी दृष्टि में खेलों की उपयोगिता उनका रेचक होना है। मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी भी हैं जिनके प्रकाशन का सुयोग उसे जीवन में नहीं मिलता। उसके आत्मगौरव की भावना का पद-पद पर दमन किया जाता है, उसकी युयुत्सा वृत्ति (combative instinct) का प्रकाशन सदा ही उसकी निन्दा का कारण बनता है। काम-वृत्ति का दमन तो कदाचित्, एक दृष्टि से, उचित भी है। ये सभी दबी हुई वृत्तियाँ उसे उद्विग्न किये रहती हैं। प्रकाशित न होने से ये उसे भीतर ही भीतर व्यथित किया करती हैं। खेल के द्वारा एक बहाने से, एक व्याज से, वे निकल आती हैं और जिस प्रकार अवांछनीय मल

के छूट जाने से पात्र शुद्ध एवं परिष्कृत हो जाता है वैसे ही इन निरुद्ध प्रवृत्तियों के प्रकाशन से अन्त:करण निर्मल हो जाता है। खेल का मन पर वही प्रभाव पड़ता है जो एक रेचक औषधि का शरीर पर।

हमने देखा कि खेल में निहित प्रकृति के उद्देश्य को विभिन्न प्रकार से समझाया गया है। और यद्यपि कोई भी एक सम्प्रदाय सभी प्रकार के खेलों की मीमांसा नहीं कर सकता परन्तु सब मिलकर निश्चय ही इस प्रवृत्ति का उचित विश्लेषण कर देते हैं अनेक खेलों का उद्देश्य अथवा परिणाम अवश्य ही जीवन-संग्राम के लिये तैयार करना होता है। अनेक खेल ऐसे भी होते हैं जिनकी दृष्टि भविष्य की अपेक्षा अतीत की ओर ही अधिक लगी दिखाई पड़ती है, उन में भविष्य की तैयारी के बजाय अतीत की पुनरावृत्ति ही विशेष रूप से क्रिया-शील प्रतीत होती है। अतिरिक्त शक्ति का सिद्धान्त भी बहुत खेलों की सच्ची व्याख्या करता है परन्तु यह भी सच है कि खेल में शक्ति का व्यय मात्र ही नहीं होता, शक्ति का संग्रह भी उसका परिणाम होता है। उससे स्फूर्ति मिलती है और इसीलिये थके रह कर भी हम प्राय: खेलते हैं और खेल कर और अधिक नहीं थक जाते वरन् थकावट को दूर कर देते हैं। बहुतेरे खेलों के द्वारा हम निरुद्ध वृत्तियों का रेचना भी करने में समर्थ होते हैं। कामवृत्ति तथा युयुत्सावृत्ति का शोध एवं मार्गान्तरीकरण इसी सिद्धान्त के द्वारा समझाया जा सकता है। अतएव हमें किसी एक ही मत को सत्य न समझ कर, सभी में सत्य को स्वीकार करना चाहिये। ये सब सिद्धान्त पारस्परिक पूरक हैं, विरोधी नहीं। इस समन्वय दृष्टि के बिना हम किसी एक ही मत के सहारे सभी प्रकार से खेलों की समुचित मीमांसा नहीं कर सकते।

खेल के स्वरूप पर विचार—सामान्यत: खेल का अर्थ हम सभी जानते हैं परन्तु उनका तात्विक विवेचन करने लगते हैं तो समस्या कठिन होती सी प्रतीत होने लगती हैं। आखिर यह खेल क्या है?

आरम्भ में हम बता चुके हैं कि खेल का अर्थ मामूली तौर से काम के विपरीत समझा जाता है। काम सोद्देश्य क्रिया को कहते हैं, उसका कुछ लक्ष्य रहता है। काम स्वयं तो उस लक्ष्य-प्राप्ति का साधन भर होता है, उसका साध्य कुछ और होता है। अध्यापक स्कूल में पढ़ाता है। उसका पढ़ाना काम है क्योंकि पढ़ाना उसके जीविकोपार्जन का साधन है। किसान खेती करता है। खेती करके पैसा कमाना उसका लक्ष्य है। अतएव खेती करना उसका काम हुआ। लड़के पढते हैं। माता पिता को प्रसन्न करना, योग्य बनकर सफलतापूर्वक जीवन बिताना, उनका उद्देश्य है। पढ़ना उस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है। अत: पढ़ना उनके लिए एक काम हुआ। इसके विपरीत वही लड़के क्रिकेट खेलते हैं। यहाँ पर क्रिकेट स्वयं साध्य है, वही अन्तिम लक्ष्य है। अतएव यह खेल हुआ। हाकी तथा फुटबाल भी खेल हैं। उनसे स्वास्थ्य बढ़ सकता है, अच्छा खेलने पर पारितोषिक भी मिल सकता है, परन्तु खेलने वाले बच्चों का मुख्य लक्ष्य वे नहीं हैं। मुख्य लक्ष्य तो खेलना स्वयं है। यदि यही खेल जीविकोपार्जन का साधन बन जाय और उसका उद्देश्य पैसा कमाना हो जाय तो वह बच्चों के लिए काम हो जायगा। तब आँख खेल पर नहीं, पैसे पर होगी; मुख्य उद्देश्य खेलना नहीं, पैसा कमाना होगा। खेलने के लिये जो आदमी नौकर रखे जाते हैं उनके लिये खेल काम बन जाता है।

खेल की दूसरी विशेषता उसका स्वतंत्र क्रिया होना है। काम करने अथवा न करने को हम स्वतंत्र नहीं हैं, काम हमें करना ही पड़ता है, पर खेलते हम अपनी इच्छा से हैं। दफ्तर में काम करने जाना ही होगा, क्लब में टेनिस खेलने जाँय चाहे न जाँय। खाना खाना काम है। खाने को हम विवश हैं। जैसा मन का कथन है हम खाने का स्थान तथा समय बदल सकते हैं, थोड़े बहुत समय के लिए उसे स्थगित भी कर सकते हैं, किन्तु आखिर उसके लिये मजबूर होना ही पड़ेगा।

खाना तो सदा के लिये टाला नहीं जा सकता। परन्तु फुटबाल आदिक खेल बिना खेले भी जीवन मज़े में बिताया जा सकता है। काम नियमित, नियंत्रित व्यापार है, खेल मन का सौदा। यह बात नहीं है कि खेल में किसी भी नियम का पालन करना आवश्यक न हो। अक्सर खेल के नियम काफी सख्त होते हैं तथा उनका मानना परम आवश्यक। परन्तु उन नियमों को हम अपनी मरज़ी से मानते हैं। हम जब चाहें खेल से अलग हो जाँय, और उस नियम-बन्धन से मुक्त हो जाँय। हम नियम मानते हैं क्योंकि उनके मानने में हमारी अपनी सम्मति है। खेल का बन्धन आत्म-निर्मित है, काम का बन्धन बाहरी होता है। प्रकृति अथवा परिस्थिति काम के नियमों को मान कर चलने के लिये हमें वाध्य करती है। यह सच है कि यदि हमें एक काम पसन्द नहीं है तो कोई दूसरा काम करने लग सकते हैं परन्तु काम से ही मुक्त हो जाँय यह सम्भव नहीं। जब तक उद्देश्य की पूर्ति अथवा समाप्ति नहीं होती किसी न किसी साधन की शरण में जाना ही होगा। यह विवशता, यह वाह्य नियंत्रण, काम का लक्षण है और इसका अभाव खेल की विशेषता।

खेल की तीसरी और कदाचित् प्रधान विशेषता है उसकी मनोरंजकता। खेल से हमारा मनोरंजन होता है। उसमें हमें आनन्द मिलता है। यह आनन्द ही एक प्रकार से खेल का उद्देश्य होता है। काम करने में हमारी आँख परिणाम पर रहती है। बिना पढ़ाये वेतन मिल जाय, बिना पकाये बना बनाया भोजन मिल जाय तो पढ़ाने तथा खाना पकाने की जहमत हम क्यों करें? बिना श्रम किये भी फल पाकर तृप्ति प्रायः उतनी होती है। किन्तु बिना खेले ही कोई हमें जिता दे तो आनन्द कहाँ? कमज़ोर खिलाड़ी के साथ जीतना हमें नापसन्द होता है, कुशल खेलने वाले के साथ हार कर भी हमें संतोष मिलता है। आनन्द खेलने में है, जीतने में नहीं। खेल हम

जीतने के लिए नहीं, आनन्द-प्राप्ति के लिए खेलते हैं। अतएव आनन्द-प्राप्ति खेल का चरम उद्देश्य है। यदि मनोरञ्जन को ही खेल कहा जाय—अकसर कहा भी जाता है—तो अनुचित न होगा। आनन्द की उपलब्धि तथा खेल प्राय: समानार्थक समझे जाते हैं।

जिस काम में हमें आनन्द मिलता है वह हमारे लिये खेल ही है एवं जिस खेल में मनोरंजन न हो वह काम से भी अधिक अरुचिकर व्यापार है। खेल तथा काम में दरअसल केवल दृष्टि-कोण का भेद है। काम मनोरंजक हो जाय बस उसे खेल ही समझना चाहिये। मनोरंजन ही खेल का प्रधान लक्षण है। अतएव जब हमसे कहा जाता है कि शिक्षा खेल के द्वारा देना चाहिये तो उसका यह अर्थ नहीं होता कि कबड्डी खिलाकर अथवा नाटक रचाकर ही पढ़ाना चाहिये। उसका अर्थ यही होता है कि पढ़ाने की विधि ऐसी हो कि बालक को उसमें आनन्द मिले, वह उसमें रस की अनुभूति करे। नाटक रचने में मनोरंजन होता है अत: वह भी रचाया जायगा और उसके द्वारा साहित्य एवं इतिहास के अनेक नीरस अंगों को सरस बनाकर बालकों के मानस-पट पर सदा के लिये अंकित कर दिया जायगा। किन्तु वही एक पद्धति सब कुछ नहीं है। अनेक प्रकारों से इस लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है और वे सभी खेल के द्वारा शिक्षा देने के ही रूप हैं। अनेक प्रणालियाँ इसी उद्देश्य से निकल पड़ी हैं। उनका संक्षिप्त परिचय दे देना यहाँ पर अनुचित न होगा।

किंडर गार्टन—इस पद्धति के जन्मदाता फ्रोबुल है। शिक्षा-पद्धित को यथासंभव आनन्दप्रद बनाने का इस प्रणाली में सफल प्रयत्न किया गया है। गिनती सिखाने तथा अक्षर पहचानने की आरम्भिक शिक्षा खिलौनों के द्वारा ही दी जाती है। बच्चे सिर्फ खेलते हैं। न उन्हें पढ़ने को कहा जाता है और न वे कभी जान ही पाते हैं कि उनका खेल वास्तव में पढ़ना है। सब बच्चे स्वतंत्रतापूर्वक साथ-साथ

खेलते, सीखते, विकसित होते रहते हैं। अध्यापक का काम बालक की रुचि के अनुकूल उचित तथा उपयोगी खेल की व्यवस्था करना भर रहता है। सामूहिक जीवन स्वयं एक शिक्षा है। अनेक प्रकार से बच्चों की कल्पना-शक्ति को प्रोत्साहित किया जाता है। जब तक कोई बालक ख़ास तौर से पाठशाला की शान्ति भंग नहीं करता उसे किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता। फलतः बच्चे घर की अपेक्षा पाठशाला में अधिक रहना पसन्द करते हैं।

मांटीसरी पद्धति (Montessori Method)—किंडर गार्टन के ही अनुकरण पर श्रीमती मांटीसरी से अपनी नवीन पद्धति का आविष्कार किया है। यहाँ भाँति-भाँति के उपकरण (apparatus) जुटाये जाते हैं और बालक उनसे अपनी मरजी के मुताबिक प्रयोग करने को छोड़ दिया जाता है। वह भी एक तरह के खिलौने ही हैं और उन्हें खिलौने का नाम देना बिलकुल ही अनुचित न होता यदि मांटी-सरी को कुछ आपत्ति न होती। परन्तु मांटीसरी का ख्याल है कि खेल का नाम देकर हम बालकों की मनोवृत्ति का अपमान करेंगे। बालक को खेल नहीं, काम पसन्द होता है। यह अपनी रुचि का काम पाकर दत्तचित्त होकर उसे करता है। उसकी एकाग्रता किसी प्रौढ़ से कम नहीं होती है। बस शर्त यही है कि काम उसे पसन्द आ जाय। इसी भावना को व्यक्त करने के उद्देश्य से उसने इन खिलौनों का नाम शिक्षोपकरण (didactic apparatus) रखा है। बच्चा उनसे खेलता रहता है और एकाएक पढ़ने की ओर झुक पड़ता है और बहुत शीघ्र लिखना पढ़ना सीख लेता है।

बालकों को कुछ उपकरण दे दिया जाता है और उस की सहयता से विविध वस्तुयें बनाने को कहा जाता है वस्तु-निर्माण में शिक्षक कोई सहायता नहीं देता। बच्चा स्वयं अपनी बुद्धि से सब काम करता है। उसमें आत्म-निर्भरता का विकास होता है तथा इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है।

ह्य रिस्टक पद्धति (Heuristic method)—इस पद्धति में विद्यार्थी अन्वेषक बना दिया जाता है। उसके सामने एक समस्या रख दी जाती है तथा अपनी बुद्धि के प्रयोग से वह सत्य का अन्वेषण करता है।

डाल्टन योजना (Dalton plan)—इस प्रणाली में कक्षा-शिक्षण (Class Teaching) बिल्कुल शिथिल कर दिया जाता है। प्रत्येक घंटे के बाद बदल-बदल कर विषय पढ़ने की आवश्यकता नहीं। विद्यार्थी को महीने भर का सब विषयों का काम बता दिया जाता है और अपनी रुचि के अनुसार वह पूरे काम को समाप्त करता है। जब जिस विषय को रुचि हुई उसे ही आरम्भ कर दिया। पढ़ने से ही जी ऊब गया तो घूमने चले गये। हां, समय से काम समाप्त करने का बन्धन रहता है, कभी-कभी पूरा दरजा भी मिलता है और काम में आने वाली कठिनाइयों को एक दूसरे तथा अध्यापक की सहायता से हल कर लिया जाता है।

प्रोजेक्ट पद्धति (Project method)—इस पद्धति में बालकों को किसी काम में लगा दिया जाता है, स्वयं वे किसी काम को पूरा करते हैं, जैसे किसी प्रीतिभोज का आयोजन, किसी नाटक का अभिनय अथवा छोटे से घर का निर्माण। इस योजना (Project) से सम्बन्धित सम्पूर्ण कार्य बच्चे स्वयं करते हैं। आवश्यक सामग्री का संकलन, नौकरी की व्यवस्था, छपाई, सफाई इत्यादि सब काम का भार बालकों पर ही रहता है। अनेक प्रकार के ज्ञान का अर्जन, आवश्यकता के अनुरोध से, बालक कर लेते हैं और उसमें आनन्द का बोध करते हैं। यह सब एक तरह से खेल समझा जाता है।

बालचर पद्धति(scouting)—बालचर पद्धति सबसे अधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय संस्था है। इसमें तम्बू में रहना, खाना बनाना, सामूहिक जीवन आदि की बहुत उपयोगी शिक्षा मिल जाती है। बन

भ्रमण आदि के द्वारा भूगोल की, व्यायाम के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा की परमावश्यक शिक्षा खेल के द्वारा दी जाती है। सामाजिक-मर्यादा-पालन, पारस्परिक सहानुभूति, दया एवं परोपकार वृत्ति का समुचित विकास हो जाता है। इसी से मिलते जुलते अनेक प्रकार के युवक-संगठन (youth movements) योरोपीय देशों में खूब प्रचलित हैं। उनमें खामियाँ हो सकती हैं—मनुष्य-कृत कौन सा कार्य सर्वथा त्रुटि रहित हुआ है?—पर उनकी शिक्षा-सम्बन्धी उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता।

खेलने की मनुष्य में जो स्वभाविक वृत्ति है उसका उपयोग शिक्षा-शास्त्रियों ने बहुत प्रकार से किया है, और भी बहुत ढँग उसके निकाले जा सकते हैं।

सारांश

आदत—मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने किए हुए अनुभव को दोहराना चाहता है। जो अनुभव जितना ही दोहराया जाता है उसका संस्कार उतना ही दृढ़ होता जाता है और उसको दोहराने की इच्छा उतनी ही बलवती। आवृत्ति से पुष्ट संस्कार का ही नाम आदत है।

ऊपरी नजर मूल-प्रवृत्ति तथा आदत में कुछ भेद नहीं दिखाई पड़ता। दोनों ही कुशलता पूर्वक क्रिया के होने में सहायक होती हैं, दोनों ही से प्रेरित कार्य प्रायः बिना विशेष अवधान के सम्पन्न होते रहते हैं, दोनों ही विशिष्ट अनुभूतियों के लिए प्रेरित करती हैं। अन्तर इतना ही है कि मूल-प्रवृत्ति एक जन्मजात संस्कार है और आदत अर्जित। मूल-प्रवृत्ति को जातिगत आदत कहा गया है।

आदत शिक्षण कार्य में बहुत सहायता दे सकती है। आदत पड़ जाने पर कार्य थोड़े समय में ही होने लगता है, कार्य करने में कुशलता आ जाती है और अवधान की आवश्यकता न रहने के कारण मस्तिष्क अन्य समस्याओं पर विचार करने के लिए स्वतंत्र हो जाता है।

परन्तु आदत से खतरा भी कम नहीं। अच्छी आदत डलवाने से जितना लाभ होता है बुरी आदत पड़ जाने से उतना ही नुकसान भी हो सकता है। मद्यपान आदिक ख़राब आदतों से बालकों को बचाना उतना ही आवश्यक है जितना अच्छी आदतें डलवाना। आदत में एक और ख़तरा है। कभी-कभी उससे मौलिकता नष्ट होते देखी गई है। अतएव आदत हमें उन्हीं कामों की डालनी चाहिये जिनमें विशेष विचार-विमर्श और परिवर्तन करने की गुंजाइश न हो। उच्च मस्तिष्क से प्रेरित कार्यों की भी निश्चित आदत डाल लेना मशीन बन जाना है। उससे मानस-विकास रुक सकता है, मौलिकता नष्ट हो सकती है।

आदतें सभी तरह की होती हैं। विचार, क्रिया, इच्छा आदि सभी क्षेत्रों में आदतें डाली जा सकती है। जेम्स ने वांछित आदतें डालने के लिये कुछ नियम बनाये हैं। आदतें डालने में उनसे बहुत सहायता मिल सकती है। वह कहता है कि हमें जो आदत डालनी हो उसके सम्बन्ध में एक दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो यह प्रतिज्ञा बहुत से लोगों के सम्मुख करनी चाहिए। व्रत लेने के पश्चात् उसे शीघ्रातिशीघ्र कार्य का रूप देना चाहिए। कार्य आरम्भ करने के उपरान्त आदत पुष्ट न हो जाने तक एक भी अपवाद नहीं करना चाहिए। काम पर जोर दिया जाय बात जहाँ तक मुमकिन हो कम की जाय। आदत पड़ जाने के बाद भी कभी-कभी उसकी आवृत्ति करते रहना चाहिए जिससे संस्कार नष्ट न हो जाय।

खेल—मनुष्य स्वभावतः खेलना पसन्द करता है। जिस प्रकार काम से लोग बचना चाहते हैं वैसे ही खेल में सब भाग लेना चाहते हैं। उच्च श्रेणी के पशु भी खेलते देखे जाते हैं। वैज्ञानिकों का ख़याल है कि खेलने की वृत्ति प्राणियों को व्यर्थ ही नहीं मिली है। उससे उन्हें जीवनोपयोगी सहायता मिलती है। इस सम्बन्ध में कई मत है।

एक सिद्धान्त अतिरिक्त शक्तिवाद (Surplus Energy Theory) कहलाता है। उसके अनुसार भोजनान्वेषण आदि आवश्यक कार्य कर चुकने के पश्चात् भी जो शक्ति प्राणी में बच रहती है खेल उसका निकास है। प्राणी के भीतर पड़ी वह व्यर्थ शक्ति हानि भी कर सकती है, अतएव खेल के द्वारा उसका बाहर निकल जाना अच्छा ही है। किन्तु यह सिद्धान्त उन परिस्थितियों को नहीं समझाता जब काम करते-करते थक जाने पर हीनशक्ति व्यक्ति खेलने में भाग लेता है।

दूसरा सिद्धान्त पुन: प्राप्तिवाद (Recreation Theory) है। इस सिद्धान्त के मत में कार्य करने से जो शक्ति घट जाती है खेलने से वह फिर प्राप्त हो जाती है। मनोरंजन अथवा खेल शक्ति को उत्पन्न करता है, अतिरिक्त शक्ति का निष्कासन नहीं। परन्तु यह सिद्धान्त यह नहीं समझा जा सकता है कि छोटे-छोटे बच्चे जिन्हें अपनी शक्ति काम में ख़र्च नहीं करनी पड़ती क्यों खेलते हैं।

पुनरावृत्तिवाद (Recapitulation Theory) एक और सिद्धांत है। उसके मत से मानव-शिशु खेल में मानव जाति की शैशवावस्था की, प्रौढ़ तथा पूर्ण सभ्य होने से पहले, एक बार फिर से आवृत्ति करता है। पूर्वजों से उत्तराधिकार में पाई मनोवृत्तियों का निकास ही खेल का निसर्ग-निर्दिष्ठ उद्देश्य है। किन्तु सभ्य तथा प्रौढ़ व्यक्ति भी खेलते देखे जाते हैं। ऐसा क्यों होता है इस बात को यह सिद्धांत नहीं समझाता।

पूर्वाभिनयवाद (Anticipatory Theory) का कहना है कि खेल में बालक भविष्य-जीवन के लिए तैयारी करता है। जिस प्रकार की परिस्थितियों का सामना उसे भविष्य में करना है उनका खेल में अभ्यास करता है। खेल प्रकृति की पाठशाला है जिसमें भावी जीवन के लिये उपयुक्त शिक्षा प्राणी को मिल जाती है। यह सिद्धांत बहुत कुछ तथ्य की बात बताता है परन्तु सब प्रकार के खेलों की मीमांसा नहीं कर पाता।

रेचन वाद (Cathartic Theory) का कहना है कि अनेक प्रकार की वृत्तियाँ हमें वास्तविक जीवन में दबानी पड़ती हैं, उनका प्रकाशन समाज में अनुचित समझा जाता है। खेल के व्याज से उनका रेचन हो जाता है अन्यथा मन में पड़ी रहकर वे हमारे आचरण को विकृत कर सकती हैं।

इन सभी सिद्धान्तों में आंशिक सत्य है। सब प्रकार के खेलों की मीमांसा किसी एक ही सिद्धान्त से नहीं हो सकती, सब मिलकर अवश्य ही प्रत्येक प्रकार के खेल की युक्ति-युक्त व्याख्या कर सकते हैं।

खेल तथा काम में वैपरीत्य पाया जाता है। काम का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है, काम उसकी प्राप्ति का साधन मात्र होता है; खेल का लक्ष्य खेल स्वयं है। काम करने को हम विवश हैं; खेल अपनी मरजी से खेलते हैं। खेल का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन होता है, काम का नहीं। अत: खेल तथा काम में दृष्टि-कोण मात्र का अन्तर है। अपनी मरजी से आनन्द-प्राप्ति के उद्देश्य से जो कुछ किया जाय वही खेल है। शिक्षा में इस सत्य का बहुत उपयोग हो रहा है, और भी अधिक हो सकता है। यदि शिक्षा इस प्रकार दी जाय कि बच्चे उनमें आनन्द पावें तो वे अपने आप पढ़ने लगें। किंडर गार्टन, मांटीसरी पद्धति, बालचर पद्धति, डाल्टन योजना, प्रोजेक्ट योजना आदि शिक्षण की अनेक विधियाँ इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं और उन्हें सफलता भी खूब मिली है।

प्रश्न

(१) आदत किसे कहते हैं? कोई दो अच्छी आदतें लेकर बतलाइए कि आप बच्चों को उनका अभ्यास कैसे डलवायेंगे।

(२) आदत से क्या लाभ होता है? शिक्षा में उनका क्या उपयोग हो सकता है?

(३) जेम्स ने आदत डालने के कौन से नियम बताए हैं?

(४) बच्चे के स्वतंत्र खेल की व्याख्या कीजिए।

(५) खेल का क्या महत्व है ? 'खेल के द्वारा शिक्षा' से आप क्या समझते हैं ?

(६) बच्चे क्यों खेलते हैं ? बालकों की शिक्षा में खेल की जीवन-रक्षा सम्बन्धी उपयोगिता (biological role) क्या है ?

संवेग, स्थायीभाव तथा भावना ग्रन्थि

संवेग (emotion)—अनुभव के प्रकारों का विवेचन करते समय हमने देखा था कि अनुभव का एक रूप वह होता है जिसमें हमारी रागात्मक वृत्ति (affective state) की प्रधानता होती है। सुख, दुख, पीड़ा आदि आन्तरिक अनुभूतियाँ राग (feeling) कहलाती हैं। ये अनुभूतियाँ जब तक सामान्य रूप में रहती हैं तब तक हम इन्हें राग कहते हैं। किन्तु किसी कारण से जब ये प्रबल रूप धारण कर लेती हैं तो हम इन्हें संवेग (emotion) कहने लगते हैं। रागात्मक वृत्ति का ही प्रबल अथवा बढ़ा हुआ रूप संवेग है। जब हमारे भावों अथवा रागों में एक तूफ़ान आ जाता है, वे बड़े वेग से उत्तेजित हो जाते हैं। हमारे अन्तर्जगत् में भारी उथल पुथल सी मचा देते हैं तो हमारे मन की विक्षुब्ध-भावों से युक्त वह अवस्था संवेग कहलाती है। रास्ते में चलते हुये हमें जब ऊँची-नीची सड़क कष्ट देती है तो कुछ परेशानी होती है। इस कष्ट की अनुभूति को भाव अथवा राग कहते हैं। किन्तु यदि कोई बदमाश हमारे रास्ते को रोक कर खड़ा हो जाय, हमारा अपमान करे, तो हमारे भावों में असाधारण क्षोभ उत्पन्न हो जाता है ; हम उस समय अपमान से तिलमिला उठते हैं, क्रोध से पागल से हो जाते हैं। यह क्रोध अथवा मानसिक आँधी संवेग कहलाती है। संवेग भाव ही होते हैं। वे भावों का ही एक रूप हैं। प्रबल अथवा मन में क्षोभ उत्पन्न कर देने वाले भावों को ही संवेग कहते हैं। इसलिए संवेगों को मनःक्षोभ भी कहा जाता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ड्रेवर ने संवेगों की पाँच मुख्य विशेषतायें गिनाई हैं—

(१) संवेग में किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा विचार से रागात्मक सम्बन्ध (affective relationship) विद्यमान रहता है।

जब हमें क्रोध आता है तो वह क्रोध किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा विचार के प्रति होता है, हमारे क्रोध का 'विषय' कुछ न कुछ अवश्य रहता है। और उस 'विषय' से युद्ध करना ही हमारा प्रयास होता है।

(२) संवेग अथवा मनःक्षोभ की अवस्था में शारीरिक परिवर्तनों (organic resonance) का प्रमुख भाग रहता है। क्रोध में आँखें लाल हो जाती हैं, बाँहें फड़कने लगती हैं, नथने सक्रिय हो उठते हैं, एवं सारा शरीर काँपने सा लगता है। शरीर-शास्त्र-विशारदो (physiologists) का कथन है कि संवेग की दशा में हमारे आन्तरिक (internal parts of body) भी प्रतिक्रिया करने लगते हैं। गुर्दों के ऊपरी सिरे पर स्थित दो गिल्टियाँ (glands) होती हैं जिन्हें एडिनल गिल्टियाँ कहते हैं। ये गिल्टियाँ एड्रिनलीन नामक रस का उत्पादन करती हैं। क्रोध की अवस्था में एड्रिनलीन काफी परिणाम में प्रवाहित होने लगता है। रक्त में अधिक मात्रा में एड्रीनलन होने से वह जम जाता है। रक्त में शक्कर का अनुपात भी बढ़ जाता है। फलतः शारीरिक शक्ति कुछ समय के लिए बढ़ सी जाती है। संवेग की अवस्था में, जब संवेग प्राणी के प्रतिकूल परिस्थियों से उत्पन्न हुआ हो, पाचन-क्रिया अव्यवस्थित सी हो जाती है। प्रयोगों से पता चलता है कि भय की अवस्था में लार तथा गैस्ट्रिक जूस (जाठर रस) का बहना प्रायः बन्द हो जाता है और पाचन-कार्य रुक सा जाता है।

(३) संवेग की दशा में सुख अथवा दुःख की अनुभूति भी बराबर होती है। क्रोध अथवा भय में शुरू-शुरू में पीड़ा की अनुभूति होती है। यदि परिस्थिति का मुकाबला सफलता-पूर्वक किया जा सका तो क्रमशः पीड़ा के स्थान में आनन्द आ जाता है अन्यथा पीड़ा का वेग बढ़ जाता है।

(४) संवेग की अनभूति प्रबल अथवा बेगवती होती है। अतएव संवेग में अन्ध प्रेरक—शक्ति काफ़ी मात्रा में होती है। मनःक्षोभ की

दशा में उच्च मस्तिष्क, विचार शक्ति, काम नहीं करती, और व्यक्ति संवेग के वश में पड़कर बिना विचार किए काम करने लगता है। आदर्श, सिद्धान्त, नैतिक भावना एवं उचितानुचित विचार संवेग के वेगयुक्त प्रवाह में बह जाते हैं और निम्न स्तर की पाशविक वृत्तियाँ ही आचरण निर्धारण करती है।

(५) संवेग की एक विशेषता यह है कि संवेग की रागात्मक वृत्ति (feeling attitude) आचरण का रूप निर्धारित कर देती है। संवेग-युक्त व्यक्ति के लिए आचरण का रूप चुनकर निर्धारित करने का विशेष अवसर नहीं रहता। एक विशेष कार्य-प्रणाली ही उसके सम्मुख आती है, दूसरी विधियाँ जैसे उसकी दृष्टि के सम्मुख ही नहीं आतीं। सामान्य परिस्थितियों में जो अनेक विकल्प (alternatives) बुद्धि के सम्मुख रहते हैं, वे सवेग की दशा में नही रहते। मूल-प्रवृत्ति-प्रेरित केवल एक ही मार्ग खुला दिखाई पड़ता है और उसी ओर क्षुब्ध-व्यक्ति विवश सा चल पड़ता है।

जेम्स-लैंग सिद्धांत—अमेरिकन मनोवैज्ञानिक जेम्स तथा डेनिश शरीर-शास्त्री लैंग ने प्राय: एक ही समय में स्वतंत्र रूप से संवेगों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार का सिद्धान्त प्रचलित किया। अतएव इस सिद्धान्त को जेम्स-लैंग सिद्धान्त कहकर अभिहित किया जाता है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में इतनी अधिक चर्चा, अनुकूल तथा प्रति-कूल आलोचना, हुई है कि प्रत्येक मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिए उससे परिचित होना आवश्यक है।

इस सिद्धांत के अनुसार संवेग उस तीव्र रागात्तक अनभूति का नाम है जो विशेषतया आन्तरिक शरीरावयवों (internal organs) के तथा सामान्यता सम्पूर्ण शरीर के उथल पुथल का परिणाम होती है। संवेग में शारीरिक उथल पुथल ही प्रधान है। शरीर की क्रांतिपूर्ण स्थिति के कारण हमें जो विशेष प्रकार की अनुभूति होती है वही संवेग है।

जेम्स का कहना है कि हम भय के कारण नहीं कांपते प्रत्युत हम काँपते हैं इसीलिये भय का अनुभव करते हैं। उसका अभिप्राय है कि भय के संवेग में शरीर के परिवर्त्तन की—गिल्टियों, मांसपेशियों आदि से प्राप्त संवेदनाओं का—समावेश सदा ही रहता है। भय से उत्पन्न होने वाले शारीरिक परिवर्त्तन जिन्हें कहा जाता है वे यदि न हों तो भय की सत्ता ही न रहे। वह कहता है—"इन शारीरिक अवस्थाओं के बिना हम भालू को देख सकते हैं और इस निर्णय पर भी पहुँच सकते हैं कि भागना ही सुविधाजनक होगा, अपमानित होकर प्रहार करने को न्याय-युक्त भी ठहरा सकते हैं परन्तु भय अथवा क्रोध का अनुभव नहीं कर सकते।"

सामान्य सिद्धान्त यह है कि भालू को देख कर मन में भय का संचार होता है तथा इस भय के संवेग के कारण ही शारीरिक अनवस्था उत्पन्न हो जाती है और हम भाग खड़े होते हैं। जेम्स-लैंग सिद्धान्त इस क्रम को उलट देता है। उसका कहना है कि शारीरिक परिवर्त्तन पहले होते हैं, संवेग की अनुभूति बाद में आती है। भालू को देख कर भय नहीं होता, केवल खतरे का ज्ञान होता है। ज्ञान से शारीरिक परिवर्त्तन जैसे मुँह का पीला पड़ जाना, भागना, छिपना आदि और उस परिवर्त्तन का फल भय का संवेग होता है।

जेम्स-लैंड सिद्धान्त के विरोध में प्रमाण—सामान्य बुद्धि तो इस सिद्धान्त को स्वीकार करती ही नहीं, वैज्ञानिक प्रमाण भी इसके विरोध में दिये गये हैं।

शेरिंटन ने कुत्ते की उन सब नाड़ियों को काट कर निकाल दिया जिनसे धड़ के भीतर से आनेवाली उत्तेजना की सूचना मस्तिष्क तक पहुँचती है। अतः इस कुत्ते के आन्तरिक शरीरावयवों के परिवर्त्तनों की सूचना उसके मस्तिष्क तक पहुँच ही नहीं सकती थी किन्तु उसके अभाव में भी कुत्ते के संवेगजात आचरण में कोई अन्तर नहीं

देखा गया। "वह क्रोध, प्रसन्नता, घृणा तथा उत्तेजित होने पर भय ठीक पूर्व की ही भाँति प्रदर्शित करता रहा।" जिस व्यक्ति ने पहले कभी उसे नाराज़ कर दिया था, वह जब आया तो कुत्ते ने आँखे फाड़कर, गुर्रा कर अपना क्रोध प्रगट किया यद्यपि भोजन देने वाले नौकर का स्वागत वह बड़ी प्रसन्नता से किया करता था।

इस सम्बन्ध में शरीर-शास्त्रियों ने एक और प्रयोग किया है। एक बिल्ली की उन सब नाड़ियों को काट दिया गया जो उसके मस्तिष्क तथा स्वतन्त्रनाड़ी मंडल (sympathetic nervous system) को मिलाती थीं और इस तरह आन्तरिक इन्द्रियों (internal organs) में विक्षोभ उत्पन्न होने का मार्ग बिलकुल बन्द हो गया। किन्तु फिर भी क्रोध के समस्त वाह्य प्रदशन सामान्य रूप से ही होते रहे, गुर्राना, फुफकारी छोड़ना, दाँत निकालना, कान खड़े करना तथा आक्रमण करने के लिए पंजे उठाना स्वाभाविकरूप से ही होता रहा अतएव किसी पशु के व्यवहार से जहाँ तक अनुमान किया जा सकता है संवेग में आन्तरिक शरीरावयवों से प्राप्त संवेदना का कोई विशिष्ट स्थान नहीं मालूम पड़ता।

एक प्रौढ़ प्रखरबुद्धि महिला का उदाहरण इस सिद्धान्त के लिए घातक सिद्ध हुआ है। घोड़े से गिरने के कारण उसकी गरदन टूट गयी थी। मेरुदण्ड (spinal cord) तथा मस्तिष्क का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने से उन शारीरिक परिवर्तनों की कोई सम्भावना ही नहीं रही थी जिन पर, जेम्स-लैंग सिद्धान्त के अनुसार, संवेगों का उत्पादन निर्भर है। परन्तु वह महिला इस घटना के पश्चात् एक वर्ष जीवित रही, और एक कुशल शरीर-शास्त्री के शब्दों में, "दुःख, सुख, असन्तोष, प्रेम इत्यादि के संवेग प्रदर्शित करती रही। उसके चरित्र अथवा व्यक्तित्व में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं घटित हुआ।" यह दृष्टान्त स्पष्टतया सिद्ध करता है कि संवेगानुभव (emo-

tional experience) मस्तिष्क में उत्पन्न होता है और उसके लिये आन्तरिक इन्द्रियों से प्राप्त संवेदना की कोई आवश्यकता नहीं।

संवेगों का क्रियात्मक जीवन से सम्बन्ध—मूलप्रवृत्ति के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि हमारी मूलप्रवृत्तियाँ ही आचरण की प्रेरक हैं। हम जो कुछ करते हैं उन्हीं से प्रेरित होकर। और जैसा मैकडूगल ने कहा है प्रत्येक मूलप्रवृत्ति से एक संवेग सम्बद्ध रहता है। जब मूलप्रवृत्ति के द्वारा प्रेरित क्रिया में कोई बाधा उपस्थित होता है तो संवेग अपने प्रबल रूप में जाग्रत हो जाता है। संवेग हमारी मूल-प्रेरणाओं को और भी अधिक शक्तिपूर्ण बना देते हैं। साधारण बोल-चाल में हम कहा करते हैं कि अमुक कार्य हमने क्रोध के वश में किया है, अमुक घृणा के कारण। हमारे साधारण तथा विशिष्ट राग-द्वेष ही आचरण के प्रेरक समझे जाते हैं। किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिये कि संवेगों की शक्ति के पीछे मूल-प्रवृत्तियों की प्रेरणा रहती ही है। संवेग स्वयं मूलप्रवृत्तियों पर आश्रित रहते हैं। किन्तु वे शक्ति का केन्द्र अथवा स्रोत हैं तथा संवेग की दशा में हम ऐसे कार्य भी कर डालते हैं जिनकी सामान्य स्थिति में हम कोई आशा नहीं करते। इस शक्ति से लाभ उठाना प्रत्येक शिक्षक का कर्तव्य है। शिक्षा में संवेगों का उचित उपयोग करने के लिए उनके नियंत्रण एवं मार्गान्तरीकरण अथवा शोध (sublimation) की भी आवश्यकता है क्योंकि संवेग की दशा में विचार शक्ति क्षीण हो जाती है और उचित शिक्षा के अभाव में विवेकहीन कार्य कर उठाने की काफ़ी सम्भावना रहती है।

संवेग प्रेरणा के स्रोत हैं। उचित मनःक्षोभों का विकास ही सभ्यता का जनक है। संवेगों की अनुभूति साधारण बर्बर वृत्तियों से लेकर उच्चतम आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में सर्वत्र सम्भव है। किस से चोट खाकर हम क्रोध का अनुभव करते हैं, समझाने पर कोई

हमारी बात न समझे तब भी हमें क्रोध आ जाता है, धर्म-प्राण महात्मा हिंसा, असत्य एवं विलास में रत मानव पर क्रोध कर सकता है। हमारे संवेगों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वांछनीय संवेगों को अनुभव कर सकने की शक्ति देना शिक्षा का एक प्रमुख कार्य है।

वीतराग सन्यासी संवेगों की निन्दा बड़े जोरदार शब्दों में किया करते हैं। और बिना विचारे उनके ही शब्दों को दुहराने वाले कतिपय अन्य व्यक्ति भी देखने में आते हैं। परन्तु हमें सदा ही स्मरण रखना चाहिये कि महात्मा की मनोवृत्ति से हमारा काम नहीं चल सकता, उसकी समाज-निरपेक्ष व्यक्तिगत साधना महान् हो सकती है, निःश्रेयस्कर हो सकती हैं, किन्तु वह हम शिक्षकों का आदर्श कभी नहीं बन सकती। हमें श्रेष्ठ नागरिक बनाना है, अतएव हम समाज तथा उसके कल्याण की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें ऐसे नागरिकों की सृष्टि करना है जो अन्याय से घृणा, दुष्टों पर क्रोध, उचित स्वाभिमान एवं असहाय दीनों के प्रति महती कोमल भावना से युक्त हो। संवेग स्वभावतः आते ही हैं, उनको ठीक दिशा में प्रवाहित मात्र करके इस प्रकृति-दत्त शक्ति से बहुत लाभ उठाया जा सकता है।

संवेग और शिक्षा—संवेगों की शिक्षा कोरे सिद्धान्तवाक्य बता देने से नहीं होती। अपने आचरण के द्वारा, स्कूल के वातावरण के द्वारा एवं महापुरुषों के अनुकरणीय चरित्रों के द्वारा बालकों को संवेग सम्बन्धी शिक्षा दी जा सकती है। साहित्य पढ़ाते समय, इतिहास की घटनाओं का वर्णन करते समय, शिक्षक स्वयं वांछनीय संवेग में बह सकता है। अनुकरण प्रिय बालक यह देखते हैं कि कैसे चरित्र के प्रति वह घृणा प्रगट करता है, कैसे के प्रति श्रद्धा और स्वयं वे भी वैसा ही आचारण करने लगते हैं। प्रकट शिक्षा की अपेक्षा अप्रकट शिक्षा सदा ही अधिक उपयुक्त एवं लाभप्रद होती है।

साथ ही प्रत्येक शिक्षक को सदा ही इस बात का ध्यान रखना

होगा कि बहुत आसानी से बच्चे विक्षुब्ध हो जाया करते हैं। यह प्राकृतिक है। इसके लिये उनसे बिगड़ना अनुचित है। बिगड़ कर हम संवेग की मात्रा में वृद्धि कर सकते हैं, कमी नहीं। जब हम किसी बालक से कहते हैं—'सही-सही पढ़ो। यदि इस बार गलती हुई तो मारे जाओगे।" तब हम बिना जाने हुये बच्चे को गलत पढ़ने पर मजबूर करते हैं। अत्यधिक सावधानी तथा 'भय' मिलकर एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिसमें भावना-प्रधान बच्चे का सही-सही पढ़ना प्रायः असम्भव हो जाता है। लज्जाशील बालक बोलने में झेंपता है। शिक्षक की डांट खाकर लज्जा दूर नहीं होती, क्रोध और आ जमता है और बेचारा बालक अपने ऊपर रहा-सहा नियंत्र भी खो बैठता है। वह करना वही चाहता है जिससे शिक्षक की प्रशंसा पा सके किन्तु प्रकृति और शिक्षक मिलकर उसके आचरण को विकृत कर देते हैं और उसका खमियाजा उठाना पड़ता है उस निरीह, निरपराध बालक को। हम जानते हैं कि संवेग विचार का शत्रु है। अतः संवेग युक्त बालक के प्रति हमें ऐसा व्यवाहर करना चाहिये जिससे परिस्थिति सँभले, और भी जटिल न बन जाय।

अतः शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालकों के रागों एवं संवेगों का भली भाँति अध्ययन करे और इस ज्ञान का उपयोग उनकी बौद्धिक तथा संवेग जात समस्याओं को सुलझाने में करें। इस परम आवश्यक कार्य का सम्पादन सफलतापूर्वक वह तभी कर सकता है जब बालक उसे अपना विश्वास पात्र मित्र समझें, जिसके आगे अपना हृदय खोलकर रखने में उन्हें किसी प्रकार का भय अथवा संकोच न हो, जिससे उन्हें सहानुभूति एवं सद्भावना की आशा हो, दण्ड अथवा भर्त्सना की आशंका नहीं। ऐसा ही शिक्षक अपने स्नेह-पूर्ण कोमल आचरण के द्वारा बालकों के स्वस्थ विकास में सहायक हो सकता है।

स्थायी-भाव (sentiment)—पिछले अध्याय में हमने

आदत (habit) का सविस्तर वर्णन किया है। हमने तब यह भी देखा था कि आदत एक अर्जित प्रवृत्ति है, एक संस्कार है जो मूल-प्रवृत्ति की ही भाँति मानसिक गठन (mental structure) का भाग है। जिस तरह मूल-प्रवृत्ति से सम्बद्ध कोई न कोई संवेग होता है वैसे ही आदतों से भी संवेग जुड़ जाते हैं। जब अनेक संवेग किसी एक वस्तु व्यक्ति अथवा विचार से संबद्ध हो जाते हैं तब एक और संस्कार हमारे मन में उत्पन्न हो जाता है। इसे स्थायी-भाव (sentiment) कहते हैं। स्थायी-भाव भी एक प्रकार की आदत है। सामान्यतया आदत में संस्कार से उत्पन्न कुशलता की प्रधानता रहती है, क्रियात्मक गुण की मुख्यता रहती है, और स्थायी-भाव में भावात्मक अथवा रागात्मक अंग की प्रबलता। साइकिल चलाना, चला सकना, आदत है, देश प्रेम एक स्थायी-भाव है। दोनों ही अर्जित गुण हैं, दोनों में ही आचरण को प्रेरित करने की शक्ति है, दोनों की ही सहज तृप्ति न हो सकने पर संवेग जाग्रत हो जाता है। फिर भी आदत चेष्टा (conation) का विशेषतया सूचक है और स्थायी-भाव राग (affect) का।

सामान्यतया अशास्त्रीय व्यवहार में लोग संवेग तथा स्थायी-भाव को एक ही मान लिया करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। संवेग एक वास्तविक अनुभूति का नाम है, वह मानसिक इतिहास की एक घटना विशेष है। उनकी सत्ता अनुभूति-काल में ही होती है। अनुभव किये जाने से पहले संवेग का अस्तित्व नहीं होता, अनुभव समाप्त होने के साथ ही संवेग भी समाप्त हो जाता है। जब तक हम क्रोध का अनुभव नहीं करते हमारा क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता। जब हमारा क्रोध शांत हो जाता है तो हमारे क्रोध-संवेग का अन्त हो जाता है। संवेग एक अनुभव है। उसकी स्थिति अनुभव काल में ही सम्भव है। स्थायी-भाव एक संस्कार का नाम है। वह संवेग की सम्भावना है। वह अनु-

होगा कि बहुत आसानी से बच्चे विक्षुब्ध हो जाया करते हैं। यह प्राकृतिक है। इसके लिये उनसे बिगड़ना अनुचित है। बिगड़ कर हम संवेग की मात्रा में वृद्धि कर सकते हैं, कमी नहीं। जब हम किसी बालक से कहते हैं—'सही-सही पढ़ो। यदि इस बार गलती हुई तो मारे जाओगे।'' तब हम बिना जाने हुये बच्चे को गलत पढ़ने पर मजबूर करते हैं। अत्यधिक सावधानी तथा 'भय' मिलकर एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिसमें भावना-प्रधान बच्चे का सही-सही पढ़ना प्रायः असम्भव हो जाता है। लज्जाशील बालक बोलने में झेंपता है। शिक्षक की डांट खाकर लज्जा दूर नहीं होती, क्रोध और आ जमता है और बेचारा बालक अपने ऊपर रहा-सहा नियंत्र भी खो बैठता है। वह करना वही चाहता है जिससे शिक्षक की प्रशंसा पा सके किन्तु प्रकृति और शिक्षक मिलकर उसके आचरण को विकृत कर देते हैं और उसका खमियाजा उठाना पड़ता है उस निरीह, निरपराध बालक को। हम जानते हैं कि संवेग विचार का शत्रु है। अतः संवेग युक्त बालक के प्रति हमें ऐसा व्यवाहर करना चाहिये जिससे परिस्थिति सँभले, और भी जटिल न बन जाय।

अतः शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालकों के रागों एवं संवेगों का भली भाँति अध्ययन करे और इस ज्ञान का उपयोग उनकी बौद्धिक तथा संवेग जात समस्याओं को सुलझाने में करें। इस परम आवश्यक कार्य का सम्पादन सफलतापूर्वक वह तभी कर सकता है जब बालक उसे अपना विश्वास पात्र मित्र समझें, जिसके आगे अपना हृदय खोलकर रखने में उन्हें किसी प्रकार का भय अथवा संकोच न हो, जिससे उन्हें सहानुभूति एवं सद्भावना की आशा हो, दण्ड अथवा भर्त्सना की आशंका नहीं। ऐसा ही शिक्षक अपने स्नेह-पूर्ण कोमल आचरण के द्वारा बालकों के स्वस्थ विकास में सहायक हो सकता है।

स्थायी-भाव (sentiment)—पिछले अध्याय में हमने

आदत (habit) का सविस्तर वर्णन किया है। हमने तब यह भी देखा था कि आदत एक अर्जित प्रवृत्ति है, एक संस्कार है जो मूल-प्रवृत्ति की ही भाँति मानसिक गठन (mental structure) का भाग है। जिस तरह मूल-प्रवृत्ति से सम्बद्ध कोई न कोई संवेग होता है वैसे ही आदतों से भी संवेग जुड़ जाते हैं। जब अनेक संवेग किसी एक वस्तु व्यक्ति अथवा विचार से संबद्ध हो जाते हैं तब एक और संस्कार हमारे मन में उत्पन्न हो जाता है। इसे स्थायी-भाव (sentiment) कहते हैं। स्थायी-भाव भी एक प्रकार की आदत है। सामान्यतया आदत में संस्कार से उत्पन्न कुशलता की प्रधानता रहती है, क्रियात्मक गुण की मुख्यता रहती है, और स्थायी-भाव में भावात्मक अथवा रागात्मक अंग की प्रबलता। साइकिल चलाना, चला सकना, आदत है, देश प्रेम एक स्थायी-भाव है। दोनों ही अर्जित गुण हैं, दोनों में ही आचरण को प्रेरित करने की शक्ति है, दोनों की ही सहज तृप्ति न हो सकने पर संवेग जाग्रत हो जाता है। फिर भी आदत चेष्टा (conation) का विशेषतया सूचक है और स्थायी-भाव राग (affect) का।

सामान्यतया अशास्त्रीय व्यवहार में लोग संवेग तथा स्थायी-भाव को एक ही मान लिया करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। संवेग एक वास्तविक अनुभूति का नाम है, वह मानसिक इतिहास की एक घटना विशेष है। उनकी सत्ता अनुभूति-काल में ही होती है। अनुभव किये जाने से पहले संवेग का अस्तित्व नहीं होता, अनुभव समाप्त होने के साथ ही संवेग भी समाप्त हो जाता है। जब तक हम क्रोध का अनुभव नहीं करते हमारा क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता। जब हमारा क्रोध शांत हो जाता है तो हमारे क्रोध-संवेग का अन्त हो जाता है। संवेग एक अनुभव है। उसकी स्थिति अनुभव काल में ही सम्भव है। स्थायी-भाव एक संस्कार का नाम है। वह संवेग की सम्भावना है। वह अनु-

भव (experience) का नहीं, मन की गठन (structure of mind) का भाग है। उसके कारण हम संवेगों का अनुभव करते हैं, वह स्वयं संवेग नहीं है। किसी देश-प्रेम का स्थायी-भाव है। देश-प्रेम के कारण वह व्यक्ति अनेक प्रकार के संवेगों की अनुभूति कर सकता है। देश-द्रोही को देखकर उसका क्रोध भड़क उठेगा, देश पर प्राण न्योछावर करने वाले महात्मा को पाकर उसका हृदय श्रद्धा से भर उठेगा, देश के गौरवमय अतीत पर वह अभिमान करता है, देश का भविष्य किस प्रकार उज्ज्वल हो सकता है यह जानने को वह उत्सुक हो उठता है। इन सभी संवेगों का अनुभव वह हर समय नहीं किया करता। उसकी देश भक्ति तो केवल एक संस्कार है, एक प्रवृत्ति मात्र है, जिसके कारण उपयुक्त परिस्थिति में तदनुकूल संवेग की अनुभूति संभव हो जाती है। जब हम किसी वैज्ञानिक समस्या के हल करने में दत्त-चित्त रहते हैं तो हमारा चित्त संवेग-शून्य होता है, किन्तु हमारा देश-प्रेम विद्यमान रहता है। संवेग अस्थायी होता है, स्थायी भाव स्थायी होता है।

स्थायी भावों का विकास—जैसे जैसे बालक बढ़ता है, उसका अनुभव विस्तृत होता जाता है। उसके अनुभव के विषय(objects of experience) कभी उसे सुख देते हैं, कभी दुःख। एक ही 'विषय' का अनेक बार, अनेक परिस्थितियों में, अनुभव करके वे सुख तथा दुख की अनुभूतियाँ उस विषय से ही सम्बद्ध हो जाती हैं। सुख देने वाले पदार्थ सुख के ही प्रतीक बन जाते हैं। बालक एक स्कूल में पढ़ता है। वहाँ अपने मित्रों से मिलता है, अनेक प्रकार के खेल खेलता है, भाँति-भाँति से अपना मनोरंजन करता है। स्कूल और आनन्द का नित्य साहचर्य रहता है। धीरे धीरे वह अपने स्कूल को ही प्रेम करने लगता है। स्कूल के प्रति उसके हृदय में स्नेह का स्थायी-भाव उत्पन्न हो जाता है। स्कूल की स्मृति मात्र से वह पुलकित हो उठता है। धीरे-धीरे उसकी यह स्नेह भावना अन्य अनेक भावनाओं के संगठन से और

भी पुष्ट हो जाती है स्कूल के निन्दक के प्रतिउसे क्रोध आने लगता है, उसका प्रशंसक उसकी प्रशंसा का पात्र बन जाता है। जो व्यक्ति रुपये पैसे की सहायता देकर उसकी उन्नति करता है, खेलों मे विजय अथवा परीक्षाओं में उच्च स्थान प्राप्त कर स्कूल का गौरव बढ़ाता है वह उसका श्रद्धा-भाजन बन जाता है। स्कूल के वे छात्र जो अपने नीच आचरण के द्वारा स्कूल के कलंक का कारण बनते हैं उसके घृणा को जगाते हैं। इसी प्रकार अनेक स्थायी-भावों का विकास होता है, मित्रता, न्याय, निश्छलता, सत्य-प्रेम, कला-प्रेम आदि अनेक स्थायी भाव बन जाते हैं जिनको केन्द्र बनाकर विविध संवेग संगठित हो जाते हैं। जैसे बालक का मानसिक विकास होता जाता है उसके स्थायी-भावों के स्वरूप में भी परिवर्तन तथा विकास होता जाता है। आरम्भ में बालक केवल स्थूल पदार्थों को समझ पाता है। भावों को ग्रहण कर सकने की क्षमता बहुत बाद में आती है। अतएव उसके आरम्भिक स्थायी-भाव भी स्थूल पदार्थों के ही प्रति होते हैं, फिर वे क्रमशः भावों के प्रति बनने लगते हैं। इस विकास की तीन अवस्थायें देखी जाती हैं। सर्वप्रथम बालक किसी व्यक्ति से आकृष्ट होता है, फिर वह आकर्षण उस जाति के समस्त व्यक्तियों के लिए हो जाता है और यही आकर्षण अन्त में जातिगत उस गुण विशेष के लिए हो जाता है, जो स्थायी-भाव को जाग्रत करने में प्रधान कारण हुआ था। पहले बालक किसी ईमानदार व्यक्ति की ओर खिंचता है, फिर सभी ईमानदार पुरुषों को वह श्रद्धा की दृष्टिसे देखने लगता है और तब, अंत में ईमानदारी का ही भक्त बन जाता है।

आत्म-गौरव का स्थायी-भाव (self-regarding sentiment)—हम देख चुके हैं कि अनुभव की अनेकरूपता के फलस्वरूप अनेक स्थायी-भावों का जन्म होता है। भिन्न-भिन्न 'विषयों' के प्रति भिन्न भिन्न प्रकार के स्थायी-भाव हम लोग बना लेते हैं। किसी से प्रेम, किसी से घृणा हमारे स्वभाव का ही अंग बन जाता है। कोई सिनेमा

का भक्त बन जाता है तो कोई साम्राज्यवाद का शत्रु। प्रत्येक स्थायी-भाव विभिन्न संवेगों का संगठन (system) होता है या संवेग हमारे स्थायी-भाव के 'विषय' से सम्बद्ध अथवा संगठित हो जाते हैं। विषय-विशेष के प्रति स्थायी भाव उत्पन्न होने से हमारे संवेग एक विशिष्ट दिशा में प्रवाहित होने लगते हैं। एक ही स्थायीभाव के कारण हम किसी पर क्रुद्ध, किसी पर श्रद्धालु, किसी पर निर्दय तो किसी पर सदय हो उठते हैं। स्थायी-भाव क्या एकान्त असम्बद्ध, सर्वथा शृङ्खलाहीन, ही रहते हैं? क्या उनका संगठन नहीं होता? भाव-जगत का नेतृत्व अथवा शासन जिस प्रकार स्थायी-भाव अपने हाथ में ले लेता है वैसे ही स्थायी-भावों का नेता या शासक क्या कोई नहीं बन जाता?

मानव-मस्तिष्क का एक विशिष्ट गुण है कि वह अराजकता, असम्बद्धता, पसन्द नहीं करता। हमारे अनुभव एवं संस्कार सुसंगठित तथा सुसम्बद्ध होते रहते हैं। वे बिखरे नहीं पड़े रहते। मन की इसी शक्ति के कारण हमारे स्थायी-भावों की भी एक शृंखला बन जाती है। वे भी एक 'शासक स्थायी-भाव' (master sentiment) की अधीनता में संगठित हो जाते हैं। यह 'शासक स्थायी-भाव' आत्मगौरव का स्थायी-भाव (self-regarding sentiment) है। यह स्थायी-भाव अन्य स्थायी-भावों का राजा बन जाता है। अन्य समस्त स्थायी-भाव इस भावराज के आज्ञानुवर्ती सेवक बन कर ही काम करने लगते हैं। हमारी घृणा, मैत्री, शत्रुता आदि सब आत्म-गौरव के स्थायी-भाव के अनुकूल ही बन जाते हैं। आत्मगौरव जिससे रक्षित रहे हम वही करते, वही सोचते-विचारते हैं। जो स्थायी-भाव आत्म-सम्मान के खिलाफ पड़ता है हम उसका परित्याग वैसे ही कर देते हैं जैसे विषाक्त भोजन का। अतः अब हमें वह देखना चाहिये कि आत्मगौरव के स्थायी-भाव का विकास किस प्रकार होता है।

आरम्भ में जब तक बच्चा बहुत छोटा रहता है उसे 'आत्मा'

अथवा 'स्व' (self) का ज्ञान नहीं होता। वह समस्त चर-अचर, जड़-चेतन को एक अस्पष्ट एकता के रूप में ही देखता है। अभी तक उस में भेद-बुद्धि का उदय नहीं हुआ रहता। किन्तु शीघ्र ही वह आत्म-अनात्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह अपने को शेष सृष्टि से भिन्न समझने लगता है। वह अब एकता के स्थान में भिन्नता देखता है। वह समस्त जगत को 'आत्म' तथा 'अनात्म' जैसे दो टुकड़ों में विभाजित कर लेता है। अस्थि-मांस का एक पिण्ड-विशेष वह स्वयं है—उसका आत्म अथवा 'स्व' वास्तव में इस समय शरीर तक ही सीमित रहता है—और उस शरीर-पिण्ड से बाहर और जो कुछ है वह सब अनात्म, 'स्वयं' से अलग, दूसरी सत्ता है। सीधे साधे आत्म और अनात्म जैसे दो हिस्सों में विभक्त उसकी दुनियाँ शीघ्र ही जटिल होने लगती है। एक ओर तो वह अपनी अनुभूतियों को भी, शरीर के साथ ही, अपनी आत्मा, 'स्व', का अंग समझने लगता है और दूसरी ओर अनात्म सत्ता को भी वह दो भागों में बाँट देता है। वह देखता है सभी पदार्थ एक समान नहीं हैं; कुछ पदार्थ तो माता, पिता, भाई, बहिन जैसे हैं जो उसकी सुविधा का ध्यान रखते हैं, उसके भोजनादि का प्रबन्ध करते हैं और कुछ मेज, दीवाल, अलमारी जैसे हैं जो उसकी ओर से बिल्कुल लापरवाह हैं। घिसलते-घिसलते वह मेज़ के पास पहुँच कर उससे टकरा जाता है। उसके चोट लग जाती है, वह रोता है, चिल्लाता है मेज उसे गोद में उठाने नहीं दौड़ती। भूख लगने पर माँ उसे खाना देती है, दीवाल अथवा अलमारी इस ओर कभी ध्यान नहीं देती। वह देखता है कि उसके बाहर की दुनियाँ दो प्रकार की है, सचेतन एवं अचेतन। सचेतन पदार्थों को वह अपने जैसा तथा अचेतन को उससे भिन्न, अन्य श्रेणी का, मान लेता है।

इन अचेतन व्यक्तियों को वह अपने जैसा ही आचरण करते देखता है। वह देखता है कि उन्हें भी उसी की तरह सुख-दुख होता है,

भूख प्यास लगती है। यह ज्ञान उसे प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका वह अनुमान करता है। अपने भावों तथा विचारों का वह उनमें आरोप (projection) करता है। समान आचारण करने वाले व्यक्ति समान मानसिक अनुभूतियाँ भी करते होंगे वह यही मान लेता है। ये दूसरे व्यक्ति कभी उसकी प्रशंसा करते हैं और कभी निन्दा। जैसे-जैसे उसका विकास होता जाता है वैसे-वैसे ही दूसरों के अपने सम्बन्ध के विचारों को भी वह अपनी आत्मा अथवा 'स्व' का अंग समझने लगता है। उसके 'स्व' का दायरा बढ़ता है, उसमें विस्तार होता है। अपने शरीर, भावों, एवं विचारों के साथ ही अपने सम्बन्ध में दूसरों की सम्मति उसमें सम्मिलित हो जाती है। यदि दूसरे उसे ईमानदार, निर्भीक, बुद्धिमान समझते हैं तो सहानुभूति (sympathy) तथा निर्देश-ग्रहण (suggestibility) नाम की प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा वह अपने को वैसा ही मान लेता है तथा यदि लोग उसे डरपोक, मूर्ख, बेईमान समझते हैं तो वह भी अपने सम्बंध में वैसा ही दृढ़ विश्वास कर लेता है। उसका 'मैं' अथवा 'स्व' उन सभी गुणों का अधिष्ठान, आधार, बन जाता है जो समाज ने उसमें आरोपित कर दिये हैं।

अभी उसका आत्म-विकास पूरा नहीं हुआ। अभी तक तो वह जो कुछ है वही उसका 'स्व' बना है। किन्तु वह जो कुछ है उतने से ही संतोष नहीं होता। वह बहुत कुछ और भी बनना चाहता है। वह कमज़ोर है, तगड़ा होना चाहता है; निरक्षर है, साक्षर बनना चाहता है। अनेक नैतिक गुणों को वह अपने में लाना चाहता है। विक्षुब्ध होने पर, आवेश में आकर, वह किसी को गाली दे बैठता है। समय-बीतने पर शान्त होकर वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि यह आचरण उसके अनुरूप नहीं हुआ। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था। वह निश्चय करता है कि भविष्य में वह आवेश में नहीं बहेगा, अपने आचरण पर अधिक

नियंत्रण रखेगा। इस प्रकार अनेक आशाओं, अभिलाषाओं एवं अनेक वांछित तथा वांछनीय नैतिक गुणों से युक्त वह अपने आदर्श 'स्व' की सृष्टि करता है। उसका आचरण अब इस 'आदर्श स्व' से नियंत्रित होने लगता है। धार्मिक, सामाजिक, नैतिक एवं आर्थिक आदर्श उसके इस 'आदर्श स्व' के इर्द-गिर्द संगठित हो जाते हैं। उनका संगठन जितना ही दृढ़ होता है, उसके 'आत्म-गौरव' का स्थायी भाव (self-regarding sentiment) उतना ही पुष्ट हो जाता है। उसके सब स्थायी-भाव इसी की अधीनता में आ जाते हैं। यही स्थायी-भाव उसके वास्तविक व्यक्तित्व का निर्देशक बन जाता है।

स्थायी-भाव एवं शिक्षा—शिक्षा का काम है कि विद्यार्थियों के सामान्यतः बिखरे एवं असम्बद्ध संवेगों को स्थायी-भावों में संगठित करे और क्रमशः समस्त स्थायी-भावों का आत्म-गौरव के स्थायी-भाव में समावेश करे। उचित तथा समाजोपयोगी आदर्शों को विद्यार्थियों के सामने रखे, उपदेश और प्रधानतः आचरण के द्वारा एक प्रबल नैतिक 'आदर्श स्व' का निर्माण करे। जिस प्रकार किसी को महान् समझकर हम उसके 'आदर्श स्व' को ऊपर उठा सकते हैं उसी प्रकार उसको हीन एवं अयोग्य प्रचारित करके उसको गिरा भी सकते हैं। जिस बालक को सभी चोर समझने लगते हैं उसे चोरी करने में जरा भी संकोच नहीं होता। वह समझता है चोरी करना तो उसका गुण ही है। दूसरी ओर यदि आप चोर को भी संरक्षकता में अपना रुपया छोड़ जाँय, और उसको यह विश्वास दिला सकें कि आप उसे सच्चरित्र एवं उत्तरदायी समझते हैं तो युगों के आचरण से पुष्ट उसकी चौरवृत्ति पर सहज ही विजय पाई जा सकती है। वह अपने को उस गौरव के उपयुक्त सिद्ध करने के लिए अपने समस्त व्यक्तित्व की, अपनी समस्त मूलप्रवृत्तियों एवं सामान्य वृत्तियों की सम्मिलित शक्ति की, बाजी लगा देगा। व्यक्तित्व-विकास एवं चरित्र-निर्माण में स्थायी भावों से अमूल्य सहायता ली जा सकती है।

भावना-ग्रन्थि (complex)—मनुष्यों की विविध मूलप्रवृत्तियों एवं अन्य जन्मजात वृत्तियों का, उसकी स्वाभाविक इच्छाओं एवं वासनाओं का, वर्णन हम कर चुके हैं। उन सबकी निर्बाध तृप्ति सामाजिक विकास की वर्तमान दशा में सम्भव नहीं। प्राय: हम आंशिक तृप्ति ही कर पाते हैं और कभी-कभी हमें अपनी इच्छाओं का दमन (repression) ही करना पड़ता है। मातहत अपने अफसर को कितना ही सख्त और मूर्ख क्यों न समझे वह अपनी राय को प्रकट नहीं कर सकता। शिष्टता के अनुरोध एवं सम्भावित अनिष्ट की आशंका से वह उसकी दयालुता तथा पाण्डित्य का राग अलापने को विवश है। हमारी सर्वातिशायिनी कामवृत्ति का दमन तो पद-पद पर करना अनिवार्य हो जाता है। यदि हम इन इच्छाओं की यथारुचि तृप्ति करने को स्वतंत्र हो जायँ तो समाज में एक ऐसी अनवस्था उत्पन्न हो जाय जिसके फलस्वरूप हम एक बार फिर असभ्य, बर्बर, पाशविक जीवन में जा पहूँचे। क्रीड़ा-प्रिय बालक की इच्छा पतंग उड़ाने की है परन्तु पिता का क्रोध, अध्यापक का दण्ड, घड़ी की सुइयाँ उसे स्कूल की ओर खींच ले जाती हैं। उसे अपनी इच्छा रोकनी पड़ती है, उसका दमन या प्रतिरोध करने को वह विवश है। इस प्रकार से दमन की हुई अथवा प्रतिरुद्ध इच्छायें नष्ट नहीं हो जातीं। अचेतन मन में जाकर, वहाँ से हमारे चेतन आचरण को प्रभावित किया करती हैं। हमें उनका ज्ञान नहीं होता, हमारा चेतन मन उन्हें नष्ट हुआ समझ लेता है, किन्तु वे बराबर रहती हैं और भाँति-भाँति के रूप बनाकर हमारे बिना जाने अपनी तृप्ति किया करती हैं। ये प्रतिरुद्ध इच्छायें हमारे अचेतन मन में उसी प्रकार संगठित होती रहती हैं जैसे चेतन मन में हमारे संवेग। जिस प्रकार संवेग संगठित हो कर स्थायी-भाव का रूप धारण कर लेते हैं वैसे ही प्रतिरुद्ध इच्छायें भावना-ग्रन्थियों की सृष्टि करती हैं। स्थायी-भावों का हमें ज्ञान रहता है, हम जान-बूझकर उन्हें बनने देते हैं, उन्हें अपने 'स्व' का भाग

मानते हैं। भावना-ग्रन्थियाँ हमारे अज्ञात में बनती हैं, हम उन्हें अपने 'स्व' का भाग मानने को तैयार नहीं होते। हमारे आदर्श आत्मगौरव के स्थायी-भाव में और हमारी भावना-ग्रन्थियों में प्रायः विरोध होता है। इसीलिये स्थायी-भाव अधिक संगठित एवं भावना-ग्रन्थि कम संगठित अथवा असंगठित संवेग-समुदाय भी कही जाती है। परन्तु दोनों ही हमारे मन के गठन अथवा आकार (structure) के भाग हैं और इसलिए दोनों ही हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं। स्थायी-भाव-जात आचरण का, आवश्यकता पड़ने पर, हम नियंत्रण कर सकते हैं किन्तु भावना-ग्रन्थि, एक अज्ञात शत्रु के रूप में गुप्त रहकर हमपर आक्रमण करती है। शत्रु का ज्ञान न रहने से जिस प्रकार हम उससे अपनी रक्षा नहीं कर पाते ठीक वैसे ही ये भावना-ग्रन्थियाँ हमारे चरित्र को विकृत किया करती हैं और हमें स्वयं पता नहीं रहता कि कोई अवांछनीय आचरण हम क्यों कर बैठे हैं। एक अज्ञात अन्तर्द्वन्द्व सा निरन्तर चला करता है। इन ग्रन्थियों के कारण प्रतिरुद्ध बालक प्रायः अपराधी बन जाता है। अतः सम्यक् चारित्रिक विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भावना-ग्रन्थियाँ यथा, सम्भव न बनने पावें और जो बन चुकी हैं उनका मनोविश्लेषण के द्वारा अन्त कर दिया जाय।

भावना-ग्रन्थि एवं आचरण—एक शिशु अपने पिता से कुछ बात कह रहा है। अबोध होने के कारण वह अशिष्ट अथवा अश्लील भाषा का प्रयोग कर बैठता है। बाल-मानस से अपरिचित पिता उसे बुरी तरह से डाँट देता है। अपने अपराध की गुरुता को समझने में अक्षम शिशु क्षुब्ध हो उठता है। भय, क्रोध, पीड़ा मिलकर उसे बेचैन कर देते हैं। उसकी बात रुक जाती है। वह कुछ कहना चाहता है किन्तु भावों के संघर्ष के कारण विचार-क्रिया शिथिल हो जाती है और शब्द रुक-रुक कर निकलते हैं। वह हकलाने लगता है। भावा-

वेश की दशा में हम सभी हकलाने से लगते हैं। भविष्य में बोलते समय पिता को देख कर बालक के अचेतन से उस पूर्व घटना की, उससे सम्बन्धित संवेग के धक्के आदि की, स्मृति फिर ताजी हो जाती है। अतएव पिता के सामने वह उसी पूर्व आचरण की, हकला कर बोलने की आवृत्ति करता है। यदि संवेग का धक्का (emotional shock) बहुत तीव्र हुआ तो, सम्भव है, वह सभी के सम्मुख हकलाने लगे। दोनों प्रकार के उदाहरण देखने में आते हैं। कुछ बालक कुछ ख़ास व्यक्तियों के सम्मुख ही हकलाते हैं और कुछ सर्वत्र। यदि बालक को इस दोष से मुक्त करना है तो हमें बालक से सहानुभूति एवं स्नेह का वर्ताव करना होगा। अपने आचरण से हमें उसे यह विश्वास दिलाना होगा कि बोलने में कोई गलती नहीं करता, अशिष्टता अथवा ग़लती की झूठी कल्पना के कारण ही उसके बोलने में रुकावट आ जाती है। यदि वह इसका ख्याल करना छोड़ दे तो दोष अपने आप ठीक हो जाय। जहाँ बालक में आत्म-विश्वास आया हकलाना स्वयं गायब हो जायगा।

अभी हमने देखा कि किस प्रकार प्रतिरुद्ध इच्छायें भावना-ग्रन्थि बन कर एक अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करके हमारे आचरण को विकृत कर देती हैं। दूसरी बात भावनाग्रन्थि के सम्बन्ध में यह ध्यान देने की है कि प्रतिरुद्ध इच्छा रूप बदल कर अपनी तृप्ति करती है। वाह्य वातावरण अथवा नैतिक भावना जब हमें किसी इच्छा के दमन करने को वाध्य करती है तो हमारी वह इच्छा, वेश बदल कर, एक ऐसे रूप में प्रकट होती है जिसका विरोध नीति अथवा परिस्थिति नहीं कर सकती। छोटे बच्चों के साथ पिता कठोर व्यवहार करता है। बच्चा नाराज़ होता है किन्तु पिता से, अपनी शक्ति-हीनता के कारण, बदला नहीं ले सकता। बदला की इच्छा दब जाती है, परन्तु बालक गन्दा रहने लगता है। उसे पता है कि पिता को सफाई पसन्द है।

उसका अचेतन मलिनता द्वारा पिता को पीड़ा पहुँचा कर तृप्ति का अनुभव करता है। एक बालक अपने छोटे भाई के जन्म से, आरम्भ में, बहुत प्रसन्न होता है। किन्तु शीघ्र ही वह देखता है कि सब का ध्यान उस नवजात शिशु पर केन्द्रित हो गया है। कुछ समय पहले तक वह सभी के स्नेह एवं आदर का पात्र था किन्तु अब वही लोग उसकी उपेक्षा करने लगे हैं। उसे भी मानव-सुलभ स्नेह की भूख है। उसकी तृप्ति में बाधक होने के कारण यह बच्चा उसके क्रोध एवं घृणा का विषय बन जाता है। वह जानता है कि छोटे भाई से घृणा करना पाप है, धर्म-विरुद्ध है। अतएव उसकी नैतिक भावना इस घृणा एव क्रोध को दबा देती है। किन्तु ये अवरुद्ध संवेग अचेतन में जाकर एक भावना ग्रन्थि के रूप में स्थित हो जाते हैं। अनजान में वह इन संवेगों की तृप्ति करता है। छोटे भाई के खिलौने प्राय: पैर के नीचे दब कर टूटने लगते हैं, उसके पीने को दूध लेकर चलने में वह अकसर फिसल जाता है; दूध गिर जाता है, बच्चा भूखा रह जाता है। एक बालक चम्पा नाम की लड़की को प्रेम करता है। उसके अभिभावक उसे उस लड़की से मिलने नहीं देते। अब वह नाम-साम्य के कारण चम्पा फूल की ओर झुकता है। अपने बाग में, मित्रों को बाटिका में, कालेज के उद्यान में, चम्पा का फूल उसके कारण बचने नहीं पाता। चम्पा को हस्तगत करके ही वह मानेगा, उस पर यथासम्भव दूसरे का अधिकार वह होने नहीं देगा। उसकी प्रतिरुद्ध इच्छा रूपान्तरित होकर अपनी तृप्ति करती है।

हमारी प्रतिरुद्ध इच्छायें, हमने देखा, अनेक प्रकार की भावना-ग्रन्थियों की सृष्टि करती हैं। उनमें से कुछ मुख्य हैं और उनका सामना बहुधा शिक्षकों को करना पड़ता है। अतएव उनका स्पष्ट विवेचन नितान्त आवश्यक हैं।

शासन-ग्रन्थि (Authority Complex ,—सख्त अभिभावक बालकों को प्राय: हमेशा ही शासन में रखना चाहा करते हैं।

गन्दे मत रहो, चिल्लाओ मत, चोरी मत करो, झूठ मत बोलो, पढ़ो लिखो, सच्चरित्र बनो, शिष्टता सीखो आदि विधि-निषेधों के द्वारा वे बालकों का जोवन अच्छा खासा जेलखाना बना देते हैं। बच्चा जो कुछ करना चाहता है उसी से उसे मना कर दिया जाता है। ऊपर से बालक चुपचाप सब कुछ सहता है पर उसका मन ऐसे अभिभावक का विरोधी बन जाता है। जब वह स्कूल जाता है तो अध्यापक को पिता का स्थानापन्न अथवा प्रतीक (substitute) मान लेता है। दोनों का काम कुछ एक ही जैसा है न ? उसका चेतन मन तो किसी प्रकार शासन को स्वीकार करता है पर अचेतन बग़ावत करने से नहीं चूकता। उसे अध्यापक कुछ प्रश्न घर से कर लाने को देता है। वह प्रश्नों का करना भूल जाता है। गुरु जी की आज्ञा का उल्लघंन करके उसके अचेतन को संतोष मिलता है। उसे इसका दण्ड मिलता है। विरोध-भावना बढ़ती हैं। क्रमश: यह विरोध बड़ा भयावह रूप धारण करता है। व्यक्तिगत शासक का स्थान शासन-संस्था ले लेती है। अब वह किसी शासक विशेष का नहीं, शासन मात्र का विरोधी बन जाता है। वह सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक नियमों का उल्लंघन करने में एक विशेष तृप्ति का अनुभव करता है। संसार के प्रसिद्ध चोर, डाकू, एवं विप्लवी ऐसे ही प्रतिरुद्ध व्यक्ति हैं। पिता अथवा गुरु के प्रति ज्ञात विद्रोह करना अनुचित समझकर विरोध वृत्ति का दमन करते रहे, वे प्रतिरुद्ध इच्छायें शासन-भावना-ग्रन्थि के रूप में घनीभूत होती रहीं और उस ग्रन्थि का प्रकाशन अन्त में इस अप्रिय रूप में हुआ।

हीनता की भावना ग्रन्थि (inferiority complex)—छोटे बच्चों में हीनता की भावना प्राय: रहती ही है। वे देखते हैं कि उनके चारों ओर बड़े-बड़े लोग हैं—कद, शक्ति, बुद्धि आदि सभी बातों में अपेक्षाकृत महान्। किन्तु यदि इस प्राकृतिक हीनता के अतिरिक्त कोई अन्य दुर्बलता भी आ जुड़ी तो यह भावना हीनता की

भावना-ग्रन्थि का रूप धारण कर लेती है। यदि बालक अन्धा, काना, लँगड़ा, बहरा आदि हुआ तो वह विशेष करके अपने को हीन मानने लगता है। जिस विषय में वह हीन नहीं भी है उसमें भी वह अपने को हीन समझ लेता है। पढ़ने-लिखने में खेलने-कूदने में, वह प्राय: मन्दोत्साह हो जाता है। अपनी अयोग्यता का शिकार बनकर वह उचित विकास नहीं करता, दैन्यवृत्ति बढ़ जाती है, आत्मगौरव की भावना दब जाती है, वह चेष्टाहीन, शिथिल, निरुत्साह जीवन बिताने लगता है।

यदि किसी प्रकार उसकी आत्मगौरव की भावना जाग्रत हो जाती है तो उसकी आशातीत उन्नति भी होती है, एक ओर की हीनता को वह दूसरी तरफ से पूरा करने का प्रयास करता है। पढ़ने में कमजोर बालक प्राय: खेलने में तेज होता है। जिस बालक का कण्ठ-दोष के कारण शुद्ध बोलना सम्भव नहीं होता वह लेख लिखने में अधिक तेज हो जाता है। बाइस्कोप का आविष्कारक एडीसन अपने बाल्य-काल में ही बहरा हो गया था। निस्सहाय, दीन तथा बधिर बालक जो इतना बड़ा वैज्ञानिक हो सका उसके मूल में एक ओर की हीनता को दूसरी ओर से पूरा करने की भावना का अवश्य ही बहुत बड़ा हाथ रहा होगा। अतएव हीनता की भावना-ग्रन्थि से किसी व्यक्ति को यदि मुक्त करना है तो उसमें प्रकृति प्राप्त किन्तु परिस्थितियों के कारण दबी हुई आत्म-गौरव की मूल-प्रवृत्ति को जाग्रत कर देने से काफी लाभ हो सकता है। प्रत्येक बालक में कुछ-न-कुछ ऐसा गुण ढूँढ़ निकाला जा सकता है जिसमें प्रयास करके, वह विशिष्टता प्राप्त कर सकता है और तब अपने साथियों में गौरव का स्थान प्राप्त करना उसके लिए सरल हो जायगा।

आत्म-गौरव की भावना-ग्रन्थि (self-assertion complex)—जिस प्रकार हीनता की भावना-ग्रन्थि बन जाती है वैसे ही गौरव की भावना-ग्रन्थि भी बनती है और अस्वाभाविक मनोवृत्ति होने के कारण सीमाहीन दु:ख का उत्पादन करती है। बहुत दुलराये बच्चे

प्रत्येक हठ को हठ-पूर्वक स्वीकार किया जाता है, जिन्हें अपने से निम्नस्तर के बालकों के साथ जीवन बिताने का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य मिलता है, जो धनी पिता की सन्तान हैं और इसी लिए खेल में भी जिन्हें कभी किसी प्रकार के विरोध का सामना नहीं करना पड़ता, उनका मस्तिष्क धीरे-धीरे अपनी श्रेष्ठता की भावना से भर उठता है। वे अपने को विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि में दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझने लगते हैं। उनका व्यवहार अस्वाभाविक हो जाता है। वे कटु, रूखे, अतिशय अभिमानी हो जाते हैं। किसी प्रकार का भी विरोध उन्हें असह्य होने लगता है, मारपीट, झगड़े की नौबत प्रायः आ जाती है। श्रेष्ठ बनने की बलवती इच्छा से प्रेरित होकर रुपया की कमी होने पर वे चोरी भी करते हैं क्योंकि बिना धन के न तो दावतें ही दी जा सकती हैं और न बढ़िया पोशाक, पान-तम्बाकू इत्यादि का शौक ही पूरा किया जा सकता है। यह ग्रन्थि हीनता की ग्रन्थि से उलटी है अतएव इससे मुक्ति पाने के लिए हीनता अथवा दैन्य की भावना को जगाना तथा गौरव की भावना का मार्गान्तरीकरण एवं शोध आवश्यक है।

काम-सम्बन्धी भावना ग्रन्थि (sex complex)—हमारे वर्तमान समाज में कामवृत्ति का दमन जितना अधिक किया गया है और किसी वृत्ति का उतना अधिक नहीं। काम सम्बन्धी चर्चा चलाना भी पाप है। धर्मयुक्त काम भी हेय समझा जाता है, अवैध काम-तृप्ति को तो सीधा नरक का सोपान ही गिना जाता है। बचपन से ही भावना दृढ़ हो जाती है कि इस वृत्ति से अधिक नीच वृत्ति और कोई नहीं। इस सम्बन्ध में जिस सतर्क, सजग मौन का पालन किया जाता है उसका परिणाम और हो ही क्या सकता है? किन्तु प्रकृति तो मानवीय विधि-निषेधों को मान कर नहीं चलती। उसने तो मनुष्य को सबसे अधिक परिणाम में कामवृत्ति दे रक्खी है। यही उसके लिए सब से बड़ा आकर्षण सदा रही है। इसकी नीचता में

वह विश्वास कर लेता है, धर्म की आज्ञा एवं समाज की कल्पना वह शिरोधार्य कर लेता है, परन्तु काम की तृप्ति वह करता ही है, इच्छा रखते हुये भी प्राय: रोक नहीं पाता। ऐसी दशा में वह एक अनिश्चित पाप की भावना (sense of sin) का शिकार बन जाता है एक अव्यक्त भय, एक अस्पष्ट पाप, जैसे उसे दबाता सा रहता है। वह किसी काम में आनन्द का अनुभव नहीं करता, काम-व्यापार भी जैसे अतृप्तिकर बन जाता है। जब वह कामवृत्ति को दबा लेता है, नीच प्रकृति पर साधु-प्रकृति की विजय हो जाती है, तब भी समस्या सुलझती नहीं है। प्रबल मूलप्रवृत्ति का स्वाभाविक आकर्षण तो रहता ही है, प्रतिरुद्ध बालक सहज वासना से आकृष्ट बराबर अपने पतन के भय से शंकालु रहता है। ऐसी परिस्थिति में, जैसा 'बर्ट' ने कहा है, कुछ अचेतन यंत्र की तरह और कुछ अर्धचेतन भय के कारण, एक बड़े पाप से बचने के उद्देश्य से वह अन्य छोटे मोटे पाप कर बैठता है जैसे चोरी करना, झगड़ा करना, घर से अथवा स्कूल से भाग जाना आदि। एक बड़े पाप से अपने को रोक कर, अवरुद्ध इच्छा का रेचन छोटी मोटी अनुचित कृतियों के द्वारा करना उतना बुरा नहीं मालूम पड़ता। लड़कियों को लेकर पार्क में घूम नहीं सकता तो मनीबैग चुराने से क्यों चूके। ऐसी चोरियाँ प्राय: उन्हीं चीज़ों की होती हैं जिनको समानता, सहचारिता आदि के द्वारा काम-तृप्ति का स्थानापन्न बनाया जा सके। ऐसी दशा में पुन: शिक्षण, अमूलक पाप भावना का निराकरण एवं कामवृत्ति के शोध करने की आवश्यकता है। कामवृत्ति का शोध होने से प्रतिरुद्ध संवेग का दूसरे मार्ग से निष्काशन हो जायगा और तब प्रतीक अथवा स्थानापन्न बनी हुई वृत्तियाँ अपने आप शान्त हो जायँगी।

भावना-ग्रन्थियों का उपचार—भावना-ग्रन्थियों का विवेचन करते समय यदा कदा उनसे मुक्त होने का मार्ग भी निर्देशित किया गया है। विषय इतना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है कि कही हुई बातों को

दुहराकर एक आध नये सुझाव यहाँ फिर एक साथ रखे जा रहे हैं।

सबसे पहली एवं सबसे आवश्यक चीज़ निदान (diagnosis) है। बालकों के मानसिक संघर्ष एवं भावना, ग्रन्थियों का पता लगाना विशेषज्ञों का ही काम है अतएव बड़ी सावधानी के साथ कारण का निदान करना चाहिये। यह काम मनोविश्लेषण का पण्डित ही कर सकता है।

निदान के पश्चात् यदि ज़रूरत रहे तो पुन: शिक्षा (re-education) का प्रबन्ध करना चाहिये। अकसर तो बालक जब कारण जान जायेगा तो यह ज्ञान मात्र ही उसके सुधार के लिये पर्याप्त होगा। परन्तु आवश्यक होने पर पुन: शिक्षा की भी व्यवस्था करनी चाहिये। नैतिक सिद्धान्तों की बौछार पुन: शिक्षा नहीं है। बालक को अपनी भावनाओं के व्यक्त करने का, दबे संवेगों के रेचन का, मौका देना चाहिये। जी खोल कर, मन के गुप्त उद्गारों को प्रकाशित करने से वह शान्त हो जायगा, फिर भी आदत यदि शेष रहे तो क्रमश: अच्छी आदतों का अभ्यास कराया जा सकता है।

किन्तु बालक अपने हृदय को सबके सामने खोलेगा नहीं। भय, लज्जा, अभिमान आदि निदान में बाधक हो सकते हैं। अतएव उसे भेद खोलने के लिये एक विश्वासपात्र स्नेहशील व्यक्ति की ज़रूरत है। लड़के को यह निश्चय होना आवश्यक है कि निदानकर्ता उसका सर्वतोभावेन शुभचिन्तक है, उससे उसे किसी प्रकार का खतरा नहीं है; वह उसका मित्र है, शासक नहीं।

अन्त में बालक में वांछनीय स्थायी-भावों का निर्माण करना चाहिये। स्थूल पदार्थों एवं विचारों के प्रति स्थायी-भावों की सृष्टि अधिक लाभप्रद होगी क्योंकि अधिकांश बालक सूक्ष्म आदर्शों को समझ ही नहीं सकते। विशिष्ट बुद्धि-सम्पन्न बालकों के लिये सूक्ष्म आदर्शों की योजना भी की जा सकती है।

सरांश—हमारे भाव अथवा राग जब प्रबलरूप से उत्तेजित हो

जाते हैं तो हम उन्हें संवेग कहते। ड्रेवर ने संवेगों की पांच विशेषतायें बताई हैं—

(१) संवेग में किसी 'विषय' से रागात्मक सम्बन्ध होता है;

(२) संवेगों की दशा में शारीरिक परिवर्तन का प्रमुख भाग रहता है;

(३) संवेग में सुख अथवा दुःख की अनुभूति किसी न किसी मात्रा में सदा रहती है;

(४) संवेग की अनुभूति प्रबल होती है और इसलिये संवेग में अन्ध प्रेरक शक्ति काफ़ी होती है, संवेग की दशा में उच्च मस्तिष्क काम करना बन्द कर देता है ;

(५) संवेग की दशा में व्यक्ति अधिक विचार नहीं कर सकता और वह मूल-प्रवृत्ति प्रेरित आचरण ही करने लगता।

जेम्स-लैंग सिद्धान्त के अनुसार शारीरिक परिवर्तन के कारण होनेवाली अनुभूति ही संवेग है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम डर कर नहीं भागते, प्रत्युत हम भागते हैं इसीलिये डर का अनुभव करते हैं—शारीरिक उथल-पुथल मुख्य है, मानसिक अनुभूति गौण है। किन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं सिद्ध होता। कई प्रयोग इस सिद्धान्त को गलत सिद्ध कर चुके हैं। शेरिंगटन ने एक कुत्ते की उन सब नाड़ियों को काट दिया था जो धड़ की संवेदना मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं फिर भी क्रोध इत्यादि का प्रदर्शन वह पूर्ववत् ही करता रहा। एक बिल्ली की भी स्वतन्त्र नाड़ी-मंडल तथा मस्तिष्क को जोड़ने वाली समस्त नाड़ियाँ काट दी गई किन्तु क्रोध के समस्त वाह्य-प्रदर्शन यथापूर्व होते रहे। एक प्रखर-बुद्धि महिला की मेरुदण्ड तथा मस्तिष्क को जोड़ने वाली नाड़ियाँ, घोड़े से गिरने के कारण, टूट गई थी, उसके भी संवेगात्मक जीवन में कोई अन्तर नहीं आया। अतः यह सिद्ध है कि जेम्स-लैंग सिद्धान्त ठीक नहीं है।

संवेग का हमारे क्रियात्मक जीवन से गहरा सम्बन्ध है। मूल-प्रवृत्ति-

प्रेरित क्रिया में कोई वाधा आने पर संवेग जाग्रत हो जाते हैं। वे हमें जो बहुत बड़ी शक्ति देते हैं, उसका उपयोग शिक्षा में होना चाहिये। विशेष परिस्थति में विशिष्ट संवेगों की अनुभूति करने का अभ्यास भी हमें करना चहिये। शिक्षा एवं संस्कृति सुनियंत्रित संवेगों का दूसरा नाम है।

जब कोई संवेग किसी एक वस्तु, व्यक्ति अथवा विचार से सम्बद्ध हो जाते है तो इस संस्कार को हम स्थायी-भाव कहते हैं। संवेग एक वास्तविक रागात्मक अनुभूति का नाम है, स्थायी-भाव उस संस्कार का नाम है जिसके कारण अनेक प्रकार के संवेगों की अनुभूति सम्भव होती है। मित्रता, न्याय, निश्छलता आदि अनेक स्थायीभाव हैं जिनके कारण हम विविध प्रकार के संवेगों की अनुभूति करते हैं।

जिस प्रकार अनेक संवेग एक स्थायी-भाव को केन्द्र बना कर संगठित हो जाते हैं वैसे ही अनेक स्थायी-भाव आत्मगौरव नामक स्थायी-भाव की अधीनता में संगठित हो जाते हैं। आत्मगौरव का स्थायी-भाव क्रमशः विकसित होता है। पहले शरीर मात्र ही 'आत्म' का बोधक होता है। शीघ्र ही विचार तथा भाव भी उसके अंग बन जाते हैं। फिर दूसरों की अपने सम्बन्ध में मति तथा अनेक आदर्श भी इस कल्पना में जुड़ जाते हैं। इन सभी से युक्त आत्म-गौरव का स्थायी-भाव मनुष्य के लिये भावों का राजा बन जाता है। चरित्र का निर्माण इन स्थायी-भावों का निर्माण ही समझना चाहिये। वांछनीय स्थायी-भावों की सृष्टि करना व्यक्तित्व-विकास एवं शिक्षा का प्रमुख अंग है।

हम अपनी समस्त स्वाभाविक अथवा अर्जित इच्छायें तृप्त नहीं कर पाते। कुछ इच्छायें शिष्टता अथवा सभ्यता के अनुरोध से हमें दमन करनी ही पड़ती हैं। दमन की हुई ये इच्छायें नष्ट नहीं हो जातीं वे हमारे अचेतन में जाकर जम जाती हैं और अपनी तृप्ति का अवसर ढूँढ़ा करती हैं। वे नष्ट नही हो जाती इसका पता हमें स्वप्नों अचेतन

तथा अर्द्धचेतन अवस्था में प्रकट होने वाली इच्छाओं आदि से चलता है। ये प्रतिरुद्ध इच्छायें रूप बदल कर, सांकेतिक ढँग से, प्राय: अपनी तृप्ति किया करती हैं। पिता पर क्रोध प्रकट करने में अक्षम बालक गन्दा रह कर, अपनी गन्दगी से, पिता को कष्ट दे सकता है। इस गन्दी आदत का करण वह स्वयं नहीं जानता, उसका अचेतन इसका नियंत्रण किया करता है। ये भावना-ग्रन्थियाँ अनेक बीमारियों का भी कारण बन सकती है। अतएव यथासम्भव हमें इच्छाओं का प्रतिरोध नहीं करना चाहिये और जहाँ पर कुछ भावना-ग्रन्थियाँ पहले से ही बन गई प्रतीत हों मनोविश्लेषण के द्वारा पता लगाकर हमें उनका रेचन कर देना चाहिये। अकसर तो उनका ज्ञान मात्र ही उन्हें दूर करने के लिये काफ़ी होगा; आवश्यकता पड़ने पर पुन: शिक्षा से भी काम लिया जा सकता है।

प्रश्न

१—"हमारी समस्त क्रियायें संवेगों से परिचालित होती हैं अत: शिक्षा को संवेगों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।" उपर्युक्त कथन की व्याख्या कीजिये और स्पष्टतया बतलाइये कि सम्यक् शिक्षा-योजना में संवेगों का किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है।

२—स्थायी-भाव क्या होते हैं? चरित्र-निर्माण में उनका क्या उपयोग हो सकता है?

३—शासक-स्थायी-भाव किसे कहते हैं? शिक्षक बालकों के चरित्र-निर्माण में क्या सहायता दे सकता है?

४—भावना-ग्रन्थि क्या होती है? उससे बाल-मनोविकास में क्या विकार उत्पन्न हो सकते हैं तथा उनसे किस प्रकार बालकों की रक्षा करनी चाहिये?

वंशानुक्रम तथा वातावरण

(Heredity and Environment)

देखने में आता है कि पुत्र पिता के गुण लेकर पैदा होता है। वर्ण, आकृति, कद, सौन्दर्य में प्रायः वह पिता के अनुरूप ही होता है जन साधारण का विश्वास है कि बौद्धिक एवं नैतिक प्रवृत्ति भी उसे उत्तराधिकार में मिलती है। इस लोक-प्रवाद में वैज्ञानिक सत्य भी है अथवा नहीं और यदि है तो कितना आज हमें यही देखना है।

शिक्षा की दृष्टि से इस प्रश्न का विशेष महत्व है। लोकतंत्रात्मक शिक्षा आरम्भ में इस आशा को लेकर ही चली थी कि कुछ पीढ़ियों तक उचित रूप से यदि सब को शिक्षा दी जा सकी तो साधारण मनुष्य बहुत कुछ बदला जा सकेगा। वह वर्तमान मनुष्य से अधिक नीतिमान, अधिक बुद्धिमान होगा। इस आशा का आधार यह विश्वास था कि मनुष्य के विकास में वंशानुक्रम (heredity) के साथ, उससे भी अधिक, वातावरण (environment) का प्रभाव पड़ता है। हमारी शिक्षा एक प्रकार का वातावरण ही तो है। यदि व्यक्ति के विकास में वातावरण का विशेष प्रभाव न पड़ता हो, यदि बीजपरम्परा अथवा वंशानुक्रम (heredity) ही उसके भविष्य-विकास को निर्धारित करता हो तो शिक्षा पर जितना जोर आज दिया जा रहा है वह प्रायः निरर्थक हो जायगा। यदि यह निश्चित है कि नीम के वृक्ष में अंगूर कभी नहीं लग सकते तो अंगूर का रसिक व्यर्थ ही नीम की सुश्रूषा में समय एवं शक्ति का अपव्यय क्यों करे? अतएव बीज-परम्परा एवं वातावरण के अपेक्षाकृत प्रभाव को जान लेना शिक्षक के काम में बहुत सहायक होगा।

हेल्वेशस एवं गाल्टन के मत—इस सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी मतों का प्रचार पाया जाता है। एक मत फ्रेंच दर्शनिक हेल्वेशस का अनुयायी है। हेल्वेशस का कहना है कि मनुष्य को जैसी शिक्षा मिलती है वह वैसा ही बन जाता है। मनुष्यों में जो भिन्नता हमें दिखाई पड़ती है वह सब शिक्षा का परिणाम है। यदि दो व्यक्ति आजीवन बिलकुल एक ही प्रकार से शिक्षित किये जा सकें तो उनके मस्तिष्क बिलकुल एक से ही बन जायेंगे। किन्तु परिस्थितियों की पूर्ण समानता संसार में सम्भव नहीं है। इसीलिए कुछ न कुछ व्यक्तिगत भेद (individual difference) सदा पाया जाता है। परन्तु इस भिन्नता का कारण कोई मौलिक पार्थक्य नहीं वरन् वातावरण एवं शिक्षा का प्रभेद है। इस सम्प्रदाय को रूसो की यह बात मान्य नहीं है कि जन्म से सब सच्चे भले होते हैं, समाज उनमें बुराई की सृष्टि कर देता है। उसकी राय में लोग न बुरे होते हैं और न भले, वे सर्व-संस्कार-शून्य होते है और जैसी शिक्षा उन्हें मिलती है वैसे ही बन जाते हैं।

दूसरा सम्प्रदाय गाल्टन के अनुयायियों का है जो वंशानुक्रम (heredity) को इतना अधिक महत्त्व देता है कि उसकी दृष्टि में वातावरण का प्रभाव प्रायः कुछ भी नहीं रह जाता। गाल्टन का कहना है कि मनुष्य संसार में उतनी ही विद्या प्राप्त कर सकेगा जितनी क्षमता लेकर वह पैदा हुआ है। गर्भाधान के समय माता-पिता के रजवीर्य्य के सम्मिश्रण ने ही उसकी समस्त सम्भावनाओं को निश्चित कर दिया है। उसके विकास की सीमा निर्धारित हो चुकी है। परिस्थितियाँ उस पूर्व-निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने में कठिनता अथवा सरलता ला सकती हैं, उसको बदल नहीं सकतीं। प्रतिभाशाली व्यक्ति झोपड़े में जन्म लेकर सर्वोच्च स्थान प्राप्त करके ही रहेगा एवं जो प्रारम्भ से ही बहुत थोड़ी मूलभूत बौद्धिक पूँजी लेकर चला है

उसको अनुकूल से अनुकूल परिस्थितियाँ भी विशेष सहायता नहीं दे सकेंगी ।

गाल्टन ने ६७७ सुप्रसिद्ध (eminent) व्यक्तियों की सूची तैयार की थी । प्रसिद्धि की कसौटी उसने यह रखी थी कि प्रसिद्ध व्यक्ति को ४००० व्यक्तियों में सर्व श्रेष्ठ होना चाहिये । उसके हिसाब से एक लाख मनुष्यों में केवल २५ ही सुप्रसिद्ध गिने जा सकते हैं । उन सुपसिद्ध व्यक्तियों के रक्त-सम्बन्धियों का पता लगाया गया तो उनके ८६ पिता, ११४ भाई, १२६ पुत्र, ५२ पितामह, ३७ पौत्र ५३ चचा, ६१ भतीजे भी उन्हीं के समान सुप्रसिद्ध निकले । कुल मिला कर प्रसिद्ध सम्बन्धियों की संख्या ५३५ हुई जब कि ६७७ सामान्य व्यक्तियों के सम्बन्धियों में केवल २ ही सुप्रसिद्ध पुरुष निकलेंगे । अतएव उसने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रसिद्ध व्यक्तियों के रक्त में ही प्रतिभा विद्यमान है; यह उन्हें बीज-परम्परा से ही प्राप्त होती है ।

इसके साथ ही गाल्टन ने यमजों (twins) अथवा जुड़वाँ उत्पन्न होने वाले बच्चों का भी इतिवृत्ति बड़ी खोज के साथ संग्रह किया था । इन यमजों की आकृति, बुद्धि, चरित्र आदि के अद्भुत साम्य को देख कर मन विस्मय से भर उठता है और पता चलता है कि अपनी चारित्रिक एवं बौद्धिक सम्पत्ति के लिये हम पैतृक उत्तराधिकार पर ही एकान्त निर्भर हैं, नितान्त परतन्त्र हैं, अपनी ओर से उसमें वृद्धि कर सकें यह सर्वथा असम्भव है । गाल्टन का कथन है कि यह सत्य जो अपने नग्न रूप में हमारे सामने प्राय: नहीं आता उसका एक मात्र कारण यही है कि संसार में यमजों (twins) का जन्म यदाकदा ही होता है ।

कतिपय अन्य मनोवैज्ञानिकों ने प्रसंग वशत: कुछ अपराधी परिवारों का अध्ययन किया और उनकी खोज के परिणामों से गाल्टन के सिद्धान्त की पुष्टि होती है । जूक्स परिवार के इतिहास से पता चलता है कि १७२० से १८७७ ई० तक इस बंश की पाँच पीढ़ियों में प्राय:

१००० स्त्री पुरुष हुये। इसका आरम्भ जूक्स से होता है जो स्वयं भ्रष्टाचरण था और जिसने एक अपने ही समान भ्रष्ट चरित्र की महिला से विवाह करके ऐतिहासिक अपराधी परिवार की सृष्टि की। पता चला है कि इन १००० व्यक्तियों में से ३०० तो शैशव काल में ही काल कवलित हो गये अतएव उनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। शेष ७०० व्यक्तियों में से ३१० ने २३०० वर्ष अनाथालयों (alms houses) में बिताये; ४४० भ्रष्ट आचरण के फलस्वरूप घोर रोगों के शिकार हुए; १३० अदालत से अपराधी घोषित किये जाकर दण्डित हुये (जिनमें से ७ हत्यारे थे); ६० पक्के चोर थे; ५० स्त्रियों ने वेश्या-वृत्ति ग्रहण की; केवल २० ने कुछ व्यवसाय सीखा (जिनमें से १० ने वह व्यवसाय जेलखाने में सीखा)। अनुमान किया गया है कि इस परिवार के एक-एक व्यक्ति की व्यवस्था करने में न्यूयार्क राज्य को लगभग १००० डालर (प्राय: ४००० रुपये) खर्च करने पड़े।

ज़ीरो नाम के एक और परिवार की, जिसका आरम्भ एक शराबी स्त्री से हुआ, ६ पीढ़ियों में प्राय: ८०० व्यक्ति हुये जिनमें से १०२ भिक्षा-व्यवसायी, १०७ जार-सन्तान (illegitimate offspring) १८१ वेश्यायें, ५४ अनाथालयवासी, ७६ दण्डित अपराधी एवं ७ हत्यारे हुए। उनके पीछे राज्य को लगभग १,२०६,००० डालर खर्च करने पड़े।

कालोकाक परिवार का अध्ययन भी इसी मत की पुष्टि करता है। मार्टिन कालीकाक एक औसत दरजे का पुरुष था जिसके वंश की दो शाखाओं का इतिहास खोज निकाला गया है। जब वह सिपाही बनकर युद्ध में भाग ले रहा था तो उसका अवैध सम्बन्ध एक हीन-बुद्धि (feeble-minded) महिला से हो गया और उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस पुत्र से उसके वंश की एक साखा चली। इस शाखा के ४८० वंशजों में से १४३ हीन-बुद्धि, ३६ जार-सन्तान, ३३

वेश्यायें, २४ शराबी, ३ मिरगी के मरीज, ३ अपराधी, ८ निन्दित मकानों के स्वामी, २६२ का कुछ पता नहीं चलता, ८० शिशु-काल में ही मर गये, केवल ४६ औसत व्यक्ति हुये। लड़ाई से वापस आकर उसने एक औसत बुद्धि एवं सच्चरित्र स्त्री से विवाह किया और इस प्रकार उसके वंश की दूसरी शाखा का आरम्भ हुआ। इस शाखा में ४९६ व्यक्ति हुये जो सभी औसत व्यक्ति थे। केवल पाँच व्यक्ति हीन आचरण अथवा हीन-बुद्धि हुये जिनमें से एक हीन-बुद्धि, दो शराबी, एक व्यभिचारी तथा एक धार्मिक पागल था।

जूक्स के समकालीन प्राय: १४०० व्यक्तियों के एक श्रेष्ठ एडवर्डस परिवार का भी इतिहास खोजकर तुलना के लिए उपस्थित किया गया है। इस परिवार में १२० विश्वविद्यालय के स्नातक (Graduates), १४ कालेजों के प्रधान एवं १०० से अधिक प्रोफेसर हुये। इस वंश के लोगों ने १३५ सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की तथा ११८ पत्रों का सम्पादन किया।

इन वंशावलियों के आधार पर यह कहा गया है कि बुद्धि एवं चरित्र बहुत कुछ उत्तराधिकार रूप में वंश-परम्परा से ही मिलता है। किन्तु वातावरण (environmet) पर विशेष जोर देने वाले व्यक्ति कह सकते हैं कि जिसे हम भ्रमवश बीज-परम्परा-जात गुण समझ बैठे हैं वह भी वातावरण का ही परिणाम है। जुक्स परिवार में उत्पन्न होने वाला बालक अपराध, पाप, निरक्षरता आदि के ही वातावरण में पलने के कारण पतन की ओर बढ़ता रहा और एडवर्ड्स परिवार में भले व्यक्तियों का होना उनके वांछनीय वातावरण का ही परिणाम है। सदा नावों पर ही जीवन बिताने वाले परिवारों एवं कुछ खानाबदोश लोगों के बच्चों के बुद्धि माप से भी वातावरण का प्रभाव सिद्ध होता है दो-ढाई वर्ष तक के बच्चे इन परिवारों में प्राय: औसत बच्चों के समान बुद्धिलब्धि (I. Q.) प्राप्त करते पाये गये है यद्यपि बड़ी अवस्था के

बालक काफ़ी हीन-बुद्धि सिद्ध होते हैं। जब से समाज का, वातावरण का, अधिक प्रभाव पड़ना आरम्भ होता है तभी से हीन वातावरण में पलने के कारण उनकी हीनता स्पष्ट होने लगती है।

कुछ बच्चे जो छोटी उम्र में ही समाज से दूर हट गये अथवा हटा दिये गये थे बाद में, प्रयास किए जाने पर भी, उचित बौद्धिक विकास नहीं कर सके। कमला नाम की एक लड़की को, बहुत छोटी अवस्था में, एक भेड़िया उठा ले गया था। जब वह पकड़ी गई तो उसकी आयु लगभग ८ वर्ष की थी। वह कच्चा मांस खाती थी, उसकी श्रवण शक्ति तथा दृष्टि विलक्षण रूप से तेज हो गई थी। बहुत अभ्यास कराने पर भी वह मनुष्यों की भांति दो पैरों पर चलना नहीं सीख सकी तथा ४० शब्दों से अधिक मानव-भाषा के शब्द वह कभी न प्रयोग कर सकी।

कस्पर हाउज़र नाम का एक और बालक छोटी अवस्था में ही शत्रुओं के द्वारा उड़ा दिया गया था। उसे एक बड़ी संकीर्ण कोठरी में बन्द रखा गया, किसी से कभी मिलने का अवसर नहीं दिया गया। उसका भोजन एक छोटे से छिद्र के द्वारा कोठरी के भीतर रख दिया जाता था। जब वह लोगों को मिला तो उसकी उम्र १७ वर्ष की थी। उसको लिखाने पढ़ाने की बड़ी कोशिश की गई पर सब व्यर्थ। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण प्राप्त हुये हैं। इनसे पता चलता है कि बीज-परम्परा वांछनीय रहने पर भी विकास के लिये उचित वातावरण न मिलने से, बुद्धि एंवं चरित्र की उचित उन्नति सम्भव नहीं। वास्तव में न तो बीज-परम्परा-वादी और न वातावरण-वादी ही अपने उग्र रूप में ठीक हो सकते हैं। समस्त साक्ष्य का निचोड़ यही प्रतीत होता है कि दोनों का प्रभाव रहता है। बीज-परम्परा अथवा वंशानुक्रम हमें मूलशक्ति देता है किन्तु उस शक्ति के उचित विकास का एक मात्र साधन वातावरण ही है। मूलशक्ति के

अनुरूप ही बालक वातारण से शिक्षा ग्रहण कर सकता है। मन्द-बुद्धि को उत्कृष्ट से उत्कृष्ट वातावरण भी प्रतिभाशाली नहीं बना सकता तथा उत्कृष्ट बुद्धि बालक भी शिक्षा अथवा वातावरण के अभाव में विकसित नहीं हो सकता। यदि न्यूटन किसी ऐसी असभ्य जाति में उत्पन्न हुआ होता जिस जाति का प्रखर-बुद्धि प्रौढ़ पाँच से आगे संख्या की गणना नहीं कर सकता है तो वह अपनी जाति में भले ही सर्वश्रेष्ठ विद्वान् होता परन्तु उपयुक्त वातावरण के न होने से उतना बड़ा वैज्ञानिक कभी न हो सकता जैसा वह वास्तव में हुआ। तुलसी-दास ने जो सत्संगति की महिमा 'गाई' है वह मनोवैज्ञानिक भूल नहीं है। वातावरण एवं वंशानुक्रम दोनों का ही विकास में हाथ है, अतएव शिक्षा की दृष्टि से दोनों का ही महत्व है।

बीजकोष की सनातनता (continuity of germ plasm)—मनुष्य का शरीर अनन्त जीव-कोषों (living cells) का एक विचित्र समुदाय है। ये जीव-कोष (living cells) अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें से एक प्रकार के विशेष जीव-कोष वे हैं जो पुरुष में शुक्र एवं स्त्री में अण्ड के रूप में विद्यमान रहते हैं। अंगरेजी में उन्हें जर्म सेल (germ cells) अथवा गैमिट (gametes) कहते हैं। हिन्दी में हम उन्हें बीजकोष कहेंगे। इस शुक्र एवं अण्ड के सम्मिश्रित होने से ही सन्तान की उत्पत्ति होती है। शुक्र एवं अण्ड अभेद सम्पर्क में आकर, एक होकर भ्रूण-कोष (zygot) की सृष्टि करते हैं। यही जीव का जन्म है। एक भ्रूण-कोष द्विखण्डित होकर दो कोषों में परिणत होता है। इस प्रकार दो से चार, चार से आठ आदि क्रम से कोटि कोटि कोषों की सृष्टि होती है। किसी कोष-समूह से त्वचा बनती है, किसी से अस्ति एवं किसी से कोई अन्य अवयव। इस समस्त शरीर का उत्पादन करके भी बीजकोष नष्ट नहीं होता वह शरीर से भिन्न, पूर्ववत् ही बना रहता

है और फिर नवीन सन्तान का उत्पादन कर उसमें भी सुरक्षित रहता है। इस प्रकार एक ही बीजकोष से वंश-परम्परागत अनेक पुरुषों का जन्म होता है। ये बीजकोष बिना परिवर्तन के, शरीर के निर्माण होने के आरम्भ से ही, एकत्र होते रहते हैं। इनका एक ही उपयोग है—भावी सन्तति का उत्पादन। अतएव यह कहा जा सकता है कि पिता बीजकोष का संरक्षक मात्र है, पुत्र का उत्पादक नहीं। विजमैन ने बहुत जोर देकर इस सिद्धान्त का प्रचार किया है। अत: यह सिद्धान्त उसी के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। लोगों का कहना है कि चूंकि बिलकुल अपरिवर्तित दशा में ही बीजकोष पिता से सन्तान में पहुँचता रहता है इसीलिए पिता एवं सन्तान में मानसिक तथा शारीरिक साम्य पाया जाता है। बीजकोष (germ cell) की इस निरन्तरता को, उसकी इस सनातनता को, अँगरेजी में (continuity of the germ plasm) कहा जाता है। किन्तु प्राय: ऐसा भी देखने में आता है कि एक ही माता-पिता की दो सन्तानों में भिन्नता भी पाई जाती है। काले-गोरे, ठिगने-लम्बे, बुद्धिमान मूर्ख दोनों प्रकार के पुत्र एक ही मात-पिता से जन्म ग्रहण करते देखने में आते हैं। वह कैसे ?

भिन्नता का नियम (Law of Variation)—प्रत्येक बीज-कोष में बहुत सूक्ष्म रेशे से पाये जाते हैं। इन्हें अँगरेजी में (ceromo somes) कहते हैं। हिन्दी में हम इन्हें वंश-सूत्र कहेंगे। इन वंश-सूत्र में और भी बहुत सूक्ष्म विभाग होते हैं जिन्हें अंगरेजी में जेनीज (genes) कहते हैं। वास्तव में अनेक जेनीज़ी के माल-सदृश एक सूत्र में पिरोये रहने से ही वंश सूत्र (chromosome) बनता है। वही जेनीज़ (genes) भिन्न-भिन्न प्रकार के गुणों के वाहक होते हैं। कोई जेनी (gene) बालों का रंग, कोई त्वचा का वर्ण, कोई नाक की लम्बाई आदि का वाहक बन कर सन्तान में अपने विशिष्ठ गुण को

ले जाता है और चूँकि भ्रूण-कोष (zygot) में २४ पिता के एवं २४ माता के वंश-सूत्र रहते हैं अतएव उनके मिलने से १६,७७७,२१६ प्रकार की भिन्न-भिन्न सम्भावनायें हो सकती हैं। उन वंश-सूत्रों के मिश्रण से करोड़ों प्रकार की सम्भवनाओं के ही कारण, चूँकि एक ही प्रकार का मिश्रण प्रत्येक सन्तान में नहीं होता, एक ही माता-पिता की सन्तानों में भिन्नता (variation) हो जाती है। अतएव यह भिन्नता वंशानुक्रम नियम (law of heredity) का बाधक नहीं प्रत्युत उसके अस्तित्व का, उसकी सत्यता का, प्रमाण है। वंश-सूत्र के क्रम आदि के भिन्न होने के कारण भिन्नता का होना उतना ही आवश्यक है जितना एक ही प्रकार के वंश-सूत्रों से उत्पन्न होने के कारण समानता का होना। समानता (similarity) तथा भिन्नता (variation) दोनों ही वंशानुक्रम का फल हैं।

माता-पिता के बीज-कोषों के सम्मिलन के कारण माता-पिता के समस्त गुण ही भ्रूण-कोष (zygot) में निहित रहते हैं। इस प्रकार कभी-कभी माता तथा पिता में रहने वाले दो विरोधी गुण भी एक ही सन्तान में पहुँच जाते हैं। उनका सन्तान में एक साथ ही प्रकट होना सम्भव नहीं होता। अनेक गुण विरोधी न होने पर भी प्राय: प्रकट नहीं होते। अतएव वंशानुक्रम से प्राप्त गुणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, एक तो व्यक्त (dominant) और दूसरे गुप्त (recessive)। दोनों ही प्रकार के गुण पिता से पुत्र के क्रम से बराबर भावी सन्तति में चलते जाते हैं और परिस्थितियों के प्रभाव से सुप्त गुण (recessive trait) कभी कभी कई पीढ़ियों के बाद व्यक्त (dominant) हो जाता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर तब हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह गुण वंशानुक्रम नियम की व्यापकता का विरोधी है; किन्तु वंश के इतिहास का अध्ययन करने से पता चल जाता है कि कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ है। इसी गुप्त गुण के व्यक्त होने के

फलस्वरूप ही हम प्राय: देखते हैं कि कई कई पीढ़ियों के बाद भी पूर्वजों की बीमारी सन्तान को आ घेरती है।

अर्जित गुणों का अवितरण (non-transmission of acquired traits)—जहाँ बीज कोष में विद्यमान समस्त गुण सुप्त अथवा व्यक्त रूप में सन्तान में अवश्य ही पहुँचते हैं वहाँ विजमैन के मत से अर्जित गुणों का वंशानुक्रम से सन्तान में पहुँचना असम्भव है। हम देख चुके हैं कि बीजकोष ही गुण-वितरण (transmission of traits) में कारण होता है और यह बीज-कोष हमें अपरिवर्तित दशा में ही, वंश को धरोहर के रूप में, मिलता है। हम इसका उत्पादन नहीं, केवल वितरण करते हैं। अतएव जो गुण अपने जीवन में हम अर्जन करते हैं वह हमारे सनातन बीज-कोष का अंग नहीं बन सकता। यदि चोट लगने से किसी की आँख फूट जाय, हाथ अथवा टाँग कट जाय, तो इस अर्जित गुण के फल-स्वरूप उसकी सन्तान अन्धी, लँगड़ी, लूली नहीं होती। विजमैन ने अपने इस सिद्धान्त के समर्थन में एक प्रयोग किया था। उसने चूहों की दुम काट कर उन दुमकटे चूहों की सन्तान को बड़ा होने दिया। सभी दुम लेकर ही बड़े हुए। इन दुमदार किन्तु दुमहीनों की संतान को फिर दुमहीन किया गया। उनकी सन्तान भी दुम वाली हुई। इस प्रयोग को कई पीढ़ियों तक करने से बराबर यही पाया गया कि दुमहीनता का अर्जित गुण सन्तान तक नहीं पहुँचता। विजमैन ने इस प्रयोग से यह सिद्धान्त निकाला कि अर्जित गुणों का वितरण वंशानुक्रम से नहीं होता।

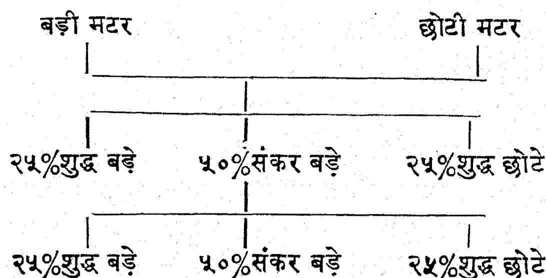
मुख्य प्रकार की ओर प्रतिगमन (regression to type)—वंशानुक्रम के नियम के अनुसार सभी प्रकार के गुण वितरित होते रहते हैं। कुछ गुण सामान्य होते हैं एवं कुछ विलक्षण। प्रकृति का नियम है कि विलक्षणता कम होती रहे और सामान्यता

बढ़ती रहे। सामान्यत: मनुष्य औसत बुद्धि के होते हैं किसी भी जन-समुदाय में अधिकांश लोगों का बुद्धिलब्धि (I. Q.) ९० से ११० के बीच में होता है। १८० बुधिलब्धि (I. Q,) प्राप्त करने वाले प्रतिभाशाली पुरुष की सन्तान विशिष्टि बुधिशाली होगी। सामान्यत: पहली पीढ़ी में पिता से कुछ ही कम, फिर उससे भी कुछ कम, होती जायगी। अन्त में औसत बुद्धि तक पहुँच कर रुक जायगी। "जो व्यक्ति औसत ऊँचाई से तीन इंच अधिक ऊँचा होता है उसकी सन्तान अधिकांश में उतनी ही ऊँचाई की नहीं होती प्रत्युत औसत से एक या दो इंच अधिक ऊँचाई के आस पास रहेगी। इस प्रकार वंशानुक्रम नियम-संचालन में प्रकृति बराबर औसत की ओर ही घसीटती रहती है और स्थैर्य एवं संतुलन (solidarity and balance) को कायम रखती है।" इस सम्बन्ध में मेंडल ने जो प्रयोग किये हैं वे काफी महत्त्व के हैं। अत: यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दे देना उचित होगा।

मेंडल के प्रयोग—वर्णसंकर को कम करना एवं शुद्ध गुण वाली सन्तति को बढ़ाते रहना प्रकृति का नियम है। इसे ही मुख्य प्रकार की ओर प्रतिगमन का सिद्धान्त भी कहते हैं। अपने प्रयोगों के द्वारा इस निष्कर्ष पर मेंडल ही पहले पहुँचा था, अतएव इसे मेंडल-वाद भी कहते हैं।

मेंडल ने अपने प्रयोग 'मटर' पर किये थे। उतने छोटे तथा बड़े मटर को लेकर परीक्षा प्रारम्भ की। अलग अलग बोये जाने पर छोटे मटर से उत्पन्न होनेवाले सब मटर छोटे निकले और बड़े से बड़े किन्तु जब छोटे तथा बड़े मटर के संयोग से उत्पादन किया गया तो उत्पन्न होने वाले सब मटर बड़े निकले। छोटे मटर एक दम गायब हो गये। वंशानुक्रम नियम के हिसाब से छोटेपन का गुण व्यक्त (dominant) न हो कर गुप्त (recessive) हो गया। प्रकट

न होने पर भी संकरता का प्रभाव रहा ही। इसका पता तब चला जब इस वर्णसंकर जाति की मटर को बोया गया। इनके बोने पर देखा गया कि उनमें एक चौथाई मटर विशुद्ध छोटे उत्पन्न हुये। ये शुद्ध छोटे थे क्योंकि जब उन्हें बोया गया तो सब छोटे मटर ही निकले। शेष तीन चौथाई मटर बड़े निकले। इन बड़े मटरों को पुनः बोने पर एक चौथाई विशुद्ध बड़े निकले। बाक़ी दो चौथाई मटर मिश्रित अथवा संकर जाति के निकले। उनको अलग से बोने पर एक चौथाई शुद्ध छोटे, एक चौथाई शुद्ध बड़े, तथा दो चौथाई मिश्रित जाति के बड़े निकले। इस बात को एक तालिका से स्पष्ट किया जा सकता :—



इस तालिका को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि संकर जाति धीरे-धीरे कम होती जाती है और शुद्ध जाति बढ़ती जाती है। शुद्ध गुणों की वृद्धि एवं संकरता से उत्पन्न गुणों का क्रमिक ह्रास करके प्रकृति मुख्य प्रकार की ओर बढ़ने में बराबर सहायता किया करती है।

वंशानुक्रम तथा विकास वाद (heredity and evolution)—गाल्टन, विजमैन, मेंडल आदि की श्रमपूर्ण खोजों के फलस्वरूप वंशानुक्रम का बहुत कुछ ज्ञान हमें हो गया है किन्तु जब तक विकास-वाद (evolution theory) के सिद्धान्तों का समावेश इन खोजों से प्राप्त ज्ञान में हम नहीं करते तब तक वह अधूरा ही रहेगा। अतएव

अब हमें यह देखना है कि मनुष्य के शरीर एवं मस्तिष्क के विकास के सम्बन्ध में विकासवादियों का क्या कहना है।

मोटे तौर से विकासवादी का कहना है कि जो भिन्न भिन्न जातियों के प्राणी एवं वनस्पति आज हमें दिखाई देते हैं वे किसी एक ही मूल पदार्थ से विकसित हुए हैं। उन सब को अलग-अलग आरम्भ से ही नहीं बनाया गया था, किसी एक अथवा कुछ इने गिने रूपों का ही विकास इन अनन्त रूपों में हो गया है। इन विकास के रूप तथा कारण के सम्बन्ध में सभी विकासवादियों का एक मत नहीं है, परंतु इतना सब को मान्य है कि भिन्नता, अनेकरूपता, मौलिक नहीं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का परिणाम है। परिवर्तन किन कारणों से हुआ है इस सम्बन्ध में मतभेद है। लेमार्क तथा डार्विन के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं और हमें देखना है कि उनके सिद्धान्त क्या हैं।

लेमार्क का मत—लेमार्क ने सर्व प्रथम प्राणियों के विकास की युक्ति-युक्त तथा सक्रम व्याख्या की थी। उसने जीवों के प्राकृतिक विकास में जीवों की ही क्रिया को विशेष महत्व दिया है उसका कहना है कि प्राणी अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया करता है। नवीन परिस्थितियों में नवीन गुणों का विकास उनमें हो जाया करता है। उदाहरण के लिए हम सुप्रसिद्ध जिराफ़ की लम्बी गरदन को ले सकते हैं। ख़याल किया जाता है कि पहले उसकी गर्दन इतनी लम्बी न थी। बन में रहने वाला छोटी गरदन का यह प्राणी जब अपनी पहुँच में आने वाली समस्त पत्तियां खा चुका होगा तो उसे भोजन का अभाव हुआ होगा। तब उसकी जीवन रक्षा के लिए यह आवश्यक हो गया होगा कि वह यथासम्भव गरदन को लम्बी करके कुछ और ऊपर की, अपनी पहुँच के बाहर सब से नीचे की, पत्तियाँ खाने का प्रयास करे। इस प्रयास के फलस्वरूप उसकी गरदन कुछ लम्बी, आँखों से न दीख पड़ने वाली लम्बाई से युक्त किन्तु फिर भी थोड़ी बहुत लम्बी, हो गई

होगी। अनेक पीढ़ियों तक यही क्रम चलता रहने पर बाद में आने वाली पीढ़ियों की गरदन लम्बी होने लगी। लम्बाई सन्तति में संक्रमित होती रह कर वर्तमान रूप में पहुँच गई है। यह परिवर्तन बहुत धीरे धीरे प्राय: अज्ञात रूप में ही हुआ है। परिस्थितियों के अनुरोध से उत्पन्न प्राणियों की इच्छा तथा प्रयास ही इस परिवर्तन का मूल है। उष्ण कटिबन्ध में पाये जाने वाले प्राणियों क शरीर पर लम्बे-लम्बे बाल नहीं होते, उन्हें उनकी ज़रूरत ही नहीं होती। किन्तु यही जीव जब शीत कटिबन्ध में पाले जाते हैं तो उनके बाल बढ़ने लगते हैं और फिर वंशानुक्रम नियम से वे सन्तति में संक्रमित होने लगते हैं। जीव का विकास परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना लेने की इच्छा तथा प्रयास का परिणाम है।

डार्विन का मत—डार्विन का मत इससे भिन्न है। वह प्राणियों के विकास में प्राणी की इच्छा अथवा प्रयास को नहीं, प्रकृति को विशेष महत्व देता है। प्रकृति उन प्राणियों को विनष्ट कर देती है जिनमें परिस्थितियों का सामना करन की क्षमता नहीं होती। शक्तिशाली शेष रह जाते हैं, निश्शक्त प्राणी नष्ट होते रहते हैं। उन प्राणियों के गुण भी, उनके साथ हा, नष्ट हो जाते हैं। उपयोगी गुणों से युक्त प्राणियों को ही जीवित रहने के लिये प्रकृति चुन लेती है। चुनाव प्रकृति करती है। व्यक्ति का विकास में कोई हाथ नहीं, उसकी इच्छा एवं प्रयास कुछ नहीं करते, प्रकृति स्वयं सब करती रहती है। कमजोर प्राणी इच्छा एवं प्रयास करके भी जिन्दा नहीं रह सकता, प्रकृति उसे ज़िन्दा नहीं रहने देगी। आचरण अथवा नीति शास्त्र में यह सिद्धान्त काफ़ी खतरनाक रूप में हमारे सामने आता है। डार्विन-मतावलम्बी कहते हैं कि कमज़ोरों का, दुर्बलों का, जीवित रहना प्रकृति को इष्ट नहीं है अतएव उन्हें जिन्दा रहने भी नहीं देना चाहिये। वह अप्राकृतिक और इसीलिए अवांछनीय है। इस समय हम नैतिक

सिद्धान्तों की आलोचना करने नहीं बैठे। इस समय तो हमें केवल इतना ही देखना है कि प्राणियों के विकास में अर्जित गुणों का भी संक्रमण होता है या नहीं। और यद्यपि लेमार्क तथा डार्विन के मतों में अवान्तर भेद है पर यह बात दोनों को ही मान्य है कि अर्जित गुणों का संक्रमण होता है। इस सम्बन्ध में हैरीसन तथा मैकडूगल के प्रयोग भी उल्लेखनीय हैं।

हैरीसन ने देखा कि मिलों के आस पास एक विशेष जाति का कीड़ा नीले रंग का पाया जाता है यद्यपि दूसरे स्थानों पर वह काला नहीं होता। उस कीड़े के वर्ण-परिवर्तन का पता लगाने के लिए हैरीसन ने सामान्य वर्ण के कीड़ों को इकट्ठा करके उन्हें दो भागों में बाँट दिया। एक भाग को मिल-क्षेत्र के बाहर पाई जाने वाली सामान्य घास तथा पत्तियाँ खिलाई गईं। कई पीढ़ियों तक यही किया गया और देखा गया कि कीड़े स्वाभाविक रंग के ही उत्पन्न होते हैं। दूसरे भाग को खास खुराक दी गई। जो धातुज नमक आदि मिल-क्षेत्र की वनस्पतियों पर जम जाता है वही पत्तियों पर रख-रख कर उन्हें खिलाया गया। आरम्भ में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ा। कुछ ही पीढ़ियों के पश्चात् कीड़े धीरे-धीरे अपना रंग बदलने लगे और उसी रंग के हो गये जिस रंग के मिलों के आस पास पाये जाते थे। इस प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया कि लेमार्क का यह सिद्धान्त, कि अर्जित गुणों का भी संक्रमण होता है, ठीक है।

मैकडूगल ने अपने प्रयोग चूहों पर किये। उसने चूहों को पानी से भरे एक हौज़ में छोड़ दिया और उससे बाहर निकालने के दो मार्ग रक्खे। एक रास्ते में प्रकाश था और दूसरे में अंधेरा। प्रकाश वाले मार्ग में होकर जब चूहा बाहर जाना चाहता था तो उसे बिजली का धक्का लगता था और तब कष्ट पाकर वह अंधेरे रास्ते से निकलता था। बहुत अभ्यास के बाद, अनेक भूलें करके, इन चूहों ने अंधेरे

मार्ग से निकलना सीख लिया। पहली पीढ़ी के चूहों ने १६५ ग़लतियाँ करके सीखा, तेईसवीं पीढ़ी ने कुल २५ ग़लतियाँ करके ही सीख लिया। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि अर्जित गुण भी संक्रमित होते हैं। आजकल विकासवादी फिर से लेमार्क के सिद्धान्त की ओर, डार्विन की अपेक्षा, अधिक झुकते दिखाई देते हैं।

सारांश—अनेक पैतृक गुण लेकर ही बालक जन्म लेता है। रूप, रंग, स्वास्थ्य आदि तो प्राय: माता-पिता के अनुरूप ही उसमें होता है, बौद्धिक तथा नैतिक गुण भी उसे विरासत में मिलते हैं। कुछ अपराधी परिवारों, जुड़वा बच्चों तथा श्रेष्ठ परिवारों के इतिवृत्त इस बात को स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि बौद्धिक गुण भी नवजात शिशु लेकर ही उत्पन्न होता है। भेड़िया की मांद में पले बच्चे, ख़ानाबदोश परिवारों का बुद्धिमाप, एवं अपराधी तथा श्रेष्ठ परिवारों का इतिहास भी एक प्रकार से वातावरण का महत्व प्रदिपादन करने में प्रयुक्त किये जाते हैं। वास्तव में वंशानुक्रम तथा वातावरण दोनों का ही बालकों के विकास में हाथ है। शिक्षा देने में बालकों में वंशानुक्रम से प्राप्त गुणों का ध्यान रखना चाहिये और उनके उचित विकास के लिये उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करना चाहिये।

हमारा बीजकोष सनातन है, वह प्राय: अपरिवर्तित दशा में ही पिता से पुत्र, पुत्र से प्रपौत्र आदि क्रम से बराबर चलता रहता है। इसी के कारण पिता तथा पितामह आदि के गुण सन्तति में संक्रमित होते हैं। परन्तु एक ही पिता की सन्तान भिन्न-भिन्न गुण वाली भी होती है। उसका कारण भी वंशानुक्रम ही है। माता-पिता एवं अन्य पूर्वजों के समस्त गुण सन्तान में आते हैं; कुछ व्यक्त रहते हैं तथा अनेक सुप्त। सुप्त गुण कभी व्यक्त हो जाते हैं और व्यक्त गुण सुप्त बन जाते हैं। भिन्नता इसी परिवर्तन का परिणाम है। अर्जित गुण सामान्यतया संक्रमित नहीं होते। किन्तु कोई भी गुण अर्जन के

बहुत काल बाद तक यदि स्थिर रहे तो धीरे-धीरे अपना प्रभाव अवश्य दिखाता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का प्रयास मुख्य प्रकार की रक्षा करने का सदा ही रहता है। मेंडल ने अपने मटरों के प्रयोग से यह सिद्ध कर दिया है कि संकरता के फलस्वरूप जब किसी नवीनता को जन्म मिलता है तो प्रकृति उसे क्रमशः शुद्ध प्रकार की ओर घसीट ले जाती है।

विकासवादी अर्जित गुणों के भी वितरण को मानते हैं, विकास अर्जित गुणों के संक्रमण से ही सम्भव है। लेमार्क नवीन गुणों के विकास में प्राणी की इच्छा एवं प्रयास को प्रमुख स्थान देता है और डार्विन प्राकृतिक निर्वाचन को। परिस्थिति के अनुकूल अपने को बनाने में अर्जित अथवा प्राकृतिक निर्वाचन में अवशिष्ट गुण ही अगली संतति में संक्रमित होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वातावरण तथा वंशानुक्रम दोनों का ही मनोविकास पर प्रभाव पड़ता है और अर्जित गुण भी किसी न किसी रूप में संक्रमित होते हैं।

प्रश्न

१—बालक के व्यक्तित्व-विकास में वातावरण तथा वंशानुक्रम के अपेक्षाकृत प्रभाव की व्याख्या कीजिये।

२—लेमार्क और डार्विन के सिद्धान्त में क्या अन्तर है?

३—वंशानुक्रम-विज्ञान के कुछ मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये।

४—मेंडलवाद क्या है? मेंडल के प्रयोगों का वर्णन कीजिये।

———

व्यक्तिगत भेद तथा व्यक्तित्व के प्रकार

(Individual Differences and Personality Types)

व्यक्तिगत भेद—अनेक बातों में मनुष्य समान होते हैं। हमारी मूल-प्रवृत्तियाँ, सामान्य वृत्तियाँ, हमारे संवेग तथा स्थायी-भाव बहुत कुछ एक ही प्रकार के होते हैं। एक सी परिस्थिति में प्रायः हमारे विचार भी एक ही प्रकार के होते हैं। परन्तु हम में भिन्नता कम नहीं होती, कुछ न कुछ व्यक्तिगत विशेषता हम में बराबर रहती है। समान होकर भी हम भिन्नता रखते हैं। यह भिन्नता शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही क्षेत्रों में पाई जाती है। रूप में, वर्ण में, तोल में, कद में, काफ़ी अन्तर होता है। परन्तु इससे भी कहीं अधिक अन्तर हमारे मानसिक गुणों में होता है। अतः मानव-मन को समझने के लिये जहाँ मनुष्यों में पाई जाने वाली सामान्य वृत्तियों का जानना हमारे लिये आवश्यक है वहाँ उनके पारस्परिक अन्तर का, मानसिक भिन्नता का, ज्ञान रखना भी अत्यन्त अपेक्षित है।

सब से मुख्य अन्तर बौद्धिक प्रखरता का होता है। कुछ हीन बुद्धि, कुछ साधारण तथा कुछ प्रखर बुद्धि के लोग होते हैं। बौद्धिक कार्यों को कुछ व्यक्ति बहुत शीघ्र कर लेते हैं और कुछ बहुत देर में कर पाते हैं। प्रखरता के विभिन्न स्तरों में इतना अधिक मात्रागत अन्तर पाया जाता है कि साधारण रूप से लोग उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। प्रयोगों से पता चलता है कि एक ही कक्षा में पढ़ने वाले दो छात्रों की बुद्धि में २ से १२ गुने तक का अन्तर हो सकता है। शारीरिक गुणों में इतना महान् अन्तर सम्भव ही नहीं।

किन्तु परिमाण सम्बन्धी (quantitative) अन्तर के अलावा प्रकार सम्बन्धी अन्तर भी व्यक्तियों में होता है। कुछ लोग एक ही वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित कर सकते हैं, कुछ लोग थोड़ी-थोड़ी देर एक-एक वस्तु को निरीक्षण करके ध्यान को अनेक पदार्थों में बाँट करते हैं। कुछ लोगों की स्मृति तीव्र होती है, वे बहुत जल्दी किसी बात को याद कर लेते हैं किन्तु थोड़े ही समय बाद उसे भूल जाते हैं; दूसरे देर में याद करते हैं और देर में भूलते हैं। कुछ लगन के आदमी होते हैं जो किसी काम में हाथ डाल कर, बिना उसे पूरा किये रुकते नहीं; दूसरे ऐसे होते हैं जिन्हें समय समय पर उनके कर्त्तव्य का स्मरण दिलाते रहना आवश्यक होता है। कुछ लोग वस्तु-प्रधान (realistic) तथा कुछ भाव-प्रधान (imaginative) होते हैं। पहली श्रेणी के लोग किसी घटना का वर्णन करते समय वास्तविकता का, वाह्य तथ्य का, यथार्थ वर्णन करते हैं, अपने वैयक्तिक विचारों तथा भावों को वर्णन से यथासम्भव दूर रखते हैं; दूसरे अपने विचारों तथा भावों में ही बह जाते हैं, उन्हीं पर जोर देते है, वस्तुगत सत्य को गौण बना देते हैं। कुछ लोग विश्लेषक (analytic) कहे जा सकते हैं। वे किसी भी समस्या को खण्ड खण्ड करके, उसे छोटे छोटे भागों में बाँट कर, उन विभिन्न अङ्गों की तह तक पहुँचना चाहते हैं। इन लोगों को विचार करने में, अन्वेषण करने में, विशेष आनन्द मिलता है। दूसरे विश्लेषण की अपेक्षा संश्लेषण (synthesis) में विशेष रुचि रखते हैं। वे भिन्न भिन्न विचारों एवं सिद्धान्तों में साम्य ढूँढ़कर उनका एकीकरण करना पसन्द करते हैं। कुछ लोग अपनी ही ओर से मानसिक क्रियाओं में भाग लेना पसन्द करते हैं तथा कुछ को वाह्य प्रेरणा की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार व्यक्तिगत भेदों की एक बहुत बड़ी सूची तैयार की जा सकती है। छोटे तथा बड़े असंख्य भेद गिनाये जा सकते हैं जिनके

कारण व्यक्तियों के मनोविकास तथा आचरण में बहुत अन्तर आ जाता है। यदि हमें किसी व्यक्ति के आचरण को प्रभावित करना है—और शिक्षा आचरण को प्रभावित करने का ही दूसरा नाम है—तो इन भेदों को भली भाँति समझ लेना होगा। इन भेदों की मात्रा, प्रकार तथा कारण-परम्परा को बिना समझे हमें शिक्षण कार्य में वांछित सफलता कभी नहीं मिल सकती। केवल आयु के हिसाब से अथवा अर्जित विद्या के विचार से लड़कों को किसी श्रेणी विशेष में सम्मिलित करके हम झूठी मानसिक शान्ति का अनुभव तो कदाचित् कर सकते हैं परन्तु उससे उपयुक्त, यथार्थ तथा आवश्यक लाभ नहीं उठा सकते।

पहले हम इन व्यक्तिगत भेदों के कारणों पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे और तब यह देखेंगे कि भेदों के आधार पर व्यक्तित्व के जिन प्रकारों (personality types) की रचना की गई है वे क्या हैं, उनमें 'सत्य' का अंश कितना है एवं उनके अनुरोध से हमें शिक्षापद्धति को किस प्रकार परिवर्तित कर लेना चाहिए।

व्यक्तिगत भेदों के कारण—इन व्यक्तिगत भेदों का प्रमुख कारण वंशानुक्रम ही है। हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि अपने सब पूर्वजों की मानसिक विशेषताएँ लेकर ही मनुष्य जन्म लेते हैं। सुप्त गुणों (recessive traits) के व्यक्त एवं व्यक्त गुणों (dominant traits) के सुप्त होते रहने के कारण एक ही पिता की विभिन्न-गुणयुक्त सन्तान पाई जाती है। फिर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की सन्तान का कहना ही क्या ! एक विद्वान् ब्राह्मण-परिवार का बालक स्वभावतः ही पठन-पाठन में विशेष रुचि रखने वाला होगा तथा क्षत्रिय परिवार में जन्म ग्रहण करने वाला शिशु अपने रक्त में शौर्य तथा उद्दण्डता लेकर ही संसार में अवतरित होगा।

व्यक्तिगत भेदों का दूसरा कारण समाज-परम्परा है। हम केवल एक परिवार में ही जन्म नहीं ग्रहण करते वरन् एक समाज में भी जन्म

ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार माता-पिता के गुण-दोषों से बालक युक्त होता है वैसे ही अपने समाज की विशेषताओं से भी वह प्रभावित होता है। पाश्चात्य समाज में पला बालक जिन कामों को सरलतापूर्वक कर सकता है और उसके करने में दिलचस्पी ले सकता है, उन्हें भारतीय-संस्कृति में वर्द्धित बालक न तो कर ही सकता है और न करना पसन्द ही कर सकता है।

शिक्षा-दीक्षा तथा वतावरण भी अनेक प्रकार के व्यक्तिगत भेदों को उत्पन्न करते हैं। पिछले अध्याय में वातावरण का प्रभाव हम देख ही चुके हैं। शिक्षा भी, जैसा पहले कहा जा चुका है, एक प्रकार का वातावरण ही है। अतएव शिक्षा तथा वातावरण को व्यक्तिगत भेदों का निर्णायक तीसरा कारण समझना चाहिए।

व्यक्तिगति भेद-विधायक चौथा कारण जाति अथवा लिंग है। स्त्री तथा पुरुषों में केवल शारीरिक भेद ही नहीं होता, उनमें मानसिक भेद पाया जाता है। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा निसर्गतः अधिक कोमल स्वभाव की होती हैं; उनमें दया, स्नेह, ममता, लज्जा आदि पुरुषों की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। कुछ मनो-वैज्ञानिक प्रयोगों से यह भी सिद्ध हुआ है कि स्मृति, भाषा तथा भाषा-संम्बंधी अन्य विषयों में वे पुरुषों की अपेक्षा तेज़ होती है। पुरुष अधिक कठोर होते हैं; उनमें साहस, क्रूरता, शौर्य आदि अधिक होता है। गणित, विज्ञान, दर्शन जैसे विषयों में वे स्त्रियों की अपेक्षा अधिक कुशल होते हैं। एक जन-प्रवाद प्राचीन काल से चला आ रहा है कि स्त्रियों में बुद्धि कुछ कम होती है। यह एक भूल है। स्त्रियों तथा पुरुषों में ऐसा कोई भेद परीक्षणों से सिद्ध नहीं होता। हाँ, एक बात अवश्य देखने में आती है। सर्वोच्च प्रतिभा रखनेवाली स्त्रियाँ, पुरुषों की अपेक्षा, कम पाई जाती हैं। लेकिन इसके साथ ही यह भी देखने में आता है कि निकृष्ट-बुद्धि रखनेवाले व्यक्ति भी स्त्रियों

में पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम पाये जाते हैं। अतएव वैज्ञानिक गवेषणा के आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि स्त्रियाँ अधिकांशत: माध्यिमिक योग्यता की होती है, प्रतिभा का सबसे ऊँचा तथा मूर्खता का सबसे नीचा स्तर उनके लिये नहीं होता। इसके अतिरिक्त अन्य सामान्य भेद जो स्त्रियों तथा पुरुषों के बीच पाये जाते हैं वे वातावरण अथवा परिस्थिति के कारण ही उत्पन्न हो गये हैं, मौलिक नहीं हैं।

उपर्युक्त व्यक्तिगत भेदों को देखकर तथा कतिपय लक्षणों को सदा साथ-साथ पाकर कुछ लोगों ने यह कल्पना की कि समस्त मनुष्य जाति थोड़ी-सी श्रेणियों में विभक्त की जा सकती है। कुछ गुण इस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित हैं कि वे एक साथ ही पाये जाते हैं, जिस व्यक्ति में एक गुण होगा दूसरे गुण भी उसमें अवश्य ही होंगे। छोटे- पूरे पारस्परिक भेद बने रहने पर भी उनमें इतना साम्य अवश्य है कि उनको एक ही वर्ग में रक्खा जा सकता है।

व्यक्तित्व के प्रकार—एक श्रेणी-विभाजन उग्र (agressive) तथा दमनशील (inhibitive) प्रकृति वालों का किया जा सकता है। उग्र प्रकृति के लोग अत्यन्त हर्ष, क्रोध, तीव्र जिज्ञासा, संग्रह-वृत्ति, काम वृत्ति, आत्मगौरव आदि से युक्त होते हैं तथा दमन-शील दुख, शोक, घृणा भय, दैन्य-वृत्ति एवं सम्भवत: कोमल भावना से। जिन बच्चों में पहले गुणों की प्रधानता होती है वे अप्रतिरुद्ध व्यक्तित्व (unrepressed personality) के कहे जाते हैं। अपराधियों में से अधिकतर लोग इन्हीं गुणों वाले देखे जाते हैं। जिन बालकों में दूसरे गुण-समूहों का प्राधान्य होता है वे प्रतिरुद्ध व्यक्तित्व (inhibited personality) के कहलाते हैं। इस व्यक्तित्व के लोग स्नायविक तथा मानसिक (nervous and neurotic) विकारों से युक्त समाज में बहुत पाये जाते हैं।

इस वर्गीकरण में काफी तथ्य है। मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यिक रचनाओं में, भिन्न-भिन्न नामों से, इस सत्य को स्वीकार किया गया है। प्रदर्शक तथा गम्भीर उद्धत तथा विनम्र, कठोर तथा कोमल, बुद्धिवादी तथा सहृदय इसी दोहरे विभाग को प्रकट करते हैं। उग्र तथा शान्त विक्षिप्तों (insane persons) को देखकर इस द्विविध श्रेणी का भेद स्पष्ट हो जाता है।

प्रसिद्ध मनोविश्लेषणावादी जुङ्ग ने मानव प्रकृति को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया है—अन्तर्मुखी (introvert) तथा वहिर्मुखी (extrovert) इनका परिचय जुङ्ग के ही शब्दों में देना अधिक उपयुक्त होगा। अन्तर्मुखी व्यक्ति (introverted personality) अपनी कामशक्ति (libido) को, एक सीमा तक, अपनी ही ओर किए रहता है—उसे अपने में ही असीम आनन्द की उपलब्धि होती है। वहिर्मुखी व्यक्ति (extroverted personality) अपनी काम-शक्ति को बाहर की ओर प्रेरित करता है। उसका चरम लक्ष्य अपने से बाहर होता है। अन्तर्मुखी प्रत्येक वस्तु को अपने व्यक्तित्व के दृष्टिकोण से ही देखता है, वहिर्मुखी व्यक्ति वस्तु की योग्यता पर आश्रित रहता है। वाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद करके अपने में ही तृप्ति का अनुभव करना, अपने विचारों एवं क्रिया को अपने में ही केन्द्रित कर रखना, अन्तर्मुखी वृत्ति की विशेषता है। इसके विपरीत अपने को भूलकर दूसरे में अपने को लगा देना वहिर्मुखी-वृत्ति का लक्षण है।

अन्तर्मुखी लज्जाशील होता है। वह बहुत लोगों के बीच में जाते हुए घबराता है, समाज में काफी प्रयास करके ही वह प्रवेश कर पाता है। भीड़-भाड़ से दूर रहने में ही उसे शान्ति मिलती है। वह प्रदर्शन पसन्द नहीं करता और इसलिये वेष-भूषा के विषय में वह लापरवाह रहता है। लोगों का ध्यान आकृष्ट करना उसे अच्छा नहीं लगता।

कामोद्दीपक सौन्दर्य में उसकी कोई रुचि नहीं होती, उसे तो वास्तविकता में ही सुन्दरता का दर्शन होता है। उसे सत्यसे, सत्यके, अन्वेषण से, प्रेम होता है। वह विचार-प्रधान होता है। प्रत्येक मसले की तह तक पहुँचने की उसकी कोशिश होती है। किसी काम को करने से पहले वह उस पर भली भांति मनन करता है। सहसा किसी काम को कर उठाना उसके स्वभाव में नहीं होता। दर्शन तथा विज्ञान की समस्याओं से उलझने में उसे बड़ा आनन्द आता है। वह पढ़ने लिखने में विशेष उत्साह प्रदर्शन करता है। आत्म-प्रशंसा उसे पसन्द नहीं होती। अपने गुणों को दूसरों से छिपाकर रखने में ही उसे सन्तोष मिलता है।

इसके विपरीत वहिर्मुखी व्यक्ति क्रिया-प्रधान होता है। वह बड़ी प्रसन्नता के साथ समाज में सम्मिलित होता है, भीड़-भाड़ में पहुंचकर उसका उत्साह जैसे बढ़ जाता है। लोगों को संगठित करने में वह कुशल होता है। वह कुशल वक्ता तथा लोक-प्रिय नेता बन सकता है। उसे प्रदर्शन में बड़ा मज़ा आता है। वह सुन्दर पोशाक पहनना पसन्द करता है, आत्मप्रशंसा खूब करता है। एकान्त तथा मनन उसे पसन्द नहीं। उसकी प्रतिभा का ठीक ठीक प्रदर्शन समाज के बीच किसी काम के करने में होता है। वह जीवन को आनन्दपूर्वक बिताता है, थोथे आदर्शों एवं मिथ्या महत्वाकांक्षाओं को लेकर वह अपने को परेशान नहीं करता। वह वासनापूर्ण सौन्दर्य का प्रेमी होता है, सत्य का अन्वेषक नहीं। वह सुन्दरता को सत्य मानता है, सत्य में सौन्दर्य की खोज नहीं करता।

इनके अतिरिक्त कल्पना-प्रकार (image type) के आधार पर भी व्यक्तियों का विभाजन किया गया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने देखा कि लोग विशेष प्रकार की वस्तुओं की ही कल्पना सफलता-पूर्वक कर सकते हैं, अतः उन्होंने कल्पना के प्रकार को ही व्यक्तित्व का

प्रकार समझा। कुछ लोग श्रवण-प्रधान होते हैं, उन्हें सुनी हुई बातें ही स्मृत रहती हैं। किसी सुने हुये गान की स्पष्ट कल्पना सुनने के बहुत दिन बाद भी वे कर सकते हैं। कुछ लोग देखी हुई वस्तु अथवा घटना की कल्पना तो कर सकते हैं किन्तु सुने हुए नाद का मानसिक चित्र बनाने में एकान्त अक्षम होते हैं ऐसे लोग देखे हुए पदार्थ से उत्पन्न ज्ञान के बल से ही उसे स्मरण नहीं करते प्रत्युत उसका स्पष्ट चित्र उनके मानस-पटल पर अंकित हो जाता है। आँखें बन्द करके वे उसे देख सकते हैं और उसके सम्बन्ध की किसी भी संदिग्ध बात को ठीक-ठीक जान सकते हैं, ठीक वैसे ही जैसे वास्तविक पदार्थ का पुन: निरीक्षण करके उसके सम्बन्ध की भ्रान्तियों का निराकरण हम लोग किया करते हैं। इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के कल्पना-चित्र भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न सफलता के साथ बनाते देखे जाते हैं। उसी क्षमता के आधार पर दृष्टि-प्रधान (visile) नाद-प्रधान (audile) आदि व्यक्तित्व के प्रकारों का नामकरण किया गया था। किन्तु इस विभाजन में एक गलती हो गई; लोगों ने यह समझना शुरु कर दिया कि एक 'प्रकार' का व्यक्ति, दूसरे प्रकार की कल्पना कर ही नहीं सकता। यह ठीक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति थोड़ी बहुत कल्पना सभी तरह की कर सकता है। हाँ, किसी एक की प्रधानता उसमें अवश्य रह सकती है। सामान्यत: अधिकांश लोग दृष्टि-प्रधान ही होते हैं, दूसरे प्रकार के कल्पना-चित्र इतने अधिक परिमाण में नहीं बन पाते। घ्राण (smell) तथा स्वाद (taste) के चित्र तो प्राय: नहीं ही बन पाते हैं। अत: व्यक्तित्व के प्रकारों में कल्पना-सम्भव प्रकारों (image types) का अब विशेष महत्व नहीं समझा जाता।

व्यक्तिगत भेद और शिक्षा—हमने देखा कि बौद्धिक क्षमता में रुचि में, व्यक्तित्व के प्रकार में, बहुत अंतर पाया जाता है। सूक्ष्म

विचार करने से मालूम पड़ता है कि स्थूल रूप से जो साम्य लोगों में पाया जाता है वह माध्यमिक योग्यता (average ability) के छात्र की कल्पना को प्रश्रय नहीं देता। सभी माध्यमिक योग्यता के छात्रों का एक वर्ग बनाकर एक ही ढंग से उन्हें शिक्षा देने की जिस काल्पनिक सुविधा को हम बहुत दिनों से अभिमान के साथ प्रचारित करते आये हैं उसका आधार दृढ़ नहीं है। शिशु-मानस उन प्राणहीन जड़ द्रव्यों की भाँति नहीं है जिन्हें एक ही प्रकार के द्रव में गलाया जा सके। माध्यमिक योग्यता का छात्र सैद्धान्तिक सुविधा की चीज़ है, भौतिक सत्य नहीं। इस सत्य का ज्ञान होने के साथ ही कक्षा-शिक्षण पर से लोगों की श्रद्धा कम होने लगी है और व्यक्ति-शिक्षण पर जोर दिया जाने लगा है। व्यक्तित्व के प्रकारों को यदि सत्य माना जा सकता तो उन्हीं के आधार पर किसी पद्धति का उपयोग एक 'प्रकार' के छात्रों की श्रेणी बनाकर किया जा सकता। किन्तु अभी तक मनोवैज्ञानिक पंडित 'शुद्ध प्रकार' (pure type) का कोई भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। यदि शुद्ध प्रकार' की सत्ता सिद्ध भी होती तो भी, हमारा ख़याल है, कि कोई बुद्धिमान शिक्षा-शास्त्री इस बात पर हठ नहीं करता कि एक 'प्रकार' के सभी छात्रों को एक श्रेणी में ही रख दिया जाय। क्या सभी 'अन्तर्मुखी' बालक एक ही कक्षा में रखकर पढ़ाये जा सकते हैं ? कुछ दृष्टियों से इस व्यवस्था में अवश्य ही सुविधा हो सकती है पर क्या यह अधिक उचित नहीं है कि अन्तर्मुखी बालक बहिर्मुखी प्रवृत्तिवालों का साहचर्य प्राप्त कर सकें, जिससे पारस्परिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप उनका मनोविकास अधिक समृद्ध हो सके ? एकांगी विकास बालकों को भावी जीवन के लिए भला तैयार कर सकता है ? हमें जीवन में विविधता लानी है, उसे संकुचित नहीं करना है। सभी प्रकार के लोगों के साथ रहने से अनुकरण शक्ति के कारण हमारा विकास बहुमुखी हो जाता है, हममें उदारता एवं सहिष्णुता

की वृद्धि होती है, हम पूर्ण बनते हैं और 'पूर्ण जीवन' के लिये तैयार करना शिक्षा का विशेष कर्तव्य है। अतः 'व्यक्तित्व के प्रकार' के आधार पर श्रेणी-विभाजन करना शिक्षा की दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता।

व्यक्तिगत भेद, जैसा अभी हमने देखा इतने अधिक होते हैं कि कक्षा शिक्षण विशेष उपयोगी नहीं प्रतीत होता। शिक्षा व्यक्ति को ही दी जा सकती है, कक्षा को नहीं। कक्षा का प्रत्येक विद्यार्थी अपनी रुचि, अपनी शक्ति तथा अपनी पद्धति से ही कुछ सीख सकता है। शिक्षकों का कार्य तो केवल उसे सहायता भर देना है। इन भेदों का ज्ञान वर्तमान शिक्षण-पद्धति में क्रान्ति उपस्थित कर रहा है। डाल्टन-पद्धति, माण्टीसरी-विधि आदि इसी सत्य को स्वीकार कर लेने का परिणाम हैं। उनमें अपनी शिक्षा का समस्त उत्तरदायित्व विद्यार्थी पर डाल दिया जाता है तथा शिक्षक का काम केवल एक पथ-प्रदर्शक का रह जाता है। तो क्या कक्षा-शिक्षण बन्द कर दिया जाय? हम समझते हैं कि कक्षा-शिक्षण को बिलकुल समाप्त कर देना न तो उचित ही है, न और संभव ही। डाल्टन पद्धति के घोर समर्थक भी अनेक प्रकार से एक कक्षा के समस्त छात्रों को एक साथ पढ़ाने का प्रबन्ध रखते ही हैं। हाँ, हमें बच्चों की व्यक्तिगत विशेषताओं को जानकर जहाँ तक सम्भव हो उपयोग में लाना चाहिये। अन्तर्मुखी बालक को, एक बार उसकी प्रकृति का निर्णय हो जाने के पश्चात्, हम वही विषय पढ़ायेंगे जिनमें उसकी स्वाभाविक रुचि होगी तथा वहिर्मुखी बालक को वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक गुत्थियों में उलझाये रखकर उसकी नेतृत्व-शक्ति तथा संगठन-वृत्ति का व्यर्थ ही ह्रास नहीं होने देंगे। जो बालक गान में प्रतिभा रखता है, उसे व्याकरण की बारीकियों में डाले रखने की ग़लती नहीं की जानी चाहिये। व्यक्तित्व के प्रकार को जानकर हम उन साधनों का प्रयोग करेंगे जिससे कोई विशिष्ट छात्र-समुदाय अधिक

से अधिक लाभ उठा सके। सभी प्रकार के छात्र मिले-जुले रहते हैं, अतएव मिश्रित श्रेणी (mixed class) में हम सभी पद्धतियों का प्रयोग करेंगे जिससे सभी को एक न एक पद्धति अपने अनुकूल मिल सके। और चूँकि 'शुद्ध प्रकार' (pure type) कोई होता नहीं अतएव कई पद्धतियों का प्रयोग करने से सभी बालक प्रत्येक पद्धति से थोड़ा-बहुत लाभ अवश्य उठा सकेंगे।

सबसे बड़ा भेद लिंगगत है। अतएव शिक्षा देते समय हमें पुरुषों तथा स्त्रियों को प्रोत्साहित करने के लिए उनकी रुचि का, उनके स्वभाव का, विशेष ध्यान रखना होगा। बुद्धि की तीव्रता में स्त्रियाँ पुरुषों से हीन नहीं होतीं अत: कुछ विषयों के अध्ययन से उनको केवल इसीलिये वंचित नहीं रक्खा जा सकता कि वे स्त्री हैं और विषय की गहनता में प्रवेश कर सकने की क्षमता उनमें नहीं है। साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि शिक्षा भावी जीवन की तैयारी है और जिस प्रकार का जीवन महिलाओं को बिताना है उनकी शिक्षा की रूपरेखा निश्चित करते समय हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। अत: स्त्रियों तथा पुरुषों की शिक्षा में कुछ अन्तर होगा अवश्य, परन्तु वह कुछ उसी तरह का होगा जैसे इंजीनियर बनने की इच्छा रखने वाले तथा साहित्य का अध्यापक बनने वाले पुरुषों की शिक्षा में। सहशिक्षा (co-education) का प्रश्न भी इस सम्बन्ध में उठाया जाता है। भिन्न लिङ्गीय व्यक्तियों का मिलना जुलना, उनका एक दूसरे के सम्पर्क में आना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वांछनीय भी है। किन्तु यह समस्या केवल मनोविज्ञान से हल नहीं हो सकती। सामाजिक परिस्थियाँ तथा नैतिक आदर्श इस सन्बन्ध में अधिक महत्व रखते हैं। अतएव मनोविज्ञान बहुत सीमित सलाह ही दे सकता है। अन्तिम निर्णय तो उपर्युक्त वस्तुओं का सम्यक् विवेचन करने के पश्चात् ही किया जा सकता है।

सारांश—मूल-प्रवृत्तियाँ, संवेग आदि प्रायः सभी मनुष्यों में समान रूप से ही पाये जाते हैं। किन्तु पारस्परिक भेद भी मनुष्यों में बहुत होते हैं। कोई उत्कृष्ट-बुद्धि होता है तो कोई हीन-बुद्धि। किसी की स्मृति तेज होती है किसी की क्षीण। कुछ लोग संकीर्ण क्षेत्र में गम्भीर विवेचना करना पसन्द करते हैं तो कुछ विस्तृत क्षेत्र का छिछला अनुभव करने की प्रवृत्ति रखते है। कुछ विश्लेषक होते हैं तो कुछ संश्लेषक।

इन व्यक्तिगत भेदों के कई कारण हैं—वंशानुक्रम, समाज परम्परा शिक्षा तथा वातावरण एवं लिंग-भेद उनमें मुख्य हैं।

इन भेदों में भी एक नियम पाया जाता है, कुछ गुण एक साथ देखे जाते हैं। अतएव यह कल्पना की गई है कि एक साथ पाये जाने वाले गुणों से युक्त व्यक्ति को एक व्यक्तित्व का प्रकार मान लिया जाय और उसी प्रकार के आधार पर उनकी शिक्षा की विधि निश्चित की जाय।

एक प्रकार उग्र तथा दमनशील व्यक्तियों का है। प्रदर्शक तथा गम्भीर, उद्धत तथा विनम्र कठोर तथा कोमल इसी द्विविध व्यक्तित्व के द्योतक हैं।

जुङ्ग ने अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी प्रकृति का नाम देकर एक और विभाजन किया है। अपने विचार तथा क्रिया को अपने में ही केन्द्रित रखना अन्तर्मुखी का लक्षण है तथा वाह्य पदार्थों की ओर रुचि रखना वहिर्मुखी का गुण।

कल्पना-प्रकार के आधार पर भी दृष्टि-प्रधान तथा नाद-प्रधान आदि भेद दिये गये, परन्तु उनमें विशेष तथ्य नहीं मालूम पड़ता।

शिक्षा देते समय हमें व्यक्तिगत भेदों का विशेष ध्यान रखना चाहिये। एक कक्षा के सब छात्र किसी भी एक वर्ग में नहीं रखे जा सकते। सब की रुचि, योग्यता, आवश्यकता भिन्न-भिन्न होती हैं। एक कक्षा में रख कर पढ़ना केवल सुविधा के लिये है। अतएव

आर्थिक तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी सुविधा के लिये कक्षा के वर्गों को बनाये रख कर प्रत्येक व्यक्ति को उसके ही अनुकूल सहायता देना शिक्षक का कर्त्तव्य होना चाहिये। यह सिद्ध हो चुका है कि स्त्रियाँ बुद्धि की प्रखरता में पुरुषों की अपेक्षा हीन नहीं होतीं। अतः उनके लिये विशिष्ट शिक्षा की योजना उनके भावी जीवन की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरोध से की गई है, उन्हें अयोग्य समझ कर नहीं। सहशिक्षा, मनोविज्ञान की दृष्टि में, अनुचित नहीं है, पर इस समस्या का हल सामाजिक तथा नैतिक सिद्धान्तों पर अधिक आश्रित है। इसलिये उसका अन्तिम निर्णय मनोविज्ञान नहीं कर सकता।

प्रश्न

(१) व्यक्तिगत भेदों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये एवं स्कूली बच्चों की व्यक्तिगत भेदों से उत्पन्न समस्याओं को हल करने के लिये कुछ उपायों का निर्देश कीजिये।

(२) जुङ्गकृत अन्तर्मुखी तथा, बहिर्मुखी वृत्ति के ऊपर प्रकाश डालिये। शिक्षक इस ज्ञान का क्या उपयोग कर सकता है ?

(३) 'व्यक्तित्व के प्रकार' का सिद्धान्त क्या है ? मुख्य प्रकारों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये।

(४) स्त्रियों तथा पुरुषों की लिङ्गगत भिन्नता का वर्णन कीजिये तथा यह भी बतलाइये कि उनकी शिक्षा में इसका क्या प्रभाव पड़ना चाहिये।

(५) सह-शिक्षा पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

नाड़ीमंडल तथा ग्रन्थियाँ

(Nervous System and Glands)

नाड़ी-मंडल—हमारे मन की वास्तविक सत्ता है अथवा नहीं इसे कोई नहीं जानता। ईश्वर अथवा तन्वी नायिका के कटि-प्रदेश की ही भाँति उसका अस्तित्व भी प्रत्यक्ष का नहीं, अनुमान तथा श्रद्धा का विषय है। मानसिक क्रियाओं का भौतिक आधार, मन का शरीर, नाड़ी-मंडल (nervous system) है। ज्ञानार्जन एवं क्रिया-सम्पादन समस्त शरीर में फैले नाड़ी-तंतुओं के द्वारा ही होता है। उग्र आचरण-वादी तो नाड़ी-मंडल के अतिरिक्त मन का और कोई अस्तित्व ही नहीं मानता। मनुष्य का सम्पूर्ण मानसिक तथा शारीरिक आचरण, कहा जाता है, इन्हीं नाड़ियों से नियंत्रित होता है। इतना तो प्रायः निश्चित ही है कि किसी भी मानसिक क्रिया के होने पर नाड़ी-मंडल में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है। मानसिक क्रियाओं को समझने में नाड़ी-मंडल का ज्ञान सुविधा तथा सहायता देता है। अतएव नाड़ी-मंडल का परिचय, मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिये, बहुत आवश्यक है। उस सम्बन्ध की कुछ मोटी बातें यहाँ पर देना ठीक ही होगा।

मानव-शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवकोषों (living cells) का समूह मात्र है। किसी प्रकार के जीवकोष त्वचा बनाते हैं, किसी प्रकार के मांसपेशियाँ एवं किसी प्रकार के संयोजक तंतु आदि। नाड़ी-मंडल (nervous system) की रचना में जिन कोषों का प्रयोग हुआ है उन्हें 'न्यूरोन' कहते हैं। 'न्यूरोन' के दो भाग किये जा सकते हैं, एक कोष-शरीर (cell body) और दूसरा उससे निकलने वाली शाखायें। ये शाखायें दो प्रकार की होती हैं। एक को 'डेंड्रोन' कहते हैं और दूसरी को 'ऐक्शान'। 'डेंड्रान' कोष-शरीर से निकलकर उसके समीप ही समाप्त हो जाते हैं और समाप्त होते समय बहुत सूक्ष्म अनेक

शाखाओं में फैल जाते हैं। 'ऐक्शान' कोष-शरीर से थोड़ी-बहुत दूर जाकर किसी मांशपेशी, गिल्टी, दूसरे नाड़ीकोष के डेंड्रान अथवा किसी ज्ञानेन्द्रिय के बिलकुल समीप ख़त्म होते हैं। ख़त्म होते समय वे बहुत सूक्ष्म शाखाओं में विभाजित हो जाते हैं। जहाँ पर एक नाड़ी-कोष का 'ऐक्शान' अन्य कोषों के डेंड्रान के निकट-सन्निकर्ष में आता है वहीं से एक 'न्यूरोन' का दूसरे 'न्यूरोन' के साथ सम्पर्क स्थापित होता है तथा 'शरीर-मन' की सम्मिलित गाड़ी को चलने की शक्ति और प्रेरणा प्राप्त होती है। जिस जगह पर ऐक्शान तथा डेंड्रान मिलते हैं 'न्यूरोनों' के उस सम्मिलित अथवा निकट-सम्पर्क को 'साइनाप्स' कहते हैं। यह मिलन बाह्य सम्पर्क मात्र होता है, एक न्यूरोन दूसरे न्यूरोन के बहुत नज़दीक, बिलकुल समीप, आ जाता है परन्तु उसको स्पर्श नहीं करता, अपने द्रव्य को दूसरे न्यूरोन में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित नहीं करता। एक प्रकार का विद्युत्प्रवाह एक न्यूरोन से दूसरे न्यूरोन में पहुँच जाता है और बस।

इस प्रकार नाड़ी-मंडल के समस्त न्यूरोन एक सम्बन्ध-सूत्र में पिरोये रहते हैं। तब फिर नाड़ियों का शक्ति-प्रवाह (flow of energy) एक निश्चित दिशा में ही क्यों होता है, सभी प्रवाह चारों ओर फैलकर एक अनवस्था क्यों नहीं उत्पन्न कर देते ? बात यह है कि 'साइनाप्स' को पार करके शक्ति-प्रवाह जब दूसरे न्यूरोन में जाने लगता है, तो उसे कुछ प्रतिरोध (resistance) का सामना करना होता है। किसी ओर प्रतिरोध की मात्रा अधिक और किसी ओर कम होती है। जिस ओर से रुकावट कम होती है प्रवाह स्वभावतः उसी ओर होने लगता है।

'साइनाप्स' पर होने वाले प्रतिरोध की मात्रा कुछ तो जन्म-जात होती है और कुछ अर्जित। जिस ओर को, किसी कारण से, एक बार नाड़ी-शक्ति का प्रवाह हो जाता है, वैसे ही परिस्थिति आने पर दुबारा

उसी तरफ को प्रवाह होना आसान हो जाता है; एक बार प्रतिरोध को जीत लेने से प्रतिरोध की शक्ति क्षीण हो जाती है। आदत में लोगों को विवश कर देने की जो शक्ति है उसका कारण यही है। जो काम एक बार किया जा चुका है, जिस ओर नाड़ी-शक्ति को एक बार बहने दिया गया है, नाड़ी-शक्ति-प्रवाह का वही रास्ता बन जाता है। जितने बार किसी शक्ति को एक ओर बहने दिया जाता है उसका प्रवाह उस ओर को उतनी ही अदम्य गति से होने लगता है। बाद में रोकने की कोशिशें कुछ उसी तरह की साबित होंगी जिस प्रकार जल-प्रवाह के किसी प्राचीन मार्ग को रोकने के लिये छोटे-मोटे अवरोध उपस्थित करना।

तारों के जाल की तरह समस्त शरीर में फैले हुए नाड़ी मंडल को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) त्वक्-नाड़ी मंडल (peripheral nervous system), (२) केन्द्रीय नाड़ी-मंडल (central nervous system) एवं (३) स्वतंत्र नाड़ी-मंडल (autonomic nervous system)।

त्वक्-नाड़ी मंडल (peripheral nervous system) त्वक्-नाड़ी-मंडल दो प्रकार की नाड़ियों से बना होता है—ज्ञानवाही (afferent) तथा गतिवाही (efferent)। एक ओर तो ये त्वचा अथवा पेशियों से, शरीर के वाह्य अवयवों से, सम्बन्धित होती हैं और दूसरी ओर मेरुदण्ड (spinal cord) से। बाहर से उत्तेजना को ग्रहण करके शारीरिक प्रतिक्रियाओं का नियंत्रण करना इनका काम है।

'ऐक्शान' का काम उत्तेजना को वहन करना है और डेंड्रान उस उत्तेजना को ग्रहण करता है। वाह्य जगत से प्राप्त उत्तेजना को नाड़ियों में स्थित 'ऐक्शान' मस्तिष्क अथवा मेरुदण्ड की ओर वहन करता है। केन्द्रीय नाड़ी-तंतुओं में पहुँच कर वह समाप्त हो जाता

है। उसी उत्तेजना के प्रभाव से अन्य नाड़ी-कोषों के डेंड्रान प्रभावित होते हैं तथा उस उत्तेजना की प्रति-क्रिया डेंड्रान से कोष-शरीर (cell body) एवं कोष-शरीर से ऐक्शान में होकर बाहर की ओर मांस-पेशियों अथवा कर्मेन्द्रियों तक गतिवाही तंतुओं के द्वारा पहुँचाई जाती है। ऊपर बताया जा चुका है कि साइनाप्स उत्तेजना को एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित करने में सहायक होते हैं। साइनाप्स मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड में ही होते हैं और ज्ञानवाही नाड़ियों के ऐक्शान वहीं पर उत्तेजना को ले जाते हैं। वहाँ से ही सरल अथवा जटिल मानसिक क्रियाओं का नियंत्रण होता है।

सहज क्रिया (reflex action)--ज्ञानवाही तंतु सभी उत्तेजनाओं को पहले मेरुदण्ड में ही ले जाते हैं। कुछ उत्तेजनायें वहीं से गतिवाही तंतुओ को प्रभावित करके, मस्तिष्क तक न जाकर, सीधी शारीरिक प्रतिक्रियाओं में परिणत हो जाती हैं और कुछ मस्तिष्क में जाती हैं। ये यहाँ पर उपयुक्त ज्ञान-केन्द्र (sensory centre) को उत्तेजित करके विशिष्ट गतिवाही नाड़ियों के द्वारा क्रिया को जन्म देती हैं। जिन क्रियायों का नियंत्रण सीधे मेरुदण्ड से होता है, मस्तिष्क का जिनके होने में कोई हाथ सामान्यत: नहीं होता' वे सहज़-क्रिया कहलाती हैं। इनके होने में चेतना नहीं होती; चेतना का केन्द्र तो केवल मस्तिष्क ही है। छींक आना, तेज प्रकाश में आँखे बन्द हो जाना, चोट खाकर शरीर के किसी भाग को हटा लेना आदि ऐसी ही सहज-क्रियायें हैं। सोते हुये पुरुष के किसी अङ्ग में यदि चुट्टी काटी जाय तो वह उस अंग को हिला-डुला कर, पीड़ा से बचने के लिये उस स्थान से हटाकर अन्यत्र ले जायेगा परन्तु अपने इस आचरण की चेतना उसे नहीं होगी क्योंकि इस क्रिया के होने में मस्तिष्क का कोई हाथ नहीं रहा। त्वक् प्रदेश से ज्ञानवाही तंतु उत्तेजना को मेरु-दण्ड तक ले गये। वहाँ पर सीधे गतिवाही तंतुओं को उन्होंने उत्तेजित

कर दिया और प्रतिक्रिया हो गई। इस प्रकार की अनेक सहज-क्रियायें हम नित्य करते हैं। अँधेरे से उजाले में आने पर हमारी आँख की पुतली सिकुड़ जाती है, स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ को देककर मुँह में पानी भर आता है, आँख में कुछ भी पड़ जाने से आँसू बहने लगते हैं, सोते समय तंग करने वाली मक्खियों को हाथ हिलाकर हम उड़ाया करते हैं, ये सब सहज क्रियायें कहलाती हैं।

केन्द्रीय नाड़ी-मंडल (central nervous system)—इसको दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—मेरुदण्ड (spinal cord) तथा मस्तिष्क (brain)। विवेचन की सुविधा के विचार से मस्तिष्क तीन भागों में बाँटा गया है—बृहत्-मस्तिष्क (cerebrum), लघुमस्तिष्क (cerebellum) तथा सेतु (pons)।

मेरुदण्ड (spinal cord)—हम देख चुके हैं कि शरीर के त्वक् प्रदेश से ज्ञानवाही नाड़ियाँ प्रतिक्षण विविध प्रकार की उत्तेजना मेरुदण्ड में भेजा करती हैं। अनेक उत्तेजनायें ऐसी होती हैं कि उनकी प्रतिक्रिया मेरुदण्ड से हो जाती है, मेरुदण्ड को उनको नियंत्रण करने का पूर्ण अधिकार रहता है, उत्तेजना के मस्तिष्क तक पहुँचने में समय लगता है और जीवन-रक्षा की दृष्टि से प्रतिक्रिया में विलम्ब करना कभी कभी ठीक नहीं होता है। आवश्यक होने पर इस प्रकार की उत्तेजनायें भी मस्तिष्क में जाती है। सहज क्रिया (reflex action) जब समस्या को पूर्णतया हल नहीं कर पाती तो मस्तिष्क को सूचना भेजनी ही पड़ती है, सहज-क्रिया तब केवल प्राथमिक सहायता का काम करती है, अन्तिम उपचार नहीं। आप गलती से आग पर पैर रख देते हैं। जैसे ही यह उत्तेजना मेरुदण्ड में पहुँचती है आपका पैर यंत्र-चलित की भाँति आग पर से अलग हट जाता है। मेरुदण्ड, जीवन रक्षा के विशिष्ट उद्देश्य से, सहज क्रिया के द्वारा पैर को हटा लेने की आज्ञा दे देता है। परन्तु कभी-कभी इतना ही पर्याप्त नहीं होता।

अगर पैर अधिक जल गया है तो उसकी खबर मस्तिष्क तक पहुँचना आवश्यक होगी। जब उत्तेजना मस्तिष्क तक पहुँचेगी तो आपको जलने का ज्ञान होगा और तब उसका उपयुक्त उपचार करने की व्यवस्था मस्तिष्क करेगा।

सहज क्रियाओं का तो नियंत्रण मेरुदण्ड करता ही है, आदतों का नियंत्रण भी वहीं से होता है। आदत जब तक पुष्ट नहीं होती तब तक मस्तिष्क को काम करना पड़ता है। बिना अवधान के कार्य नहीं चलता। जब संस्कार पुष्ट हो जाते हैं तो सहज क्रियाओं की ही तरह उन कामों को भी मेरुदण्ड सीधा करने लगता है। हम पहले पढ़ चुके हैं कि आदत का प्रमुख लाभ यह है कि उसमें अवधान की आवश्यकता नहीं रहती और हमारा मस्तिष्क अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिये खाली हो जाता है।

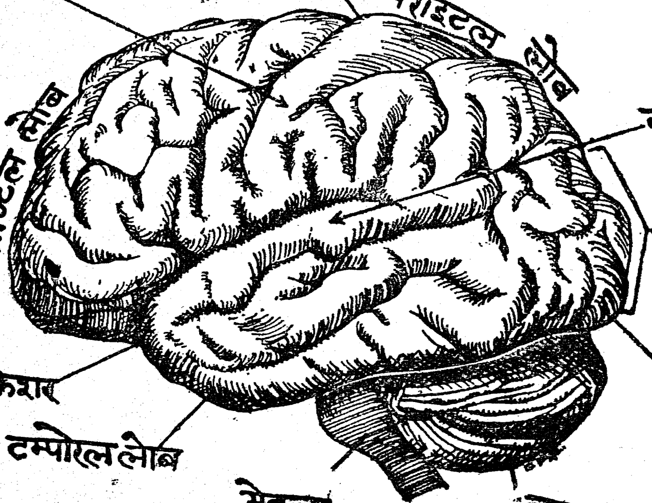
मेरुदण्ड का सबसे ऊपरी भाग मेरुदण्डशीर्ष (medulla oblongata) कहलाता है। मेरुदण्ड तथा मस्तिष्क का सम्बन्ध यहीं से होता है। मेरुदण्ड के निचले भाग में होनेवाली उत्तेजनायें यहीं से मस्तिष्क में प्रवेश करती हैं तथा मस्तिष्क की उत्तेजानायें यहीं से होकर मेरुदण्ड में पहुँचती हैं। अनेक सहज क्रियायें जिनका सम्बन्ध स्वतंत्र नाड़ी-मंडल से होता है, जैसे सांस लेना, रक्त-प्रवाह आदि, इसी के द्वारा संचालित होती हैं।

मस्तिष्क (Brain)—मस्तिष्क को तीन मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है—बृहत् मस्तिष्क (cerebrum), लघु मस्तिष्क (cerebellum), तथा सेतु (pons)। बृहत् मस्तिष्क विचार, ज्ञान एवं सामान्य क्रिया का नियंत्रण करता है। लघु-मस्तिष्क संवेगों, कामवृत्ति एवं शरीर की गति का संचालन करता है। सेतु लघु-मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों में सम्बन्ध स्थापित करता है।

बृहत् मस्तिष्क—खोपड़ी के नीचे जो 'भेजा' रहता है उसका

जो भाग भौंहों के सामने से लेकर सिर के पीछे उभरे हुए भाग तक चला जाता है वह बड़ा दिमाग़ कहलाता है। ऊपर से देखने पर इसमें अनेक दरारें सी दिखाई पड़ती हैं और जिस मस्तिष्क में जितनी अधिक दरारें होती हैं वह उतना ही अच्छा समझा जाता है। शरीर-शास्त्रियों ने मस्तिष्क का बहुत सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया है और परिश्रम करके विभिन्न ज्ञानक्रियाओं के संचालक विभिन्न मस्तिष्क केन्द्रों का पता लगा लिया है। यद्यपि अब भी मस्तिष्क का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जिसका विशिष्ट ज्ञान शास्त्र को नहीं है तो भी बहुत कुछ जाना जा चुका है।

मस्तिष्क ही ज्ञान तथा क्रिया का नियंत्रक है। आँख, कान तथा विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से आने वाले ज्ञानवाही तंतु किस विशेष भाग को उत्तेजित करते हैं इसका बहुत कुछ निश्चय हो चुका है। क्रिया की प्रेरणा जिन केन्द्रों से होती है उन 'क्रिया' अथवा 'चेष्टा-केन्द्रों' का भी बहुत कुछ पता लगाया जा चुका है तथा ज्ञान-केन्द्रों (sensory-centres) एवं चेष्टा-केन्द्रों (motor centres) में सम्बन्ध स्थापति करने वाले संयोजक केन्द्रों (associative centres) को भी बहुत कुछ निर्धारित कर लिया गया है। ज्ञानकेन्द्रों को ही सर्व प्रथम उत्तेजना का ज्ञान होता है, संयोजक केन्द्र तब उस ज्ञान का, पूर्व अनुभव के सहारे, अर्थ निर्धारित करते हैं और अंत में चेष्टाकेन्द्र को क्रिया करने की आज्ञा दी जाती है। यही आज्ञा पूर्ववर्णित पद्धति से गतिवाही तंतुओं के द्वारा मेरुदण्ड में होकर मांस-पेशियों में पहुँचती एवं शारीरिक क्रिया को जन्म देती है। यदि चोट लगने अथवा अन्य किसी कारण से मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाय तो हज़ार इच्छा करने पर भी हम अपने शरीर में कोई क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकते क्योंकि उस आज्ञा को ले जाने वाले गतिवाही तंतु शेष नहीं रहे। उस दशा में हमारा त्वक्-प्रदेश कितना ही उत्तेजित



बृहत् मस्तिष्क का वाम-गोलार्द्ध

क्यों न किया जाय उसका ज्ञान हमें नहीं होगा क्योंकि ज्ञानवाही तंतु उस ज्ञान को अब मस्तिष्क तक नहीं पहुँचा सकते।

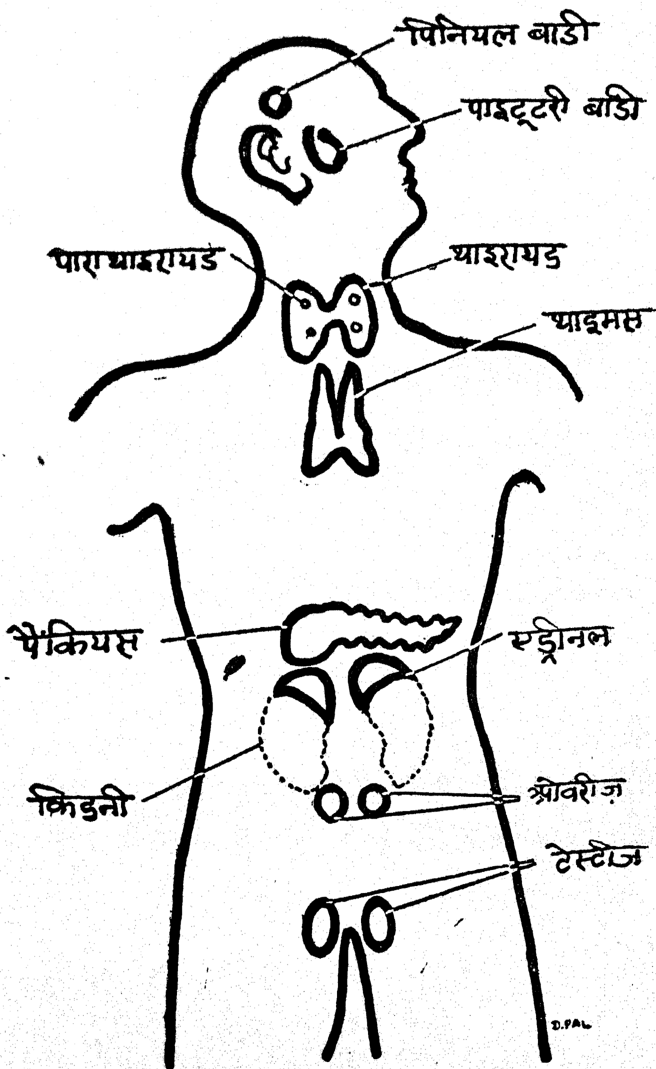
लघु मस्तिष्क (cerebellum)—बृहत् मस्तिष्क के नीचे, एक कनपटी से दूसरी कनपटी तक फैला हुआ भाग लघु मस्तिष्क कहलाता है। यह भी बृहत् मस्तिष्क की भाँति दो गोलार्द्धों में बँटा रहता है और नाड़ी-तंतु के अनेक गुच्छे दोनों गोलार्द्धों को एक सूत्र में जोड़े रहते हैं। नाड़ी-तंतु के ये गुच्छे सेतु (pons) कहलाते हैं। लघु मस्तिष्क एक ओर अनेक नाड़ी तंतुओं से मेरुदण्ड-शीर्ष से जुड़ा रहता है और दूसरी ओर सेतु के द्वारा बृहत् मस्तिष्क से सम्बन्धित रहता है। जैसा पहले बताया जा चुका है लघु मस्तिष्क का विशेष कार्य संवेगों, उत्तेजनाओं तथा शरीर की गतियों में समता स्थापित करना होता है। शराब के नशे में अथवा तीव्र संवेग की दशा में लघु मस्तिष्क अपना काम करना बन्द कर देता है। इसी लिये तब शरीर की गति ठीक नहीं रहती, पैर लड़खड़ाने लगते हैं एवं शरीर का सन्तुलन बिलकुल विनष्ट हो जाता है। बृहत् मस्तिष्क जब गतिवाही तंतुओं के द्वारा कोई आज्ञा बाहरी अंगों को भेजता है तो उसकी सूचना लघु मस्तिष्क तक भी पहुँच जाती है और इसी लिये क्रिया में लगे रहने की दशा में भी शरीर सन्तुलित बना रहता है।

सेतु (pons)—बृहत् मस्तिष्क के नाड़ी-तंतु यहीं से होकर बाहर जाते हैं तथा लघु मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों में यहीं सम्बन्ध स्थापित होता है। बृहत् मस्तिष्क द्वारा जब कभी किसी क्रिया को करने की आज्ञा दी जाती है तो यह आज्ञा एक ओर वाह्य त्वक्प्रदेश की ओर गतिवाही नाड़ियों के द्वारा भेज दी जाती है और दूसरी ओर सेतु पर होती हुई लघु मस्तिष्क में पहुँच जाती है जिससे क्रिया करते समय शरीर वांछित संतुलन बनाये रख सके। सेतु का मुख्य काम मस्तिष्क के विभिन्न भागों में सम्बन्ध स्थापित करना ही है, किसी स्वतंत्र क्रिया को उत्तेजित करना नहीं।

स्वतंत्र नाड़ी मंडल (autonomous nervous system)—मेरुदण्ड के दाहिने बायें दोनों ओर गर्दन तक अनेक कोष समूह (ganglions) होते हैं। वे सब अनेक नाड़ी तंतुओं के द्वारा हृदय, फेफड़ों आदि से सम्बद्ध रहते हैं तथा उनकी गतियों को नियंत्रित करते हैं। भोजन पचाना, थूक का आना आदि अनेक जीवन-सम्बन्धी क्रियाओं का नियंत्रण इन्हीं नाड़ियों से होता है। स्वतंत्र नाड़ी-मंडल का ही निचला भाग मल-मूत्र-त्याग, कामोद्दीपन आदि में काम करता है। जीवन के परम आवश्यक कार्यों में विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होने के कारण इसको कुछ लोग 'जीवन-यौनि-संस्थान' भी कहते हैं। यह नाड़ी-मंडल मेरूदण्ड से निसृत अनेक तंतुओं के द्वारा मस्तिष्क से भी सम्बन्धित है और जब जीवन-क्रिया का स्वाभाविक व्यापार किसी कारण से रुक जाता है तो उसकी सूचना मस्तिष्क को मिल जाती है। और मस्तिष्क आवश्यकतानुसार अपनी शक्ति का प्रयोग करता है।

गिल्टियाँ (glands)—स्वतंत्र नाड़ी-मंडल का सम्बन्ध शरीर में फैली हुई अनेक गिल्टियों से है। ये गिल्टियाँ दो तरह की होती हैं, प्रणाली युक्त (with ducts) तथा प्रणाली विहीन (ductless)। ये गिल्टियाँ विविध रसों का उत्पादन करके अनेक प्रकार से शरीर का उपकार करती हैं। प्रणाली युक्त गिल्टियों का रस प्रणाली में बह कर उन स्थानों में पहुंचा करता है जहाँ उसकी आवश्यकता होती है। भोजन को पचाने के लिये आमाशय को एक विशेष प्रकार के रस की आवश्यकता होती है। एक विशेष प्रकार की प्रणाली युक्त गिल्टी इस रस का उत्पादन करके उसे आमाशय में भेजा करती है। इसी प्रकार कई अन्य गिल्टियाँ अपने अपने रसों के द्वारा विविध प्रकार से शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

प्रणाली-विहीन गिल्टियों का ज्ञान शरीर-शास्त्रियों को हाल में ही हुआ है। इनका शरीर-शास्त्र में विशेष महत्व है। ये अपने रस



मानव शरीर की प्रमुख ग्रंथियाँ

को सीधे-सीधे रक्त में मिला देती हैं और रक्त के द्वारा उसे सम्पूर्ण शरीर में भेजकर शरीर को अनेक प्रकार से प्रभावित किया करती है। शरीर को स्वस्थ रखने एवं उसके सम्यक् विकास में इन गिल्टियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। अनेक गिल्टयों का पता लग चुका है पर हम उदाहरण के लिए केवल दो ही का वर्णन यहाँ पर करेंगे, एक तो थाइरायड और दूसरी एड्रीनल।

थाइरायड—यह गिल्टी गले में स्थित है और 'थाइरेक्सिन' नामक रस का उत्पादन करती है। इस रस के प्रभाव से शारीरिक एवं मानसिक विकास उचित रूप से होता रहता है। यदि छोटी उम्र में ही इस गिल्टी में कुछ खराबी आ जाय जिससे 'थाइरेक्सिन' रस की आवश्यक मात्रा बच्चे के शरीर को न प्राप्त हो सके तो उसका विकास रुक जाता है। उसका कद ठिंगना, शरीर अशक्त तथा बुद्धि मन्द हो जाती है। इस रस की अधिक कमी होने से आदमी बौना हो जाता है। शरीर-शस्त्रियों ने बहुत खोज के बाद इस बात का पता लगाया है कि 'थाइरेक्सिन की कमी को किन कृतिम उपायों से पूरा किया जा सकता है। अन्य प्राणियों के शरीर से 'थाइरेक्सिन' निकालकर रोगी के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। इससे बहुत लाभ होते देखा गया है। रुका हुआ विकास स्वाभाविक रूप से होने लगता है एवं बुद्धि की विकलता जाती रहती है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब 'थाइरेक्सिन' की कमी का ज्ञान काफ़ी जल्दी हो जाय और उसका उपचार आरम्भिक अवस्था में ही शुरू कर दिया जाय। कृत्रिम रूप से 'थाइरेक्सिन' को बढ़ाने में एक बात का ध्यान रखना पड़ता है। एक बार कमी को दूर कर देने से बच्चा रोगमुक्त तो हो जाता पर कुछ दिनों के उपरान्त फिर उस कमी का अनुभव होने लगता है। अतएव समय-समय पर उपचार करते रहना आवश्यक है, कृत्रिम उपचार रोग को पूर्ण रूप से कभी नहीं नष्ट कर पाता।

प्रयोगों से पता चला है कि भय, क्रोध आदि प्रतिकूल संवेगों की दशा में 'थाइरायड' गिल्टी उचित मात्रा में 'थाइरेक्सिन' नहीं उत्पन्न कर पाती। अतएव जो व्यक्ति इन मनोवृत्तियों के शिकार प्राय: रहा करते हैं उनका स्वास्थ्य भी खराब रहता है। हर्ष, उत्साह आदिक अनुकूल मनोवृत्तियाँ थाइरेक्सिन के उचित उत्पादन में सहायक होने के कारण स्वास्थ्य एवं बुद्धि को बढ़ाने वाली होती है।

एड्रीनल गिल्टी—एड्रीनल नाम की दो गिल्टियाँ गुर्दे के ऊपरी भाग में होती हैं। इनसे एड्रीनलीन नामक रस रहा करता है जो शरीर में स्फूर्ति का संचार करता है। क्रोध, भय आदिक संवेगों की दशा में यह गिल्टियाँ प्रबल वेग के साथ रस उत्पादन करने लगती हैं जिससे रक्त में शकर की मात्रा बढ़ जाती है, खून जमने लगता है और पुरुष को बहुत सी शक्ति प्राप्त हो गई मालूम पड़ने लगती है। जब शरीर में 'एड्रीनलीन' की मात्रा काफी रहती है तो वह असाधारण शक्ति के काम कर डालता है। एक छोटा-सा क्षुब्ध बच्चा प्रौढ़ व्यक्ति के सँभाले नहीं सँभलता, भयभीत व्यक्ति इतना तेज दौड़ता है, इतनी ऊँची दीवाल लाँघ सकता है, जो उसकी सामान्य शक्ति के आधार पर बुद्धिग्राह्य नहीं होती। युद्ध में भाग लेने वाले सैनिक तथा हाकी अथवा फुटबाल खेलनेवाले खिलाड़ी चोट खाकर भी जो पीड़ा का अनुभव नहीं करते वह इसी 'एड्रीनलीन' के बल से। शान्त होने पर जब 'एड्रीनलीन' का प्रवाह स्वाभाविक हो जाता है तो पीड़ा एकाएक उत्पन्न हो गई सी मालूम पड़ती है। शरीर में 'एड्रीनलीन' की अधिक मात्रा रहने से पाचन क्रिया ठीक तरह नहीं होती। अत: क्षणिक शक्ति देने पर भी अन्ततः 'एड्रीनलीन' की अधिक मात्रा स्वास्थ्य के लिये हानिकारक ही होती है।

सारांश—हमारी मानसिक क्रियाओं का भौतिक आधार नाड़ी-मंडल है। ज्ञान की प्राप्ति तथा क्रिया का सम्पादन समस्त शरीर में तार

के जाल की तरह फैले नाड़ी-तन्तुओं के द्वारा होता है। नाड़ी मंडल को सामान्यता तीन भागों में बाँटा जाता है—(१) त्वक् नाड़ी मडल, (२) केन्द्रीय नाड़ी मंडल तथा (३) स्वतंत्र नाड़ी मंडल।

त्वक् नाड़ी-मंडल दो प्रकार की नाड़ियों से निर्मित होता है, ज्ञान-वाही नाड़ियाँ एवं गतिवाही अथवा चेष्टावाही नाड़ियाँ। ये नाड़ियाँ अनेक सूक्ष्म 'न्यूरोनों' का समूह होती हैं। न्यूरोन नाड़ीकोष्ठ (nerve cell) को कहते हैं। नाड़ी कोष का एक छोर डेंड्रान कहलाता है। उसका काम उत्तेजना को ग्रहण करना होता है। दूसरा छोर ऐक्शान कहलाता है। वह उत्तेजना को वहन करता है। बाह्य जगत् से जब कोई उत्तेजना प्राप्त होती है तो त्वक् प्रदेश तक फैले हुये अनेक नाड़ी-तंतु उस उत्तेजना को मेरुदण्ड और वहाँ से, आवश्यक होने पर, मस्तिष्क की ओर ले जाते हैं। केन्द्रीय नाड़ी-मंडल में स्थित गतिवाही नाड़ी-तंतुओं के डेंड्रान उस उत्तेजना को ग्रहण करके अपने ऐक्शान के द्वारा क्रिया-सम्बन्धी आज्ञा पेशियों इत्यादि को भेजते हैं और तब शरीर कोई चेष्टा अथवा क्रिया करता है। जो क्रिया मस्तिष्क की उत्तेजना के बिना, मेरुदण्ड के ही द्वारा, सीधी-सीधी हो जाती है उसे सहज क्रिया कहते हैं। उसमें क्रिया होती है परन्तु उसका स्पष्ट ज्ञान, उसकी चेतना, जीव को नहीं होती।

केन्द्रीय नाड़ी-मंडल के दो भाग होते हैं, मेरुदण्ड तथा मस्तिष्क। बाहर से आने वाली समस्त उत्तेजनायें पहले मेरुदण्ड में ही आती हैं तथा गतिवाही नाड़ियां मेरुदण्ड में होकर बाहर जाती हैं। मेरुदण्ड से नाड़ी-तंतुओं के द्वारा उत्तेजना मस्तिष्क में जाती हैं।

मस्तिष्क का सबसे ऊपर का हिस्सा बृहत् मस्तिष्क अथवा बड़ा दिमाग कहलाता है। शरीर-शस्त्रियों ने बड़ी छान बीन करके बड़े दिमाग को भाँति-भाँति के ज्ञान-केन्द्रों, चेष्टा-केन्द्रों एवं संयोजक-केन्द्रों में विभाजित किया है। दृष्टि केन्द्र, नाद केन्द्र आदिक बृहत् मस्तिष्क

के विशिष्ट भाग अपने केन्द्र से सम्बन्धित ज्ञान का नियन्त्रण करते हैं। किसी कारण उनमें खराबी आ जाने से तत्सम्बन्धी ज्ञान व्यक्ति को नहीं हो सकता। संयोजक-तन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान तथा क्रियाओं में सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा समस्त इच्छित क्रियायें चेष्टा-केन्द्रों से नियंत्रित होती हैं।

लघु मस्तिष्क अथवा छोटा दिमाग बृहत् मस्तिष्क के नीचे होता है। इसका काम संवेगों तथा शारीरिक गतियों का नियंत्रण करना होता है जब हम कोई काम करते रहते हैं तो शरीर को संतुलित रखना इसका ही काम है। चोट लगने अथवा नशे के प्रभाव से जब छोटा दिमाग काम करना बन्द कर देता है तो पैर लड़खड़ाने लगते हैं।

सेतु लघु मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों में सम्बन्ध स्थापित करता है। बृहत् मस्तिष्क का छोटे दिमाग से सम्बन्ध जिन नाड़ी-तंतुओं के द्वारा होता है वे भी इस से होकर ही गुजरते हैं। बृहत् मस्तिष्क जब गतिवाही नाड़ियों को किसी काम की आज्ञा देता है तो उसकी सूचना सेतु पर होकर छोटे दिमाग को भी पहुँच जाती है जिससे काम में लगे रहने की दशा में भी शरीर संतुलित रहता है।

मेरुदण्ड के दोनों ओर गले तक फैले हुये अनेक नाड़ी-तन्तुओं से मिल कर स्वतन्त्र नाड़ी मंडल बनता है। इसका काम हृदय, फेफड़ों, मल-मूत्र-त्याग आदि की अनेक जीवनोपयोगी क्रियाओं को नियन्त्रित करना है।

स्वतन्त्र नाड़ी-मंडल का सम्बन्ध शरीर में स्थित अनेक गिल्टियों से भी होता है जिनका रस शरीर को स्वस्थ रखता है तथा मस्तिष्क को विकसित करता है। इन गिल्टियों में दो विशेष महत्त्व की हैं, थाइरायड तथा ऐड्रीनल। थाइरायड नामक गिल्टी से थाइरेक्सिन रस निकलता है जो रक्त में मिलकर शरीर तथा मस्तिष्क को विकसित

करता है। इस रस की कमी से बालक बौना तथा हीनबुद्धि हो जाता है। अन्य प्राणियों से थाइरेक्सिन निकाल कर यदि थाइरेक्सिस की कमी से पीड़ित बालक के शरीर में प्रविष्ट कर दिया जाय तो वह फिर स्वस्थ हो जाता है; परन्तु कृत्रिम उपायों से रोगमुक्ति स्थायी नहीं होती। यदि समय-समय पर बाहर से थाइरेक्सिन दिया नहीं जाता तो बालक फिर बीमार हो सकता है।

ऐड्रीनल गिल्टियां ऐड्रीनलीन नामक रस उत्पन्न करके शरीर को शक्ति एवं स्फूर्ति देती हैं। ऐड्रीनलीन खून को जमाता है तथा उसमें शकर की मात्रा को बढ़ा देता है।

प्रश्न

(१) नाड़ी-मण्डल किन मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है? उनका संक्षिप्त परिचय दीजिये।

(२) सहज क्रिया का नियंत्रण कहाँ से होता है? किसी सहज क्रिया का उत्तेजना से लेकर प्रतिक्रिया तक का संक्षित वर्णन कीजिये।

(३) लघु मस्तिष्क तथा बृहत् मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न कार्यों को बताइये।

(४) थाइरायड गिल्टी की क्या उपयोगिता मानसिक तथा शारीरिक विकास में है? थाइरेक्सिन की कमी से क्या उपद्रव हो सकते हैं? उनके दूर करने का क्या उपाय है।

बाल-मनोविकास की अवस्थायें

(Stages of Child Development)

मनोवैज्ञानिकों ने मानव-विकास की चार अवस्थायें मानी हैं, शैशव (infancy), बाल्यावस्था (childhood), किशोरावस्था (adolescence), एवं प्रौढ़ावस्था (maturity) । यद्यपि यह सम्भव नहीं है कि बिलकुल निश्चित रूप से यह बताया जा सके कि कब, किस दिन, एक अवस्था को पार करके बालक दूसरी अवस्था में प्रवेश करेगा, सभी बालक एक ही आयु में किसी अवस्था विशेष में पहुँचते भी नहीं, तो भी स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि पाँच या छः वर्ष तक शैशव, छः से ग्यारह या बारह वर्ष तक बाल्यावस्था तथा बारह या तेरह वर्ष से अठारह या उन्नीस वर्ष तक किशोरावस्था रहती है। उसके बाद बालक का विकास हो जाता है, हम उसे प्रौढ़ कहते हैं। प्रथम तीन सोपानों का ही वर्णन यहाँ पर किया जायगा क्योंकि शिक्षा की दृष्टि से उन्हीं का विशेष महत्त्व है।

क्रमिक विकास का सिद्धान्त—कुछ समय पहले तक मनोवैज्ञानिक समझा करते थे कि बालक का विकास निश्चित सोपानों में होता है, एक सोपान में कुछ विशिष्ट गुणों अथवा शक्तियों का ही विकास होता है और उनका पूर्ण विकास उन सोपान में हो जाता है। ऐसा नहीं होता कि सभी शक्तियों का विकास एक साथ आरम्भ होकर अन्त तक साथ-साथ ही होता रहे। रूसों की शिक्षा-योजना बाल-विकास के इन निश्चित सोपानों को ठीक मानकर ही निर्मित हुई थी। उसका ख़याल था कि बारह वर्ष से पहले बालक में तर्क शक्ति का विकास नहीं होता और इसीलिये तर्क सम्बन्धी कोई भी विषय बालक को बारह वर्ष के पहले नहीं पढ़ाना चाहिये। स्मृति का विकास बचपन में ही हो जाता है अतएव जिन वस्तुओं को आजीवन कंठस्थ रखना

आवश्यक है उन्हें यथासम्भव शीघ्र ही याद करा देना चाहिये। बाल्यावस्था के समान तीव्र स्मृति का युग मनुष्य के जीवन में दुबारा नहीं आता। इस सिद्धान्त को क्रमिक विकास (Periodic development) कहते हैं।

आजकल इस सिद्धान्त को ठीक नहीं माना जाता। देखा गया है कि कोमल अवस्था के शिशु भी काफी गहराई में पैठ कर, बड़ी तीक्ष्ण प्रतिभा के साथ, उन विषयों की विवेचना करते हैं जिनमें उनकी अपनी रुचि है, जिनमें उनका अपना लाभ अथवा हानि है, और इसीलिये जिनके सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता वे अनुभव करते हैं। तर्क शक्ति का उदय किसी विशिष्ट अवस्था में, घड़ी-पल के शुभाशुभ विचार के पश्चात्, नहीं होता। हाँ, उसका उपयोग अवश्य बालक उसी दिशा में करता है जिसमें उसकी रुचि रहती है, और हम सभी जानते हैं कि अल्पवयस्क बालक की रुचि स्वभावत: एवं सामान्यत: सैद्धान्तिक विषयों में नहीं रहती; उसका ध्यान स्थूल पर ही जमता है। इसीलिये यह ठीक हो सकता है कि सैद्धान्तिक अथवा तर्क सम्बन्धी विषयों को लेकर हमें बाल्यावस्था में बालकों को परेशान नहीं करना चाहिये परन्तु वह इसलिये नहीं कि उस समय उनके पास तर्क-शक्ति का एकान्त अभाव होता है।

सम विकास का सिद्धान्त—आजकल लोग सम विकास (concomitant devlopment) के सिद्धान्त को ही ठीक मानते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी शक्तियों का विकास एक साथ चला करता है केवल विशिष्ट शक्तियों की प्रबलता तथा उनके प्रकाशन की दिशा में अवश्य अन्तर रहता है और इसीलिये भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के बालक भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के होते हैं। प्रौढ़ तथा बालकों में तो विशेष अन्तर होता है। अत: हमें प्रत्येक अवस्था के बालकों के मानसिक एवं शारीरिक विकास का स्थूल परिचय कर लेना चाहिये

और उसी के आधार पर उनका पाठ्य-क्रम तथा शिक्षण-पद्धित तैयार करना चाहिये।

(१) शैशवावस्था (Infancy)—शिशु में तर्क-शक्ति का एकान्त अभाव नहीं रहता, वह अभी अविकसित होता है, वैसे ही जैसे उसका शरीर अभी तक पूर्ण विकसित नहीं होता। इसलिये उसके जीवन के अधिक व्यापार तर्क से नही, मूल-प्रवृत्ति से नियंत्रित होते हैं। रुष्ट होने पर वह अपने क्रोध को वाणी से, शरीर से, क्रिया से, अवश्य ही प्रकट करेगा। लाभ-हानि अथवा शिष्टता के कारण उसको दमन कर लेने की क्षमता अभी तक उसमें नहीं होती। भूख लगने पर जो खाद्य उसे मिलेगा वह उसे खा जायगा, छूत अछूत का विचार, अपने पराये का खयाल उसके मूल-प्रवृत्यात्मक आचरण को नहीं रोकता। उसे रंग विरंगे पदार्थ, जोर का शब्द आदि पसन्द आते हैं क्योंकि वे स्थूल होते हैं। उसकी इन्द्रियाँ अभी सूक्ष्म को ग्रहण करने में असमर्थ होती हैं।

शिशु अन्य-आश्रित होता है। खाने पीने के लिए, वस्त्राच्छादन के लिए उसे माता-पिता अथवा अभिभावक पर निर्भर करना होता है, वह स्वयं अभी अक्षम है। इन भौतिक आवश्यकताओं के ही समान किन्तु इनसे कहीं अधिक, वह प्रेम, सहानुभूति आदि के लिए परमुखापेक्षी होता है। उसकी बहुत बड़ी भूख दूसरों से प्रेम पाने की होती है। बिना उसको पाये उसे संतोष नहीं होता। जिन बालकों को इस अवस्था में स्नेह नहीं मिलता उनका उचित विकास नहीं हो पाता।

शिशु का जीवन कल्पना (imagination) से पूर्ण होता है। उसमें कल्पना की इतनी अधिकता होती है कि शिशु प्रायः कल्पना तथा सत्य का अन्तर नहीं समझता, उसके लिए कल्पना सत्य बन जाती है। थार्नडाइक ने एक स्थान पर बताया है कि तीन से छः वर्ष तक के बच्चे प्रायः अर्द्ध स्वप्नों की दशा में रहा करते हैं जिनमें खेल की

कल्पना, अतीत की स्मृति एवं वास्तविकता का एक अद्भुत सम्मिश्रण होता है। छोटे बच्चे जो झूठ बोला करते हैं वह भी कभी-कभी इसी प्रबल कल्पना के कारण। बालक जो कल्पना-चित्र बनाता है वह उसे यथार्थ से भिन्न नहीं मान पाता। यथार्थ तथा कल्पित में जो भेद हम प्रौढ़ करते हैं, शिशु वैसा नहीं करता। जब वह अपनी कल्पना को यथार्थ बताता है, स्वयं उसे प्रत्यक्ष करने का दावा करता है, तो हम उसे झूठा कहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से वह झूठा हो सकता है परन्तु यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि बच्चे का उद्देश्य झूठ बोलने का नहीं भी हो सकता है, उसके कल्पना-चित्र, उसके अविकसित मस्तिष्क के लिए, उतने ही यथार्थ हैं जितना कि प्रत्यक्ष।

कल्पना का जीवन बालकों के लिये विशेष उपयोगिता रखता है। वास्तविक जीवन अनेक कष्टों, अतृप्त इच्छाओं एवं अभावों का जीवन है। उसमें पद-पद पर कठिनाइयाँ हैं, प्रवंचनायें हैं, क्रूरतायें हैं। वास्तविक कठोर जीवन से पीड़ित बालक एक कल्पना जगत् की सृष्टि करता है जो उसके अभावों की पूर्ति करता है। सौतेली माँ के कठोर व्यवहार के दुख को अच्छी परी के काल्पनिक स्नेह से पूरा करता है, वास्तविक कुत्ते की भयोत्पादक चीत्कार से डरनेवाला शिशु तकिया को कुत्ता कल्पित करके उसको सफलतापूर्वक दण्ड देता है। अपनी प्रतिरुद्ध भावनाओं का प्रकाशन तथा हीनता का निराकरण करने से उसका जी हलका हो जाता है।

शिशु में काम-वृत्ति का विकास नहीं हुआ रहता। प्रौढ़ों तथा शिशुओं में यह विशेष महत्व का भेद है। परन्तु क्या वह ठीक है कि शिशु में काम-भावना सर्वथा नहीं होती? प्राचीन का मत यही था। किन्तु मनोविश्लेषणवादियों का मत उनसे नहीं मिलता। उनका कहना है कि शिशु की काम-भावना बड़ी तीव्र होती है। उसके प्रकाशन का स्वरूप सामान्य प्रौढ़ के जैसा नहीं होता, पर होता है अवश्य। उन्होंने

बहुत अनुसंधान एवं मनन के बाद काम-भावना के विकास का स्वरूप निश्चित किया है और शिशुओं की काम-वृत्ति का विशद वर्णन किया है।

मनोविश्लेषणवादियों ने काम-भावना के विकास के चार स्तर बताये हैं। पहला स्तर स्वात्म-प्रेम (auto-erotism) कहलाता है। इस समय बच्चा अपने आप से प्रेम करता है। उसको नारसीसिज्म भी कहा गया है। ग्रीक पौराणिक आख्यायिका में नारसीसस नामक एक व्यक्ति झील में अपनी प्रतिच्छाया देखकर उसी के सौन्दर्य पर आसक्त हो गया था। इसी आख्यायिका के आधार पर अपने को ही काम-भाव से स्नेह करने वाला व्यक्ति नारसीसिस अथवा स्वात्म-प्रेमी (auto-erotic) कहलाता है। शुरू-शुरू में मानव-शिशु आत्म-प्रेमी होता है। थोड़े समय के पश्चात बालक की स्नेह-भावना अपने से हट कर, बाहर की ओर, चल पड़ती है। अब वह माता को प्रेम करने लगता है। माता उसको सब प्रकार से सुखी रखने की कोशिश करती है, उसकी सभी आवश्यकताओं एवं अभावों की पूर्ति करती है। ऐसी माता से स्नेह करना स्वाभाविक ही है। दो तीन वर्ष का छोटा बालक केवल माता को प्रेम ही नहीं करता, वह उसके प्रेम पर एकाधिकार करना चाहता है। फल वह होता है कि माता के अन्य सभी स्नेह-पात्र बालक की ईर्ष्या को उत्तेजित करने लगते हैं। पिता पर माता के प्रेम को देखकर वह पिता से भी ईर्ष्या करने लगता है। मौका पाकर वह पिता से विद्रोह करता है, उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करता है, अपनी क्षुद्र शक्ति को लेकर प्रायः प्रच्छन्नरूप से, और कभी-कभी प्रकट रूप से भी, उसका विरोध करता है। उसकी इस पितृ-विद्रोही भावना को 'एडीपस' कम्प्लेक्स कहा गया है। एडीपस एक ग्रीक पौराणिक नायक है जिसने बिना जाने अपने पिता का बध करके अपनी ही माता को पत्नी बनाया था। बालिका का

आचरण इससे उलटा होता है। वह पिता को स्नेह करती है और उस स्नेह में हिस्सा बटाने वाली अपनी माता से डाह रखती है। बालिका की यह भावना 'एलेक्ट्रा कम्प्लेक्स' कहलाती है। एलेक्ट्रा एक ग्रीक पौराणिक नायिका थी जिसने अपने भाई की सहायता से पिता की हत्याकारिणी अपनी ही माता की हत्या की थी। मनोविश्लेषण-वादियों का कहना है कि बालक का माता को तथा बालिका का पिता को प्रेम करना इस बात को सिद्ध करता है कि शिशुओं का प्रेम भी काममूलक है और भिन्न लिङ्गीय व्यक्ति के लिये ही है।

काम-भावना के विकास की तीसरी अवस्था स्वलिङ्गीय व्यक्ति से प्रेम करना होता है। इसे अंगरेजी में "होमोसेकशुल" प्रेम कहा जाता है। पाँच छ: वर्ष की आयु के बाद से किशोरावस्था के आरम्भ तक बालक तथा बालिकायें समान लिंगीय व्यक्ति से ही वासनामूलक प्रेम किया करती हैं। किशोरावस्था के आगमन से सामान्यत: काममूलक प्रेम भिन्नलिंगीय व्यक्तियों की ओर चला जाता है। जिस व्यक्ति का विकास ठीक-ठीक तथा स्वस्थ रूप से होता है उसमें अब से उचित, स्वाभाविक, भिन्नलिंगीय प्रेम आ जाता है। यदि विकास से कुछ गड़-बड़ी आ गई, किन्ही भावना-ग्रन्थियों के फल स्वरूप कोई प्रबल अवरोध आ गया, तो जब तक उसका निराकरण नहीं हो जाता विकास वहीं रुक जाता है। प्रौढ़ों में जो कभी-कभी स्वलिंगीय प्रेम का प्राबल्य पाया जाता है वह इसी अवरुद्ध विकास का परिणाम है।

अतएव छोटे बच्चों में आत्मप्रेम, स्वालिंगीय प्रेम तथा एडपस अथवा एलेक्ट्रा कम्प्लेक्स देख कर हमें उद्विग्न नहीं होना चाहिये। उनका होना ही स्वाभाविक है, उनका न होना अस्वाभाविक। बच्चे के स्वस्थ विकास में उनका भी एक समय है। यदि उन्हें जबर्दस्ती रोक कर स्थायी न बना दिया गया तो वे अपने आप ठीक हो जाते हैं। बच्चों के स्वाभाविक संवेगों को समझ कर हमें उसके साथ

सहानुभूति तथा स्नेह का बर्ताव करना चाहिये, स्वयं उत्तेजित होकर उन्हें और भी उद्विग्न नहीं बना देना चाहिये।

बाल्यावस्था (Childhood)—बालकों का विकास समान रूप से बराबर नहीं होता प्रत्युत पहले कुछ दिन तक विकास होता है फिर कुछ समय के लिये रुक जाता है। विकास के रुकने का समय भी व्यर्थ नहीं जाता ; इसमें पहले का अर्जित ज्ञान पचता है। वह पचना (consolidation) संस्कारों को पुष्ट बनाने के लिये परम आवश्यक है। तीन वर्ष तक बालक तेजी के साथ विकास करता है। फिर चौथे से छठे वर्ष तक अर्जित संस्कारों को पचाता है। उसके बाद नव वर्ष की आयु तक फिर तीव्र विकास का समय आता है और तब किशोरावस्था के आरम्भ तक के लिये रुक जाता है। बारह अथवा तेरह वर्ष की आयु में फिर काफी तेजी के साथ विकास होना शुरू होता है।

बाल्यावस्था का समय शैशव पश्चात् आता है। शैशव में बालक के लिये संसार नया होता है। उसके लिये समस्त परिस्थितियाँ अपरिचित होती है। उसका शरीर कोमल तथा बुद्धि अविकसित होती है। फलत: वह अन्य-आश्रित होता है। बाल्यावस्था में प्रवेश करते-करते वह पर्याप्त विकास कर चुकता है। उसका शरीर बढ़ता है, मस्तिष्क परिपक्व होने लगता है, संसार तथा उसको परिस्थितियों से उसका परिचय काफी घनिष्ठ हो चलता है। उसका रुचियों एवं इच्छाओं का स्वरूप प्राय: निश्चित हो जाता है, उन्हें पूरा करने की उसकी शक्ति बढ़ जाती है अतएव उसमें आत्म-विश्वास आ जाता है। शिशु अन्य-आश्रित होता है, बालक आत्म-निर्भर। प्राय: ६ अथवा १० वर्ष को आयु तक वह एक प्रकार से पूर्ण विकसित हो चुकता है। पूर्ण विकास की जो मात्रा उसके वन्य-पूर्वजों को प्राप्त थी उसका पूर्ण विकास बाल्य-काल में हो चुकता है। पुनरावृत्ति-सिद्धान्त के अनुसार अब तक बालक मानव-जाति के शैशव की

आवृत्ति कर चुकता है। इसके आगे का विकास उसकी सभ्य मानवता का विकास है, पूर्वकृत विकास का फिर से दुहराना नहीं। अत: जो आत्म-निर्भरता प्रौढ़ का लक्षण है उसी प्रकार की आत्म-निर्भरता प्राय: बाल्यकाल के उत्तरार्ध (late childhood) में पाई जाती है। इस समय उसका आत्म-विश्वास बढ़ जाता है अतएव रचना-वृत्ति भी प्रबल हो उठती है। कुतूहल वृत्ति तो मनुष्य में आजीवन रहती है परन्तु इस समय उसमें भी विशेष वेग रहता है।

बालक में सामाजिक भावना (gregariousness) का विकास होता है। शिशु यथासम्भव अपने क्षेत्र को सीमित रखता है। वह माता-पिता, भाई-बहिनों एवं अन्य निकट सम्बन्धियों तक ही अपने परिचय को केन्द्रित कर रखना चाहता है; उसे सामाजिक जीवन से प्रेम नहीं होता। इसके विपरीत बालक का जीवन प्राय: पूर्णरूपेण सामाजिक होता है। इस अवस्था के बालकों के विरुद्ध अभिभावकों की सबसे बड़ी शिकायत यही रहा करती है कि वे घर में किसी समय बैठते ही नहीं, अपने मित्रों से उन्हें कभी फुरसत ही नहीं मिलती। खाना, सोना आदि एकान्त अनिवार्य आवश्यकता की भी पूर्ति यदि बिना घर आये सम्भव हो सके तो कदाचित् वे घर आयें ही नहीं।

इस समय बालक केवल घर से बाहर, मित्रों के बीच में ही, समय नहीं बिताता प्रत्युत वह किसी 'समूह' का 'गिरोह' का, सदस्य भी बन जाता है। जिस समूह का वह सदस्य होता है उसके प्रति उसमें असीम श्रद्धा होती है। वह उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग कर सकता है। समूह के हित-साधन में वह झूठ बोलेगा, कष्ट उठावेगा, स्वयं अपमानित हो लेगा किन्तु समूह की मर्यादा भंग न होने देगा। समूह की दृष्टि में यदि उसका सम्मान बना रहे तो दूसरों के सम्मुख गौरव खोने की उसे कोई चिन्ता न होगी। वास्तव में उसकी चिन्ता का प्रधान विषय, उसका चरम लक्ष्य, इस समय समूह

हीं होता है। उसका आचरण 'समूह'-सम्मत विधि-निषेधों से ही नियंत्रित होता है। अतएव अभिभावकों एवं शिक्षकों का कर्तव्य है कि इस समय बालकों को वांछनीय समूहों का सदस्यता ग्रहण करने में सहायता दें। समूह से अलग रखने का प्रयास केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिप्रद भी होगा। यदि इस उम्र के बालक के किसी अवांछनीय आचरण का सुधार करना हो तो इस कार्य में समूह की काफी मदद ली जा सकती है। बालचर संस्था की उपयोगिता इन बालकों के लिए विशेष है। उसके द्वारा अनेक सामाजिक एवं नैतिक गुणों को विकसित एवं पुष्ट किया जा सकता है।

पहले बताया जा चुका है कि इस अवस्था के बालकों में स्वलिंगीय प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। बालक अपने साथी अन्य बालकों से तथा बालिका अन्य बालिकाओं से स्नेह करने लगती है। इस समय उनके लिए भिन्नलिङ्गीय व्यक्ति प्राय: कुछ भी आकर्षण नहीं रखता। गाढ़ मैत्री अथवा वासनात्मक संबंध आदि स्वलिंगीय व्यक्तियों से ही होता है। कभी-कभी लोग इससे घबराने लगते हैं। इस स्वाभाविक, और इसी लिये आवश्यक, विकास के सोपान में उन्हें कलियुग का प्रभाव दिखाई पड़ता है। मनोविज्ञान से अभिज्ञ अभिभावक एवं शिक्षक उससे सामान्यत: चिन्तित नहीं होता।

किशोरा वस्था (Adolescence)—किशोरावस्था बाल-विकास में विशेष महत्व रखती है। इसी समय बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास में एक क्रान्ति सी आ जाती है। वह अपनी धमनियों में एक नवीन शक्ति, एक अभूत-पूर्व स्फूर्ति, को प्रवाहित होते पाता है। नवीन इच्छायें, नवीन अभिलाषायें, नवीन वासनायें उठ-उठकर उसके हृदय तथा मस्तिष्क को भर सा देती हैं, अज्ञात प्रेरणायें उसके मानस को मथने सा लगती हैं। बालक तथा बालिकाओं में प्रौढ़ता-सूचन चिन्हों का उदय होना आरम्भ होता है। शारीरिक लिंगगत

भेद स्पष्ट होने लगते हैं। जननेन्द्रियों का विकास एवं शुक्र-रज का उत्पादन इसी समय से आरम्भ होता है। अतएव शक्ति के एक नव विद्युत्प्रवाह से उनका शरीर भी आन्दोलित होने लगता है। कुछ समय के लिये किशोर इस आकस्मिक परिवर्तन से अभिभूत सा हो जाते हैं। एक अज्ञात, अस्पष्ट, अपूर्व अनुभूति से दोलायमान उनके मानस उन्हीं के लिये एक समस्या बन जाते हैं।

किशोरावस्था में सबसे बड़ा परिवर्तन शरीरिक विकास में होता है। कद, वजन, शक्ति आदि में बड़ी शीघ्रता से वृद्धि होने लगती है। लड़कियों की वृद्धि लड़कों से कुछ पहले होती है। चाल, मुखाकृति, आवाज आदि में लिंगगत विशेषता स्पष्ट हो उठती है।

इस अवस्था की दूसरी विशेषता काम-भावना का विकास है। भिन्न-लिङ्गीय प्रेम करने में बालक-बालिकायें विशेष तृप्ति की अनुभूति करने लगते हैं। आरम्भ में प्राय: देखा गया है, बालक अपने से बहुत अधिक अवस्था की किसी स्त्री को प्रेम करता है। यह सम्भवत: एडीपस कमप्लेक्स की ही अस्तोन्मुख अवस्था है जिस प्राप्त-वयस्का महिला में वह अपने प्रेम को स्थापित करता है। उसे माता का ही प्रतिनिधि अज्ञात रूप से वह बना लेता है। तन-मन-धन से वह उसी का हो जाता है। वह उसकी भक्ति करता है, सम्मान करता है; उसे प्रसन्न करने के लिये वह बहुत श्रम तथा त्याग करने को तैयार रहता है। उसका यह प्रेम 'वत्स प्रेम' (calf-love) कहलाता है। इस प्रेम का यदि तिरस्कार किया जाता है—और अनजाने ऐसा हो जाना ही अधिक सम्भव है—तो उसे महान् कष्ट होता है। स्वभावत: लज्जाशील किशोर कुछ कहता तो नहीं, भीतर ही भीतर घुलने लगता है। उसका विकास रुक जाता है, वह निराशावादी तथा हतोत्साह हो जाता है। उसमें हीनता की भावना का भी प्रादुर्भाव हो सकता है। अतएव उसके स्वस्थ विकास की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि इस

समय बालक की स्नेहपात्री उससे कोमल, सहानुभूतिपूर्ण, व्यवहार करे। इससे उसका बहुत उपकार हो सकता है।

काम-वृत्ति का विकास इस अवस्था के बालकों में अनेक समस्यायें उत्पन्न कर देता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि समाज कामवृत्ति का दमन बड़ी प्रबलता के साथ करता है। इस सम्बन्ध की चर्चा भी वर्जित है। प्रथम यौवन उद्दाम गति से उसे उत्तेजित करता है। दूसरी तरफ़ उस सम्बन्ध की चर्चा भी पाप कह कर बन्द कर दी जाती है। फल यह होता है कि बालक हीन-चरित्र समवयस्कों से ही इस सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है। वह कभी-कभी अनेक प्रकार के दुराचरणों का शिकार भी हो जाता है। दुराचरण से बचाने के सदुद्देश्य से बालकों को हम भय दिखाते हैं। यह भय दुराचरण से बालक को रोक तो नहीं पाता, हाँ कुछ जटिलताओं में और फँसा देता है। यह भय कभी-कभी घातक रोगों को जन्म देकर बहुत बड़ा हानि करता है। अतएव इतनी अधिक रोक-थाम, इतना अधिक अतिशयोक्तिपूर्ण एवं प्रायः काल्पनिक भय-प्रदर्शन भी, नहीं करना चाहिये। काम-विज्ञान की आवश्यक बातों का ज्ञान किशोरों को देना आवश्यक है। उनकी काम-सम्बन्धी दिक्कतों को समवेदना पूर्वक सुनना चाहिये एवं उन्हें उचित परामर्श देने का प्रबन्ध करना चाहिये। भिन्न-लिंगीय व्यक्तियों से मिलने के लिये वे बिलकुल स्वतंत्र भले ही न कर दिये जाँय, किन्तु उनसे मिलने का, उनके निकट सम्पर्क में आने का अवश्य ही उनहें अधिक अवसर देना चाहिये। इससे उनका विकास अधिक बांछनीय, अधिक स्वस्थ, अधिक पूर्ण होगा। इसके अलावा उनकी अतिरिक्त काम-शक्ति के समुचित निष्कासन के लिये श्रमसाध्य खेलों तथा काव्य एवं अन्य ललित कलाओं के द्वारा आत्म-प्रकाशन का प्रबन्ध भी होना चाहिये।

किशोरावस्था की एक और विशेषता होती है। शिशु की तरह

किशोर भी अस्थिर -मति हो जाता है। जिस प्रकार के जीवन का उसने अब तक अनुभव किया था, जिसकी विज्ञता प्राप्त कर उसने आत्म-विश्वास प्राप्त किया था वह पीछे ही छूट गया है। उसे अचानक एक नवीन देश में प्रवेश करना पड़ा है। जिन परिस्थितियों का सामना उसे अब करना पड़ रहा है वे उसके लिये नई हैं, अतएव अतीत का अनुभव विशेष सहायता नहीं करता। किशोर का बौद्धिक विकास बालक की अपेक्षा ऊँचे स्तर का होता है। वह बालकों के बीच में प्रसन्न नहीं रह सकता। उनकी इच्छायें, अभिलाषायें आदि उसे बहुत ही निम्नस्तर की मालूम पड़ती हैं। प्रौढ़ों को वह अपनी बुद्धि तथा क्षमता से प्रभावित करना चाहता है परन्तु वे बच्चा समझ कर प्रायः उसकी उपेक्षा करते हैं। इससे उसके आत्मगौरव की भावना को चोट पहुँचती है। इन उपेक्षा करने वाले व्यक्तियों के विरोध करने का वह भीतर ही भीतर निश्चय कर लेता है। विविध प्रकार से वह इस उपेक्षा का शोध लेता है। अतएव किशोरों के सम्यक् विकास के लिये सहानभूति तथा आदर का व्यवहार नितान्त आवश्यक है।

शिशु की तरह किशोर भी काल्पनिक जगत की सृष्टि करके वास्तविक जगत की कठोरताओं एवं निराशाओं से अपनी रक्षा करता है। उसे स्नेह चाहिये, सम्मान चाहिये, और न जाने क्या-क्या चाहिये। दुनियाँ में यह सब उपलब्ध नहीं। इसके स्थान में उसे मिलता है पद-पद पर नैराश्य, कदम-कदम पर नाकामयाबी। तब वह काल्पनिक सफलता से ही अपनी तुष्ट करता है। बाह्य-जगत में दिलचस्पी लेने वाला बालक फिर क्रमशः अन्तर्जगत में ही रहने लगता है, कठोर, ठोस वास्तविकता से हट कर वह विचारों तथा कल्पनाओं में ही रम जाता है।

कल्पना के ही साथ उसमें भावनाओं का भी प्राबल्य रहता है।

वह अनेक प्रकार के उच्च आदर्शों की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। अतएव किशोर की अवस्था धर्म में बढ़ जाती है। वह आसानी से ही धार्मिक आदर्शों से प्रभावित किया जा सकता है। दुनियाँ के बहुतेरे प्रसिद्ध धर्म-सुधारकों ने किशोरावस्था में ही धार्मिक जीवन का व्रत लिया था। शिशु की ही भांति किशोर भी अन्य-आश्रित होता है। ईश्वर को माता-पिता का प्रतिनिधि मानकर वह अनेक परिस्थितियों में अपने को ईश्वर की संरक्षकता में वैसे ही छोड़ देता है जैसे शिशु अपने को अभिभावक की संरक्षकता में। किशोर की कोमल भावनाओं को बड़ी आसनी से प्रभावित किया जा सकता है। परन्तु हमें बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये और उसकी कमजोरी का लाभ नहीं उठाना चाहिये। जहाँ तक हो सके हमें उसकी भावनाओं का उपयोग उसी के हित में करना चाहिये।

हम कह चुके हैं कि किशोर आदर्श का उपासक होता है। वह आदर्शों की चरम गति ईश्वर एवं उसकी प्रतिपादक धर्म-भावना का पुजारी तो होता ही है, उसके अतिरिक्त भावुकता के प्रवाह में किसी भी विशिष्ट गुणशाली व्यक्ति का भक्त बन जाता है। धार्मिक होने के साथ साथ वह वीर-पूजक भी होता है। सिनेमा की अभिनेत्रियाँ अच्छे वक्ता, कुशल खिलाड़ी कोई भी उसके भावुक हृदय को आकृष्ट कर सकता है। हमको चाहिये कि किशोरों की इस विशेषता से लाभ उठावें। उनमें श्रेष्ठ आदर्शों, उच्च चरित्र, एवं उदात्त वृत्तियों के प्रति प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न करके समाज का तथा उनका उपकार कर, उनकी कोमलता का अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये दुरुपयोग न करें। प्रबल भावुकता के इस काल में उन पर जो संस्कार पड़ते हैं वे अमिट हो जाते हैं। अतएव अनुकरणीय गुणों को उनमें भर कर हम उदार-चेता, महामना नागरिक का निर्माण कर हकते।

किशोरावस्था का शिक्षा में विशिष्ट स्थान है। स्कूलों के छात्रों में

अधिक संख्यक बालक इसी अवस्था के रहते हैं। यदि उनका पथ प्रदर्शन उचित रूप से किया जा सके, यदि शिक्षक अपनी समस्त उदार तथा संकीर्ण स्वार्थ भावनाओं का परित्याग करके, केवल मात्र विद्यार्थियों की हित-कामना से प्रेरित होकर उनकी शक्ति तथा कोमलता, उनकी काल्पनिकता तथा आदर्शवादिता, उनकी काम-वृत्ति तथा वीर-पूजा का उपयोग उन्हीं के वांछनीय विकास के लिये करें तो शीघ्र ही हमारा समाज उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

सारांश—मानव-विकास के चार सोपान माने जाते हैं, जन्म से पांच या छः वर्ष तक शैशवावस्था; छठे से ग्यारहवें अथवा बारहवें तक बाल्यावस्था; बारहवें से अठारह उन्नीस वर्ष तक किशोरावस्था एवं तदुपरांत प्रौढ़ावस्था।

विकास के सम्बन्ध में दो सिद्धान्तों का प्रचार है, एक तो क्रमिक विकास का सिद्धान्त तथा दूसरा सम विकास का सिद्धान्त। पहले मत से मनुष्य के गुणों का क्रम से, एक के बाद दूसरे का विकास होता है। दूसरा सिद्धान्त सभी शक्तियों का उदय एक साथ मानता है, केवल उनकी अपेक्षाकृत प्रबलता में अन्तर स्वीकार करता है। आधुनिक मनोविज्ञान में दूसरे पक्ष के समर्थकों का ही बहुमत है।

शैशवावस्था मूल-प्रवृत्ति-प्रधान आचरण की अवस्था है। अभी तक बालक में मूल-प्रवृत्ति को दमन करने की क्षमता नहीं होती। उसका जीवन अन्य-आश्रित होता है, उसमें कल्पना का प्राबल्य होता है, यथार्थ जीवन की कठोरता को वह काल्पनिक सौभाग्य से पूरा करता है, उसकी काम-भावना आरम्भ में स्वात्म-प्रेम की होती है। बाद में वह एडीपस तथा एलेकट्रा कम्प्लेक्स में बदल जाती है।

बाल्यावस्था में बालक आत्मनिर्भरता सीख लेता है; इस समय उसमें कुतूहल एवं रचनावृत्ति की प्रबलता होती है; सामाजिक भावना का विकास होता है, उसका जीवन, घर से बाहर किसी सामाजिक

समूह में बीतता है, और उस समूह के लिये वह श्रम तथा त्याग करने को सदा प्रस्तुत रहता है; इस अवस्था में उनकी कामवृत्ति का विकास स्वलिंगीय प्रेम में होती है।

किशोरावस्था घोर शारीरिक क्रान्ति का काल है। कद, वजन आदि में आश्चर्यजनक वृद्धि होती है, जननेन्द्रियों का विकास होता है, और इसी के फलस्वरूप किशोर नूतन शक्ति तथा नवीन इच्छाओं एवं अभावों की अनुभूति करता है। इसी समय उसमें भिन्नलिङ्गीय काम-भावना का प्रबल उद्रेक होता है। आरम्भ में वह अपने से अधिक अवस्था की महिला को प्रेम करता है। उससे तिरस्कृति होने पर उसे गहरी चोट लगती है। उसकी हानि भी हो सकती है। अतएव उसके साथ सहानुभूति एवं कोमलता का व्यवहार ही करना चाहिये। कामवृत्ति का तीव्रता से विकास एवं काम-सम्बन्धी चर्चा पर प्रवल प्रतिबन्ध होने के कारण कभी कभी किशोर बालक दुराचरण के शिकार हो जाते हैं। अत: किशोर को कामविज्ञान की समुचित शिक्षा देने का उचित प्रबन्ध करना चाहिये एवं उन्हें भिन्नलिंगीय व्यक्तियों से मिलने का काफी अवसर देना चाहिये। किशोर भी शिशु की तरह अस्थिरमति एवं आत्म-विश्वासहीन होता है। उसमें आत्म-गौरव की भावना बहुत होती है। हमें उसका सम्मान करना चाहिये। उसमें कल्पना का प्राबल्य होता है; उसमें उच्च भावना एवं श्रेष्ठ आदर्शों के लिये बहुत स्नेह होता है; वह वीर-पूजक होता है, एवं धर्म-भावना से अत्यधिक प्रभावित रहता है। यदि स्नेह, कोमलता, तथा स्वार्थहीन उपकार-भावना से काम लिया जाय तो उसे अनुकरणीय नागरिक बनाया जा सकता है।

प्रश्न

(१) बाल्यावस्था से किशोरावस्था में पहुँचने वाले बालक में कौन

सी मनोवैज्ञानिक विशेषतायें आ जाती हैं? शिक्षा की दृष्टि से किशोरावस्था का क्या महत्व है?

(२) ६ से १२ वर्ष तक की आयु के औसत बच्चों की मानसिक एवं संवेगात्मक विशेषतायें क्या होती हैं? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये कि आधुनिक शिक्षा-शास्त्र एवं शिक्षण-पद्धति इसका क्या ध्यान रखते हैं।

(३) किशोर (adolescent) की बौद्धिक एवं संवेगात्मक (emotional) विशेषताओं का उल्लेख कीजिए तथा बताइये कि आप उसके प्रति कैसा आचरण करेंगे जिससे उसका विकास उचित रूपेण हो सके।

(४) बालक की शारीरिक एवं मानसिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। डा० जोन्स के इस कथन के समर्थन में आप क्या प्रमाण दे सकते हैं कि "बाद वाली दोनों अवस्थायें पहली दोनों अवस्थाओं की पुनरावृत्ति मात्र हैं?"

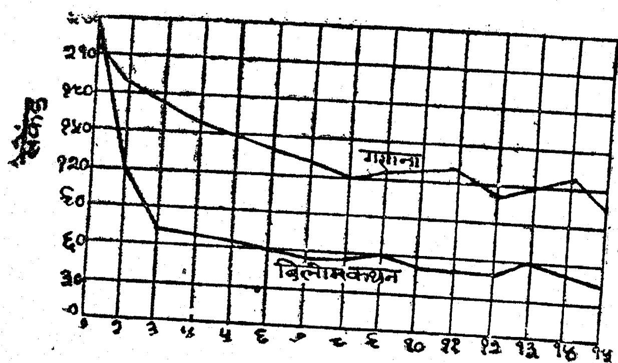
सीखना

(Learning)

सीखना—जड़ तथा चेतन का भेद स्पष्ट करते समय हम देख चुके हैं कि जड़ पदार्थ में अपने अनुभव से लाभ उठाने की शक्ति नहीं होती, प्राणियों में होती है। इस अनुभव से लाभ उठाने को ही सीखना कहते हैं। बच्चे को चमकता हुआ दीपक सुन्दर लगता है। वह उसे पकड़कर अपने निकट रखना चाहता है। जैसे ही वह उसे पकड़ने को हाथ बढ़ाता है, उसे अपनी भूल मालूम पड़ती है। वह जल जाता है। प्रत्याशित आनन्द के स्थान में उसे पीड़ा मिलती है। शीघ्र ही वह हाथ खींच लेता है। भविष्य में जलते हुये चिराग़ को देखकर वह उसे पकड़ लेने की कोशिश नहीं करता। एक बार भूल करके एवं कष्ट उठाकर उसने अपने आचरण को परिवर्तित कर लिया है, जलते हुये चिराग से बचे रहने का सबक सीख लिया है। जड़ पदार्थ में वह सम्भव नहीं।

शिक्षा देना तथा सिखाना समानार्थक शब्द हैं। अतएव शिक्षकों को उन नियमों को भली भाँति जान लेना चाहिये, जिनके आधार पर मनुष्य सीखता' है। सफल होने के लिए उसे अपने कार्य को सीखने के स्वाभाविक नियमों पर ही आधारित करना चाहिये।

सीखने के प्रकार—पशुओं पर सीखने के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं। पशुओं की सीखने की प्रक्रिया का बड़े श्रम तथा उद्योग के साथ अध्ययन किया गया है। अत: पशुओं की सीखने की पद्धति के सम्बन्ध में बहुत कुछ पता लग चुका है। मानव शिशु एवं पशुओं में सीखने की प्रक्रिया बहुत कुछ एक सी ही होती



सीखने के रेखाचित्र

इसमें दो प्रकार की क्रियाओं की सीखनें में प्रगति चित्रित की गई है। एक ओर समय दिखाया गया है और दूसरी ओर प्रयासों का क्रम। प्रथम प्रयास में सबसे अधिक समय लगा जो बाद में क्रमशः कम होता गया है। बीच में पठार के आजाने से समय घटने के बजाय बढ़ गया है।

है। अतएव पशुओं पर किये गये प्रयोग बालकों के सम्बन्ध में भी ठीक ही उतरते हैं। उनका तथा मनुष्यों पर किये गये अन्य स्वतंत्र प्रयोगों का संक्षिप्त वर्णन करके हम उन्हीं पर आधारित कुछ सामान्य निष्कर्षों का परिचय यहाँ पर देंगे।

प्रयत्न तथा भूल के द्वारा सीखना—(Learning by Trial and Error)—पशु अथवा मानव शिशु अधिकतर प्रयत्न तथा भूल के द्वारा ही सीखता है। वह किसी काम को करने का प्रयास करता है। आरम्भ में मनोवांछित सफलता नहीं मिलती। कुछ न कुछ भूल हो जाती है। वह फिर से प्रयत्न करता है। इस बार पहले बार की भूल को दुहराता नहीं। बार बार प्रयत्न करके, क्रमशः सभी भूलों का शोध कर लेता है और तमाम काम ठीक-ठीक होने लगता है। जैसे जैसे अभ्यास बढ़ता है भूलों की संख्या कम होती जाती है। इस संबंध में लायड मार्गन ने अपने कुत्ते पर एक प्रयोग किया था। कुत्ता एक बन्द बाड़े में रखा गया। बाड़े के चारों ओर लोहे के सींखचे लगे हुये थे। उन्हीं सींखचों के बीच में एक स्थान पर एक चटख़नी थी। कुत्ते को बाहर निकलने की इच्छा हुई। उसने सींखचों के बीच में मुँह डाल-डाल कर बहुत प्रयत्न किया। एक स्थान पर असफल होने पर दूसरी जगह कोशिश की। अन्त में एक बार उसका मुँह चटखनी से टकराया और दरवाज़ा खुल गया। वह बाहर निकल आया। उसके बाद दुबारा उसी परिस्थिति में रखा जाने पर वह सीधा चटख़नी के पास पहुँच कर बाहर निकल आया, पहले वाली भूलों को बराबर दुहराता नहीं रहा। वंशानुक्रम का अध्ययन करते समय हमने मैकडूगल का चूहों पर किया गया एक प्रयोग पढ़ा था। पानी में पड़े चूहे बाहर निकलने की कोशिश में कभी अँधेरे मार्ग को चुनते थे तथा कभी प्रकाशयुक्त मार्ग को। एक में बिजली का धक्का लगता था। अतः चूहा लौट कर दूसरे मार्ग से जाता था। अनेक बार गलती करके

चूहों ने ठीक रास्ते से ही निकलना सीख लिया। गलतियाँ क्रमशः कम होती गई और अन्त में ठीक प्रतिक्रिया बिना गलती के ही होने लगी। इन प्रयोगों से स्पष्ट पता चलता है कि प्रयत्न तथा भूल के द्वारा पशु किसी काम को करना सीखता है। मनुष्यों के आचरण में भी यही बात दिखाई पड़ती है। जब बच्चा लिखना सीखना शुरू करता है तो बहुत गलतियाँ करता है। अभ्यास के बाद गलतियाँ कम होती जाती हैं। टाइप सीखने का अभ्यासी छात्र पहले बहुत गलतियाँ करता है। छापना कोई अक्षर चाहता है, उँगली किसी दूसरे अक्षर पर पड़ती है। अनेक प्रयत्नों एवं भूलों के पश्चात् वह ठीक छापना सीख जाता है। अतएव प्रयत्न तथा भूल करके सीखने का नियम पशुओं तथा मनुष्यों की सीखने की क्रिया में बहुत अधिक देखने में आता है।

अनुकरण के द्वारा सीखना (Learning by Imitation)—प्रयत्न तथा भूलवाला नियम बहुत अधिक प्रयुक्त होता है परन्तु सीखने में सदा उसी का प्रयोग नहीं होता। अनेक काम लोग अनुकरण करके भी सीख लेते हैं। सीखचे में बन्द कुत्ते के स्थान में यदि हम मानव-शिशु को रख दें और एक बार स्वयं उसके सामने चटख़नी खोलकर बाहर निकलें तो आवश्यकता पड़ने पर वह बालक सीधा चटख़नी के पास जायगा। सारे घेरे में चक्कर काटता मारा-मारा न फिरेगा। वह अनुकरण से लाभ उठावेगा। कुत्ता खोलने के ढंग को देखकर ही खोलना नहीं सीख सकता था, मानव-शिशु सीख लेता है। किन्तु क्या पशु अनुकरण के द्वारा कुछ भी नहीं सीखता? बन्दर का अनुकरण तो प्रसिद्ध ही है तथा कुछ चिड़ियों में मानव-भाषा को बहुत अच्छी तरह अनुकरण करने की शक्ति पाई जाती है। हाँ, इतना ठीक है कि मनुष्यों की तरह प्रत्येक क्षेत्र में उतना अधिक अनुकरण वह नहीं कर सकता।

सूझ के द्वारा सीखना (Learning by Insight)।

सीखने का एक और तरीका 'सूझ के द्वारा सीखना' है। अभ्यास तथा अनुकरण के द्वारा जो बात सीखी जाती है उसे सूझ से हीन स्तर का समझा जाता है। सूझ अथवा विचार के द्वारा सीखना मुख्यत: मनुष्यों में ही सम्भव है। प्यासा व्यक्ति जब कुँए से पानी निकालने का प्रयास करने पर अपनी रस्सी को छोटा पाता है तो उसमें रस्सी के दूसरे टुकड़ों को जोड़ कर तथा उनके भी अभाव में धोती आदि कपड़े जोड़ कर, रस्सी को बड़ा करके अपना काम निकालता है। इस प्रकार के उपायों की उद्भावना 'सूझ' कहलाती है। निम्न कोटि के पशुओं में यह बिलकुल नहीं होती और यद्यपि कुछ लोगों का ख्याल है कि वह मनुष्य की ही विशेषता है परन्तु चिंपांजी पर किये गये एक प्रयोग से सिद्ध होता है कि उनमें भी सूझ होती है एवं आवश्यकता पड़ने पर वे उसका उपयोग भी करते हैं। एक चिंपांजी को पिजड़े में बन्द कर दिया गया और बाहर थोड़ी दूर पर एक केला रखा गया। चिंपांजी का हाथ केले तक नहीं पहुँच सकता था। इसके पिंजड़े के भीतर दो बाँस डाल दिये गये। दोनों बाँस इतने छोटे थे कि उसमें से कोई भी अकेला फल तक नहीं पहुँच सकता था। बाँस ऐसे थे कि एक बाँस दूसरे में, पहले से ही किये हुये एक छिद्र में, डाल कर जोड़ा जा सकता था। चिंपांजी उन बाँसों को लेकर बहुत देर तक केले तक पहुँचने का प्रयत्न करता रहा। अन्त मे असफल होकर उसने प्रयत्न करना बन्द कर दिया। फिर वह उन बाँस के टुकड़ों को लेकर खेलने लगा। खेलते खेलते एक बार बाँस का टुकड़ा दूसरे बाँस के छिद्र में जाकर फँस गया। चिंपांजी ने इस लम्बे बाँस को देखकर केला खींचने का प्रयास किया। भली भाँति जुड़े न रहने के कारण वे बाँस फिर अलग हो गये। अब चिंपांजी ने उन टुकड़ों को लेकर अच्छी तरह जोड़ा और तब केले को खींच लिया। दूसरे दिन जब चिंपांजी को फिर उसी परिस्थिति में रखा गया तो एक आध बार भूल करने के

बाद शीघ्र उसने पहले तरीके का उपयोग करके फल खींच लिया। अतएव यद्यपि 'सूझ' के द्वारा सीखना कभी-कभी उच्चतम श्रेणी के पशुओं में भी पाया जाता है परन्तु विशेषतया वह मनुष्यों का ही गुण है। और मनुष्यों की इस विशेषता का विकास शिक्षक को करना चाहिये। 'प्रयत्न तथा भूल' अथवा अन्धानुकरण पर अधिक जोर देना बच्चों के विकास को रोकना है। उनमें विचार तथा सूझ को विकसित करना शिक्षा का प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

सीखने का नियम—थार्नडायक प्रयत्न तथा भूल के द्वारा सीखने को ही प्रधानता देता है। उसका कहना है कि सीखने के दूसरे तरीकों के मूल में भी प्रयत्न तथा भूल की ही पद्धति का अनुसरण करना निहित रहता है। उसने सीखने के कुछ नियमों को बताया है। उनमें यह समझाने का प्रयत्न किया है कि हम कोई बात कैसे सीख जाते हैं। सीखने की क्रिया में कौन सी विशेषता होती है जो उसके संस्कार को हमारे मस्तिष्क पर स्थायी बना देती है। वे नियम तीन हैं—अभ्यास का नियम (law of Exercise), परिणाम का नियम (Law of Effect) तथा तत्परता का नियम (Law of Readiness)।

अभ्यास का नियम (Law of Exercise)—आदत का वर्णन करते समय हम बता चुके हैं कि जिस काम को हम जितनी ही बार दुहराते हैं वह उतनी ही अधिक दृढ़ता के साथ हमारे मन पर बैठता जाता है, उसका करना हमारे लिए उतना ही अधिक आसान हो जाता है, तथा उसे उतनी ही अधिक कुशलता एवं शीघ्रता के साथ हम करने लगते हैं। यही सीखना है। सीखने में अभ्यास की बड़ी आवश्यकता होती है। बिना अभ्यास के कुछ नहीं सीखा जा सकता। जिस काम का अभ्यास हमें करना पड़ेगा—उसे सीखने का उद्देश्य अथवा इच्छा हमारी हो चाहे न हो—उसे हम अवश्य सीख जाएँगे। अतएव जो चीज हमें बच्चों को सिखाना है उसका अभ्यास कराना

चाहिए। पहाड़े, कविता, विज्ञान के नियम आदि जो कुछ भी हमें बच्चों को सिखाना है उसे बार-बार अनेक प्रकार से अभ्यस्त कराना होगा। गलती करने का यथासम्भव अवसर नहीं देना चाहिए, हो जाने पर शीघ्रातिशीघ्र उसे सुधार देना चाहिए। एक बार की भूल एक गलत संस्कार मस्तिष्क पर छोड़ जाती है। दुबारा उस भूल के होने की सम्भावना बढ़ जाती है। बात सही हो अथवा गलत जिसका जितना ही अधिक अभ्यास किया जायगा वह उतनी ही दृढ़ होती जायगी, उसे उतने ही निश्चय के साथ हम सीख लेंगे।

परिणाम का नियम (Law of Effect)—उपर्युक्त अभ्यास का नियम सत्य तो है परन्तु वह सत्य के केवल एक पहलू को लेता है, वह एकांगी है, अर्द्धसत्य है। उसी का पूरक 'परिणाम का नियम' है। हम किसी काम को बार-बार करने से सीखते हैं परन्तु ऐसे काम को और भी जल्दी सीखते हैं जिसका परिणाम हमें सन्तोष देता है। जिस काम का परिणाम असन्तोषकर होता है उसे बार-बार करके भी हम नहीं सीखते। अभी हमने मैकडूगल के चूहों पर किए गए प्रयोग का जिक्र किया था। उन चूहों ने प्रकाशयुक्त मार्ग से ही निकलने का प्रयत्न अधिक बार किया था। किन्तु बिजली का धक्का लगने से उन्हें जो असन्तोष हुआ उसके कारण अन्त में उन्होंने उस ओर से निकलना नहीं सीखा। पशु-शिक्षक पशुओं को सिखाते समय इस नियम को बहुत उपयोग में लाते हैं। किसी बात को सही-सही कर लेने पर उन्हें कुछ खाना दिया जाता है, भूल होने पर दण्ड मिलता है। परिणाम के नियम के अनुसार सन्तोष-कर क्रियायें स्थायी बन जाती हैं एवं असंतोष-कर क्रियाओं का परित्याग कर दिया जाता है। बालकों को शिक्षा देने, दण्ड एवं पारितोषिक देने का नियम इसी बात का निदर्शक है। तिरस्कार, प्रशंसा तथा अक्सर केवल कुछ नम्बर देकर हम परिणाम के नियम का यथेच्छ उपयोग कर सकते हैं।

तत्परता का नियम (Law of Readiness)—तत्परता का नियम यह है कि जिस काम के लिए हम पहले से तैयार हैं, जिसमें हमारी रुचि है, जिसको सीखने के लिये हम उत्सुक हैं उसे हम आसानी से सीख जाते हैं। उसके विपरीत जिस बात से हम तटस्थता का अनुभव करते हैं अथवा जिसमें हमारी रुचि नहीं है या जिससे हमारा विरोध है उसे हम प्रायः नहीं सीख पाते। नवीन शिक्षा-पद्धतियों में पाठ पढ़ाने से पहले विद्यार्थियों को जो पाठ के लिये तैयार किया जाता है, उनकी रुचि अथवा कुतूहल को जाग्रत करने का जो प्रयास किया जाता है, वह इसी नियम के अनुरोध से। इच्छा न रहने पर भी तीखी औषधि की तरह विद्या का जो कड़ुवा घूंट पिलाने का उद्योग किया जाता है उसका परिणाम उलटा ही होता है। उसके विरोध में प्रकट तथा प्रच्छन्न प्रतिक्रिया बालक आरम्भ कर देता है और अन्ततः उस शिक्षा से कोई लाभ नहीं होता। अतएव शिक्षकों को चाहिये कि कुछ भी सिखाने से पहले बालकों को आने वाले पाठ के लिये तैयार करें; उसके लिये उचित वातावरण की सृष्टि करें, उत्सुकता एवं रुचि को उत्पन्न करें। ऐसा न होने से वांछित फल नहीं हो सकता।

सीखने के पठार—जब हम कुछ सीखते हैं तो थोड़े समय तक हमें उसमें काफी सफलता मिलती है, श्रम तथा समय जिस मात्रा में व्यय किया जाता है हमारी उन्नति उसी परिमाण में होती चलती है। परन्तु कुछ समय के बाद देखते हैं कि गति रुक-सी गई है, श्रम का उचित पुरस्कार नहीं मिल रहा है। कुछ समय तक यही दशा रहती है। उसके बाद हम यथापूर्व, एवं कभी-कभी उससे भी अधिक, वेग के साथ उन्नति करने लगते हैं। उन्नति के इस रुक जाने को पठार (plateau) कहा गया है। पठार जिस प्रकार विषम-स्थल, ऊँचा नीचा स्थान, होने के कारण किसी व्यक्ति की गति को मन्द अथवा रुद्ध कर देता है वैसे ही ये पठार सीखने की गति के अवरोधक होते

हैं। इन पठारों का आना आवश्यक तो नहीं है, कभी-कभी तथा किसी किसी व्यक्ति में सीखने की क्रिया निर्वाध गति से बराबर चला करती है; परन्तु अधिकतर पठार आते ही हैं। उनका आना ही स्वाभाविक है, न आना अपवाद ही कहा जायगा।

ये पठार विद्यार्थी को हतोत्साह कर देते हैं। कभी-कभी शिक्षक एवं अभिभावक भी घबराने लगते हैं। इसमें व्यग्र होने की कोई आवश्यकता नहीं। प्राय: इस निरुद्ध गति का कारण अर्जित ज्ञान का पचना ही होता है। पूर्वार्जित ज्ञान अथवा कुशलता को भली भाँति बिना पचाये आगे बढ़ना न तो सम्भव ही है और न उचित ही। बिना-पचा ज्ञान आगे चल कर बहुत गड़बड़ी कर सकता है। अतएव उसका पचना (consolidation) विद्यार्थी के हित में ही होता है। किन्तु फिर भी हमें इन पठारों की ओर से बिलकुल लापरवाह भी नहीं हो जाना चाहिए। आपातत: वे उन्नति के बाधक हैं और उनके कारण भी कई प्रकार के हो सकते हैं। अत: अध्यापक का कर्तव्य है कि वह पठार के आने पर उसके कारण का अनुसन्धान करे तथा यथा-सम्भव उसके दूर करने का प्रयत्न करे।

हालिंगवर्थ अपने 'शिक्षा-मनोविज्ञान' में इन पठारों के सम्बन्ध में लिखता है—"पठारों के कई अर्थ हो सकते हैं। उनका एक अर्थ यह हो सकता है कि विद्यार्थी ने, इस समय, उचित श्रम करना बन्द कर दिया है; अथवा उसने ऐसी पद्धति को अपनाया है, जिसके द्वारा और अधिक उन्नति नहीं की जा सकती, उसकी उन्नति के लिये नवीन पद्धति का अनुसरण आवश्यक है, बिना उसके उन्नति सम्भव नहीं; पठारों का यह भी अर्थ हो सकता है कि छात्र निरुत्साह है, अथवा उसकी प्रेरणा की तीव्रता में कमी आगई है; उनका यह भी अर्थ हो सकता है कि उन्नति हो तो रही है पर कुछ इस तरह से हो रही है कि उसको स्पष्ट रूप में नापा नहीं जा सकता।"

पठार पर आकर उन्नति के रुक जाने के, गति के अवरोध के, तीन मुख्य प्रकार हो सकते हैं :—(१) ज्ञानावरोध, (२) उत्साहावरोध, (३) शारीरिक क्षमतावरोध।

ज्ञानावरोध (knowledge limit)—ज्ञानावरोध किसी भी कौशल की उस सीमा को कहते हैं जिस तक कोई व्यक्ति किसी विशेष पद्धति का अनुकरण करके पहुँच सकता है। अक्षरों को देख-देख कर टाइप करनेवाले व्यक्ति को एक सीमा तक पहुँच कर रुक जाना होगा; टाइप करने में उससे अधिक गति उसकी नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरी पद्धति का का उसे ज्ञान नहीं, और वह प्रयुक्त पद्धति की उच्चतम कुशलता प्राप्त कर चुका है। यदि इस पठार का अतिक्रमण करना अभीष्ट हो तो हमें देख कर नहीं,छूकर टाइप करने का अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास हो जाने पर उससे काफी उन्नति हो सकेगी।

उत्साहावरोध (motivation limit)—ज्ञानार्जन तथा कुशलता-सम्पादन में सबसे बड़ा हाथ उत्साह का, प्रयास तथा रुचि का, रहता है। जब किसी कारण से उत्साह मन्द पड़ जाता है, काम करने में दिलचस्पी नहीं रहती, उन्नति करने में कोई प्रबल प्रेरणा नहीं रहती, तो प्रगति रुक जाती है। इस अवरोध का कारण उत्साह का अभाव होता है। अतएव उसपर विजय पाने के लिए हमें विद्यार्थी को अनेक प्रकार से प्रोत्साहित करना होगा, उन्नति करने के लिये उसे नवीन प्रेरणायें देनी होगी, उसके कुशलता के आदर्श को उच्चतर बनना होगा। जो छात्र अपनी कक्षा में सबसे श्रेष्ठ बनकर सन्तुष्ट हो जाता है और इसीलिये उन्नति करने के लिये अपेक्षित प्रयास से जो विरत सा हो जाता है उसे स्कूल एवं प्रान्त में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने को उत्साहित करना चाहिये, उसे विश्व के उच्चतम स्थापित-आदर्श को तोड़कर एक नया, उच्चतर आदर्श स्थापित करने को प्रेरित करना चाहिये।

(३) शारीरिक क्षमतावरोध (physiological limit)—किन्तु एक ऐसी भी सीमा है, कुशलता की एक ऐसी मात्रा है, जिसका अतिक्रमण, ज्ञान अथवा उत्साह के होने पर भी, नहीं किया जा सकता। हमारे नाड़ी-मंडल में प्रवाहित होने वाली उत्तेजना की गति की भी एक सीमा है, उसके ऊपर उठाना किसी प्रकार सम्भव नहीं। हम में कितना ही उत्साह हो, सीखने की श्रेष्ठतम पद्धतियों का कितना ही ज्ञान हो, अपनी शारीरिक क्षमता से अधिक उन्नति हम नहीं कर सकते। अत: उस सीमा तक पहुँच कर, अधिक उन्नति करने के व्यर्थ प्रयास में शक्ति एवं समय का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। परन्तु उस चरम सीमा तक प्राय: हम पहुँचा नहीं करते। हमारी उन्नति अन्तिम क्षमता तक पहुँचने के पहले ही अधिकतर रुक जाया करती है। अतएव उन्नति का प्रयास छोड़ बैठने से पहले हमें भली भाँति जाँच कर लेना चाहिये कि इस अवरोध का स्वरूप क्या है।

सीखने में उन्नति—अभी हम देख चुके हैं कि सीखने में उन्नति सदा एक सी नहीं होती। अधिकांश क्रियाओं में आरम्भिक गति प्राय: तीव्र होती है, फिर वह मन्द पड़ जाती अथवा रुक जाती है, तथा कुछ समय के बाद फिर तीव्र वेग से उन्नति होने लगती है। पठार क्यों आते हैं, वे कितने प्रकार के होते हैं, तथा सामान्यत: उन पर विजय पाने के लिये हमें क्या करना चाहिये इसका भी वर्णन संक्षेप में हो चुका है। सीखने की प्रगति पर कई बातों का प्रभाव पड़ता हैं। रुचि अथवा उत्साह, सफलता-विफलता का ज्ञान, थकान एवं काल-विभाग उसे काफी प्रभावित करते हैं। काम करने में रुचि तथा उत्साह रहने पर उन्नति शीघ्र एवं अधिक होती है, अन्यथा कम। उन्नति की प्रगति पर सफलता मिल रही है या नहीं इस ज्ञान का भी प्रभाव पड़ता है। व्यायाम से शरीर को पुष्ट करने वाले व्यक्ति प्राय: एक बहुत बड़े शीशे के सम्मुख खड़े होकर व्यायाम करते हैं; समय-समय

पर वजन इत्यादि लिया करते हैं और शरीर स्वस्थ हो रहा है, वज़न बढ रहा है यह जान कर और भी अधिक उन्नति करते हैं। यह ज्ञान मानसिक सन्तोष देता है एवं उत्साह में वृद्धि करता है। थकी हालत में सीखने में जो श्रम किया जाता है उसका फल उतना नहीं होता जितना होना चाहिये। किसी भी काम को करने में शक्ति का व्यय होता है अतएव जब शक्ति क्षीण रहती है तो समय लगाने तथा शारीरिक श्रम करते रहने पर भी प्रत्याशित परिणाम नहीं होता। अत: थकान को दूर करना अथवा उससे बचे रहना सीखने में उन्नति की कामना करने वाले व्यक्ति के लिये नितान्त आवश्यक है। इसका विस्तार पूर्वक विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा। समय-विभाग का भी सीखने पर बहुत प्रभाव पड़ता है। सीखने में अधिक से अधिक उन्नति हो इस बात की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को यह जानना चाहिये कि एक विषय का अधिक से अधिक कितनी देर तक अभ्यास किया जा सकता है जिसमें सब से अधिक लाभ हो। इस पर अनेक प्रयोग किये जा चुके हैं। पाइल ने अपने प्रयोगों का निष्कर्ष निम्नलिखित शब्दों में दिया है—"साधारणत: नित्य का अभ्यास उससे अधिक अच्छा फल देता है जितना कि उतने ही घण्टे एक-एक दिन छोड़ कर अथवा एक ही दिन में दो बार अभ्यास करने से होता है। कुछ प्रमाण इस बात का भी मिला है कि आरम्भिक दशा में एक ही दिन का दूसरा अभ्यास तथा बाद में एक-एक दिन छोड़कर अभ्यास करने से सर्वश्रेष्ठ फल मिल सकता है।" उसने अपने प्रयोगों से यह निर्धारित किया है कि अभ्यास के लिये ३० मिनट का घण्टा सब से अधिक लाभप्रद है, १५ मिनट का घंटा बहुत छोटा एवं ४५ मिनट का घंटा बहुत लम्बा हो जाता है। किसी भी अभ्यास को आरम्भ करने तथा उसमें आवश्यक गति प्राप्त करने में कुछ न कुछ समय लगता ही है अतएव घंटा बहुत छोटा होने से वह बिलकुल व्यर्थ हो जायगा, ठीक-ठीक काम आरम्भ

करने के साथ ही घंटा खतम हो जायगा। ज्यादा लम्बा घंटा थकान तथा अरुचि उत्पन्न करके प्रगति को बहुत मन्द कर देता है। अतः इस सम्बन्ध में हमें मध्य-मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिये। अर्जित संस्कारों को नष्ट न होने देने के लिये उनकी आवृत्ति कभी-कभी करते रहना जरूरी है। लियान का कहना है—"जब एक बार कुछ संस्कार बन चुके होते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि उन संस्कारों के बिल्कुल विनष्ट हो जाने के पहले ही उनकी आवृति भी की जाय। भिन्न-भिन्न विषयों पर स्वतंत्र प्रयोग एवं अनुसन्धान हो रहे हैं। उनके आधार पर समय की मात्रा एवं आवृत्तियों के क्रम को नियंत्रित करके सीखने की क्रिया से अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिये।

सारांश:—अनुभव से लाभ उठाने को, अभ्यास के फलस्वरूप ज्ञान अथवा कुशलता में वृद्धि करने को, सीखना कहते हैं। इसके कई प्रकार हो सकते हैं। मनुष्य प्रयत्न एवं भूल करके तथा प्राप्त अनुभव के अनुसार प्रयत्न में परिवर्तन करके सीख सकता है; वह अन्य लोगों को कोई काम करते देख कर उसका अनुकरण करके सीख सकता है; एवं विचार करके अथवा सूझ के द्वारा सीख सकता है। थार्नडाइक प्रयत्न तथा भूल के ही सिद्धान्त को मुख्य मानता है। उसने सीखने के तीन नियम बताये हैं। अभ्यास का नियम यह है कि जिस काम को जितना ही अधिक किया जाता है उसका संस्कार उतना ही दृढ़ हो जाता है। परिणाम का नियम कहता है कि किये हुये काम का परिणाम यदि संतोष कर होता है तो उसका संस्कार बन जाता है, अन्यथा असंतोष होने से हम उसे विस्मृत कर देते हैं। तत्परता का नियम संस्कार को ग्रहण करने के लिये पहले से ही की हुई तैयारी पर जोर देता है।

सीखना आरम्भ करने के बाद कुछ समय तक यथोचित उन्नति

होती है फिर प्रायः कुछ समय के लिये प्रगति रुक सी जाती है। इस निरूद्ध गति को 'पठार' कहा गया है। प्रायः तो इस अवरोध का कारण भीतर ही भीतर होने वाली पाचन-क्रिया होती है, तथा अर्जित ज्ञान के पच जाने के बाद फिर वेग से उन्नति होने लगती है। परन्तु पठार के अन्य कारण भी हो सकते हैं जैसे उत्साह हीनता, श्रम की कमी, ग़लत तरीका, प्रेरणा का अभाव तथा शक्ति-क्षीणता। विद्यार्थी के पठार का ठीक ठीक निदान करके हमें कारण को दूर करना चाहिये जिस से प्रगति रुके नहीं। इन्हीं अवरोधों को क्रमशः ज्ञानावरोध उत्साहावरोध एवं शारीरिक क्षमतावरोध का नाम दिया गया है। पद्धति परिवर्तन, नवीन प्रेरणा इत्यादि के द्वारा पहले दोनों प्रकार के अवरोधों पर विजय प्राप्त की जा सकती है परन्तु अन्तिम अवरोध दूर नहीं किया जा सकता। उसके आने पर हमें उन्नति के लिये प्रयत्न बन्द कर देना चाहिये, यद्यपि क्षमता की सीमा तक पहुँचने वाले व्यक्तियों को ऊँगलियों पर ही गिना जा सकता है।

रुचि तथा उत्साह, सफलता-विफलता के ज्ञान, थकान तथा समय विभाजन से भी सीखने की प्रगति प्रभावित होती है। सीखने के घण्टे न तो बहुत छोटे होने चाहिये और न बहुत बड़े। ३० मिनट का घण्टा सबसे अधिक उपयुक्त समझा गया है। आरम्भ में नित्य अभ्यास करना चाहिये। बाद में अभ्यास के दो घण्टों के बीच में अधिक समय दिया जा सकता है। अभ्यास के घण्टे न तो बिलकुल पास पास होने चाहिये और न बहुत दूर, तभी अधिक लाभ हो सकता है।

प्रश्न

(१) 'सीखने' के सम्बन्ध में मनोविज्ञान का क्या कहना है? उदाहरण देकर समझाइये।

(२) सीखने का नियम क्या हैं? उदाहरण देकर समझाइये कि आप कक्षा शिक्षण में उनका क्या उपयोग कर सकते हैं?

(३) सीखने में 'पठार' से क्या अभिप्राय समझते हैं? उनका वर्गीकरण कीजिये एवं उनको अतिक्रम करने के उपाय बताइये।

(४) सीखने में उचित समय-विभाजन (distribution of time) की क्या उपयोगिता है? उदाहरण देकर समझाइये।

अवधान, रुचि तथा थकान

(Attention, Interest and Fatigue)

अवधान तथा सीमान्त चेतना—थोड़ा सा भी विचार करने से मालूम होगा कि हमारी चेतना में जो ज्ञान रहता है वह स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ बातों को हम स्पष्ट रूप से जाना करते हैं और कुछ को अस्पष्ट रूप से। मैं इस समय 'अवधान' के सम्बध में कुछ लिख रहा हूँ। अतः अवधान के सम्बन्ध में हमने जो पढ़ा है, सुना है, सोचा है वह सब इस अध्याय के लिखते समय स्पष्ट रूप से हमारी चेतना में उपस्थित है; हम अपनी स्मृति एवं मनन शक्ति को अवधान से सम्बन्ध रखने वाले समस्त ज्ञान पर केन्द्रित कर रहे हैं। अवधान-ज्ञान हमारे चेतना-प्रदेश का सबसे अधिक चमकता हुआ स्थल है। परन्तु हमारी चेतना वहीं तक सीमित नहीं है। न जाने कितनी और बातें उसमें मौजूद हैं। सामने स्थित मेज, अलमारी तथा उस पर रखा पुराने समाचार-पत्रों का ढेर, घर के भीतर बच्चे के रोने का शब्द, गली में लोगों के आने-जाने का ज्ञान ये सब भी उस चेतना में हैं। इनका स्पष्ट ज्ञान, काम में व्यस्त होने के कारण हमें नहीं है, परन्तु उनकी चेतना हमें है। चेतना का यह भाग अस्पष्ट है, पहले की तरह स्पष्ट नहीं। हमें उसकी चेतना भर है। पहले प्रकार की चेतना हमारे अवधान (attention) का विषय है दूसरी को हम सीमान्त (marginal) चेतना कहते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में एक और विचारणीय बात है। अभी जब हम अपनी सीमान्त चेतना में वर्तमान कुछ विषयों को गिना रहे थे तो गिनते समय वे सब हमारी स्पष्ट चेतना अथवा अवधान का अंग बन गये थे। गिनाने से पहले वे सीमान्त चेतना में थे, गिना चुकने के बाद वे फिर उसी अर्द्ध-प्रकाशित मनोप्रदेश में चले गये हैं, परन्तु गणना करते समय हमें उनका स्पष्ट ज्ञान था। बिना

ध्यान को उन पर केंद्रित किये उनकी चर्चा चलाना, उनका वर्णन करना ही सम्भव नहीं था। अतः हमें यह याद रखना चाहिये कि हमारे अवधान तथा सामान्त चेतना के भागों को कोई निश्चित विभाग-रेखा नहीं है। जो विषय अभी स्पष्ट चेतना में है वह अस्पष्ट चेतना में चला जा सकता है और अस्पष्ट अथवा सीमान्त चेतना की अनेक बातें अवधान का विषय बनती रहती हैं। उनकी सीमा-रेखाएँ, कहना चाहियें, बराबर इधर-उधर खिसका करती हैं।

अवधान तथा रुचि—चेतना का वह भाग जिस पर हम अपने ध्यान को केंद्रित कर देते हैं अवधान (attention) का विषय कहलाता है। ध्यान को केंद्रित करने की जो शक्ति हम में रहती है उसे अवधान ही कहा जाता है। प्राचीन मनोवैज्ञानिक मन को विभिन्न स्वतन्त्र मानसिक शक्तियों का समुदाय मात्र माना करते थे। अवधान को भी उन्हीं शक्तियों में से एक मानते थे। उनका ख्याल था कि अवधान-शक्ति को चाहे जिस काम में लगाया जा सकता है। जैसे हमारे जेब का पैसा शराब भी खरीद-सकता है और स्वास्थ्य-वर्द्धक खाद्य भी, ठीक उसी प्रकार अपनी अवधान शक्ति को हम इतिहास, गणित, परी की कहानी अथवा फुटबाल के खेल आदि जिस पर चाहें लगा सकते हैं। जब एक ओर हम अवधान का प्रयोग करते हैं तो दूसरी ओर भी उसका प्रयोग कर सकते हैं। यदि किसी ओर हमारा ध्यान नहीं जमता तो ध्यान न देने की जिम्मे-दारी हमारी है, उसके दोषी हम स्वयं हैं। अपराधी मनोवृत्ति का सुधार दण्ड की व्यवस्था करने से ही हो सकता है, नवीन पद्धति के आविष्कार करने से नहीं। इसीलिये बार-बार चेतावनी देते रहने पर भी जब बालक अध्यापक के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान पर ध्यान नहीं देता और सामने की सड़क पर होनेवाले भालू के नाच अथवा कुलफी बेचने वाले के शब्द पर ही चित्त को एकाग्र कर देना पसन्द करता है, तो

अध्यापक उसके कान मल कर, डाँट-डपट कर, दण्ड देकर, उसके वास्तविक कर्त्तव्य की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करता है। 'अवधान' यदि सचमुच एक स्वतन्त्र शक्ति है तो अध्यापक के दूसरे काम पर आपत्ति करने का हमें कोई अधिकार नहीं। किन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक अवधान को एक स्वतन्त्र शक्ति नहीं मानता। "अवधान" मैक्डूगल के शब्दों में, "केवल उस चेष्टा अथवा इच्छा (conation) को ही कहते हैं जिसका प्रभाव ज्ञान-क्रिया (cognitive process) पर पड़ता है।" चेष्टा अथवा क्रिया का हो बौद्धिक पहलू अवधान कहलाता है। अतएव यह निश्चित है कि मनुष्य की स्वाभाविक अथवा अर्जित इच्छाओं का उसके अवधान पर बड़ा असर पड़ता है। वह उसी वस्तु पर अपने ध्यान को केन्द्रित करता है जिसके लिए उसकी मूलप्रवृत्तियाँ, आदतें, स्थायी-भाव आदि उसे प्रेरित करते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मनुष्य की रुचि (interest) का उसके अवधान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः यदि हम चाहते हैं कि बच्चों का ध्यान हमारी ओर हो तो हमें उन्हें वही बातें बतानी होंगी, वही पाठ पढ़ाना होगा, जिसमें उनको रुचि हो। पाठों को रुचिकर बनाने का जो सुप्रसिद्ध सिद्धांत आज शिक्षा-शास्त्र में इतना सम्मानित है उसका मूलाधार, अवधान एवं रुचि सम्बन्धी यही नूतन मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है।

किन्तु इस रुचि शब्द का अकसर बहुत गलत अर्थ लिया जाता है। लोग रुचिकर को प्रायः मनोरंजक का पर्याय समझ लेते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि जिस वस्तु में हमारी रुचि होती है वह हमें अच्छी भी प्रायः लगती है, परन्तु ऐसा हमेशा नहीं होता। हमारा बच्चा बीमार है। उसकी बीमारी की भयानकता में, उसके असाध्य अथवा कष्ट-साध्य होने में, हमारी रुचि है, हम उस सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने को उत्सुक हैं। उसे जानकर हमारा मनोरंजन नहीं होगा, फिर भी हम उसे जानने में रुचि रखते हैं। यहाँ 'रुचि' का प्रयोग एक व्यापक अर्थ

में किया जाता है। किसी विषय से अपने को सम्बन्धित अथवा जड़ित समझना ही उसमें रुचि रखना कहलाता है। अतः जिस वस्तु से भी बच्चे अपने को जड़ित जानेंगे उस पर ध्यान देना उनके लिये स्वाभाविक होगा; जिनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं उसपर कृत्रिम उपायों से उनके ध्यान को आकृष्ट करने से भी अधिक लाभ नहीं होता—शीघ्र ही ध्यान उचट जाता है, क्षणिक ध्यान का फल भी क्षणिक ही होता है।

रुचि दो प्रकार की होती है—एक जन्मजात और दूसी अर्जित। हमारी मूल-प्रवृत्तियाँ तथा अन्य सामान्य वृत्तियाँ कुछ विशेष वस्तुओं में हमारी रुचि उत्पन्न कर देती हैं। कुत्ता तथा बिल्ली पुष्पवृक्ष पर बैठी चिड़िया को देखते हैं, मनोमोहक फूलों को नहीं; छपी पुस्तक में हमें अपना नाम बड़ी जल्दी दिखाई पड़ जाता है; सोता हुआ व्यक्ति अपने नाम को सुन कर जग जाता है; माँ बीमार बच्चे की हलकी आवाज़ को भी सुन लेती है यद्यपि चारों ओर मचने वाला शोर उसकी नींद में बाधक नहीं होता। इसी प्रकार अर्जित संस्कार भी विशिष्ट उत्तेजनाओं को ध्यान आकृष्ट करने में साधन बना देते हैं। मोटर का ड्राइवर एंजिन की हलकी भर्राई आवाज़ से आकृष्ट हो जाता है; कुशल डाक्टर रोगी के शरीर पर सूक्ष्म से सूक्ष्म चिन्हों को देख लेता है, फेफड़े की आवाज में जरा सा भी परिवर्तन उसके ध्यान को खींच लेता है; कुशल गायक गान के हल्के से आरोह-अवरोह को भी पहचान लेता है। कहा जाता है कि एक कृपण व्यक्ति यदि गहरी नींद में सो रहा हो तो उसे जगाने का सबसे सरल तरीका उसके हाथ में रुपया रख देना है।

जिन वस्तुओं में हमारी रुचि रहती है उनमें ध्यान जमता है, दूसरी वस्तुओं की ओर हम ध्यान नहीं देते, उनकी हम प्रायः उपेक्षा कर जाते हैं। अतः हम जिस वस्तु पर बालकों के ध्यान को आकृष्ट करना चाहें उसे हमें इस प्रकार उनके समक्ष उपस्थित करना चाहिये

कि वह किसी न किसी जन्म-जात अथवा अर्जित रुचि का अंग बन जाय। मूल-प्रवृत्तियों, आदतों, स्थायी-भावों आदि की सहायता लेने की बात जो बराबर हमने दुहराई है वह इसलिये कि हमारी रुचि का निर्माण उनके ही द्वारा होता है और ध्यान के आकर्षण में रुचि का बहुत बड़ा हाथ है।

अवधान के कुछ अन्य प्रेरक—किन्तु अवधान के लिये रुचि ही एक कारण नहीं है, रुचि न रहने पर भी कभी-कभी कुछ वस्तुओं की ओर हमारा ध्यान खिंच जाता है। पढ़ने में दत्तचित्त छात्र की रुचि पुस्तक में है, शोर मचाने वाले दुष्ट विद्यार्थी के शब्द में नहीं; फिर भी यदि शब्द जोर का हो रहा हो तो छात्र का ध्यान रुचिकर विषय से हटाकर अरुचिकर शोर की ओर चला ही जायगा। उसकी स्वाभाविक रुचि शोर की उपेक्षा करने में है, पुस्तक के पढ़ने में है, तो भी वह शोर सुनता है, पुस्तक से उसका ध्यान, न चाहने पर भी; हट ही जाता है। अत; यदि कोई उत्तेजना काफी तीव्र हो तो वह ध्यान को आकृष्ट कर ही लेगी। परन्तु जैसा स्टाउट ने कहा है, उत्तेजना की तीव्रता से भी अधिक ध्यान को आकृष्ट करने वाली चीज़ उत्तेजना में घटित होने वाला परिवर्तन होता है। यदि कोई व्यक्ति लगातार ज़ोर ज़ोर से चिल्लाता रह कर एकाएक धीमे स्वर में कुछ कहना शुरू करे तो यह धीमी आवाज़ हमारे ध्यान को अधिक सफलता पूर्वक आकर्षित करेगी। कुशल वक्ता जो अपने स्वर को कभी ऊँचा तथा कभी नीचा किया करता है उसका एक यह भी कारण है कि इस प्रकार वह श्रोताओं के अवधान को आकृष्ट कर लेता है।

तीव्रता के अतिरिक्त उत्तेजना का विस्तार, उसका बड़ा होना भी, ध्यान को खींचता है। हम कितना ही किसी विचार में संलग्न क्यों न हों एक वृहदाकार वस्तु हमारे ध्यान-पथ में बिना आये न रहेगी। जब हम किसी समस्या को हल करने में लगे हों तो, हो सकता है,

हमारे समाने से बिल्ली निकल जाय और हम न जानें परन्तु सामान्यत: यह नहीं हो सकता कि एक हाथी हमारे ध्यान को बिना भंग किये रह सके। एक छोटा गढ़ा ध्यान को चाहे आकृष्ट न करे पर, स्काउट के शब्दों में समुद्र को बिना देखे हम नहीं रह सकते।

इसके अतिरिक्त नवीनता तथा वैपरीत्य (novelty and contrast) भी ध्यान को आकृष्ट करते हैं। जहाँ सब लोग कुर्ता-धोती पहिने हों, वहाँ पर सूट पहनने वाला व्यक्ति अवश्य ही आकर्षण-केन्द्र बनेगा। चन्दन की एक मोटी तह मत्थे में थोप कर आना एक नई चीज़ है। अत: जब चन्दन-चर्चित कोई विद्यार्थी कक्षा में प्रवेश करता है तो हमारी आखें अवश्य ही उसकी ओर उठ जाती हैं। स्कूल में नया अध्यापक, कक्षा में नया विद्यार्थी, सब के ध्यान को आकृष्ट कर लेते हैं। काले हबशियों के बीच में श्वेत-वर्ण अंगरेजी एवं सफेद खड़िया से लिखे बोर्ड पर लाल खड़िया से लिखा शब्द सब से पहले दिखाई पड़ता है।

बालकों के ध्यान को आकृष्ट करने के लिये, उनके अवधान को पाठ्य-विषय पर जमाये रखने के लिये, हमें सभी उपायों का प्रयोग करना चाहिये। हमें रंग बिरंगी तसवीरें, मोटे-मोटे अक्षर, अपेक्षाकृत जोर का शब्द प्रयोग करना चाहिये जिससे उत्तेजना की तीव्रता के फल-स्वपरूय पाठ्य-विषय बच्चों के ध्यान को आकृष्ट कर ले। वैपरीत्य लाने के लिये विभिन्न प्रकार की खड़िया का प्रयोग हो सकता है। किसी भी विषय को उपस्थित करने के ढंग में भी परिवर्तन करते रहना चाहिये। पढ़ाये पाठ की यदि फिर से आवृत्ति करना हो तो उसे नये रूप में ही सामने रखना चाहिये अन्यथा उसके सम्बन्ध में बालकों को कुछ भी उत्सुकता न होगी और वे उसकी ओर कतई ध्यान न देंगे। जिस पाठ को पढ़ाना है उसे बालकों की मूलप्रवृत्यात्मक आवश्यकताओं, आदतों, तथा स्थायी भावों की पूर्ति का अंग बना देना चाहिये। ऐसा

होने पर वह बालकों को अवश्य आकृष्ट कर लेगा, तब वे उसकी उपेक्षा नहीं करेंगे।

अवधान के प्रकार—अभी हमने देखा कि हमारे अवधान को आकृष्ट करने में रुचि का बहुत बड़ा हाथ है। और यह रुचि दो प्रकार की होती है, एक जन्मजात तथा दूसरी अर्जित। जन्मजात रुचि स्वाभाविक होती है, उसके उत्पन्न करने के लिये किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, ध्यान अपने आप उधर चला जाता है। भूखा व्यक्ति प्रयास करके खाने की ओर ध्यान नहीं देता; खाने की ओर बिना ध्यान दिये वह रह ही नहीं सकता। अतएव इस प्रकार के ध्यान को, जिसमें कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जो व्यक्ति की नैसर्गिक इच्छाओं से सम्बन्धित है, हम प्रयत्नरहित (involuntary) अवधान कह सकते हैं। इसे निष्क्रिय अवधान (passive attention) भी कहते हैं क्योंकि ध्यान को स्थिर करने में ध्यानकर्ता को कुछ करना नहीं पड़ता, ध्यान के लगाने में उसकी इच्छा नहीं, नैसर्गिक प्रेरणा काम करती है। हमारी अर्जित रुचि स्वाभाविक नहीं होती, उसे अभ्यास से हम उपार्जित करते हैं। जब अभ्यास दृढ़ हो जाता है तो उस रुचि से सम्बद्ध विषय भी प्रायः बिना प्रयास के ध्यान को आकृष्ट करने लगता है, उस विषय पर ध्यान देना भी तब प्रयत्नरहित ही हो जाता है। किन्तु जब तक दृढ़ अभ्यास नहीं हो जाता तब तक अर्जित रुचि से उत्पन्न ध्यान प्रायः सप्रयत्न (voluntary) अथवा सक्रिय (active) ही होता। किन्तु कभी-कभी हम ऐसे विषयों पर भी ध्यान को जमाते हैं जिनमें हमारी कोई रुचि नहीं होती। हम अपनी इच्छा-शक्ति से ध्यान को बलपूर्वक किसी विषय पर केन्द्रित कर रखते हैं। यही ध्यान सप्रयत्न अवधान (voluntary attention) कहलाता है। प्रयत्न करके ही ध्यान को स्थिर रखा जाता है, प्राकृतिक अथवा अर्जित किसी प्रकार की रुचि

'विषय' में नहीं होती । परन्तु क्या यह सम्भव है? क्या ऐसा हो सकता है कि किसी भी प्रकार की रुचि न रहने पर भी हमारा अवधान किसी विषय विशेष पर केन्द्रित किया जा सके? क्या किसी विषय का आकलन आरम्भ करके हम उसे इसीलिये जारी नहीं रखते कि उसे छोड़ देने में एक प्रकार की पराजय स्वीकार करना होगी? क्या अनेक विषय अरुचिकर प्रतीत होने पर भी हम इसीलिये नहीं पढ़ा करते कि उनका अध्ययन हमारे भविष्य को उज्ज्वल बनावेगा अथवा माता पिता को प्रसन्नता देगा? विचार करने से मालूम होगा कि इस प्रकार की कोई न कोई प्रेरणा अवश्य रहती है और यदि ऐसी प्रेरणा हमेशा रहती ही है तो यह कहना कैसे ठीक होगा कि कभी-कभी विना रुचि के भी हम ध्यान लगा सकते हैं? यह प्रेरणा भी तो एक प्रकार से रुचि ही है। अतः रुचि एवं अवधान का जो घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है उसकी असिद्ध सप्रयत्न अवधान से भी नहीं होती। अवधान के उपर्युक्त दो प्रकार तो प्रायः सभी व्यक्तियों में पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने प्रकृति-भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने अवधान को केन्द्रित करते देखे जाते हैं। एक ही विषय पर गम्भीरता के साथ ध्यान करने वालों का एक प्रकार है; दूसरा प्रकार ध्यान को अनेक विषयों पर विखेर देने वालों का है। पहले प्रकार के लोग वैज्ञानिक गवेषणा में अधिक सफल हो सकते हैं और दूसरे आधुनिक अनेकरूपी व्यवसाय-कला में। एक प्रकार का ध्यान तथ्य-सम्बद्ध (objective) कहा जा सकता है, और दूसरा कल्पना-प्रधान (subjective)। पहले प्रकार के व्यक्ति वास्तविकता पर ही ध्यान को केन्द्रित रखते हैं, किन्तु दूसरे प्रत्यक्षीकृत वस्तु को अपनी कल्पना से रँग देते हैं, उनकी दृष्टि वहिर्जगत् पर कम, अन्तर्जगत् पर अधिक जमती हैं। एक प्रकार के लोग एक बार ध्यान किसी विषय पर लगाने के बाद उसी में

लगे रहते हैं, दूसरों को बार-बार विषय की ओर खींच लाने की, उसकी याद दिलाते रहने की, आवश्यकता होती है, पहले को स्थिर एवं दूसरे को अस्थिर ध्यानी कहा जा सकता है।

अवधान का विभाजन (division of attention)—लोगों को प्रायः कहते सुना है कि ध्यान को कई विषयों में बाँटा जा सकता है। गाना गाते हुये भी लोग टाइप कर सकते हैं' मोजा बिनते हुये भी स्त्रियाँ व्याख्यान सुना करती हैं अथवा पुस्तक पढ़ा करती हैं। यदि उपर्युक्त व्यापारों में अवधान को दो विषयों में विभक्त किया जा सकता है तो जन साधारण का विश्वास कि अवधान विभाजित हो सकता है ठीक सिद्ध होगा। परन्तु गौर करने से मालूम होगा कि यहाँ पर अवधान पर बँटा नहीं। गाना तथा मोजा बिनना निरन्तर के अभ्यास से अपने आप होने लगते हैं, उनमें अवधान की आवश्यकता पड़ती ही नहीं। अवधान की आवश्यकता केवल टाइप करने अथवा पुस्तक पढ़ने में पड़ती है। अतः उपर्युक्त उदाहरण अवधान के विभाजन में कोई प्रमाण नहीं हुआ।

अवधान का विभाग हो सकता है या नहीं इसको जानने के लिये अनेक प्रयोग किये गये हैं। उनके आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अवधान को विभक्त नही किया जा सकता। एक समय में एक से अधिक विषयों पर अवधान केन्द्रित नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में निम्नांकित प्रयोग किया जा सकता है। एक व्यक्ति को वर्णमाला के अक्षर लिखने को दिये जाँय और उसी के साथ उससे कहा जाय कि किसी संख्या में तीन जोड़ कर, योग फल में तीन जोड़े और इसी प्रकार प्रत्येक योगफल में तीन जोड़ता चले। दोनों कामों को एक साथ करने पर किये काम के परिमाण को देख लिया जाय। तब उससे उतने ही समय तक अकेला एक काम करने को कहा जाय। हम देखेंगे कि एक-एक काम करने पर प्रत्येक काम का परिमाण उससे

कहीं ज़्यादा था जितना दोनों कामों को एक साथ करने पर हुआ। अतः दोनों कामों को एक साथ करते समय जो अवधान का विभाजन प्रतीत होता था वह वास्तव में बारी-बारी से दोनों क्रियाओं को करना था। दोनों क्रियाओं को एक साथ करने पर प्रत्येक क्रिया का परिणाम कम रहा इससे पता चलता है कि दोनों क्रियायें युगपत एक साथ, न करके आगे पीछे की गईं थीं। प्रत्येक क्रिया को करने के लिये समय कम मिला, इसी से काम कम हुआ। अतः इस प्रयोग से सिद्ध होता है कि अवधान दो क्रियाओं में बँट नहीं सकता। एक समय में केवल एक ही विषय पर ध्यान को एकाग्र किया जा सकता है; अवधान का विभाजन असम्भव है।

अवधान का विचलन (fluctuation of attention)—पुस्तक के आरम्भ में बताया जा चुका है कि ध्यान को किसी एक विषय पर ही लगातार स्थिर रखना सम्भव नहीं। थोड़ी देर तक हमारा ध्यान किसी विषय पर जमता है। तब उससे हटकर किसी दूसरे विषय पर जा पहुँचता है। वहाँ से हट कर फिर पहले विषय पर एकाग्र हो जाता है। मन की इस चंचलता को अवधान का विचलन (fluctuation of attention) कहा गया है। प्रयोगों से इसबात का निश्चय किया जा चुका है कि पाँच या छः सेकिण्ड के पश्चात् ध्यान बिचलित हो जाता है। बड़े से बड़े एकाग्रचित व्यक्ति का, जिस पर प्रयोग किया गया है, अवधान २५ सेकिण्ड से अधिक समय तक एक ही विषय पर नहीं जम सका। हाँ, एक ही विषय के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर ध्यान को अवश्य लगाया जा सकता है। ध्यान का विषय बदलना आवश्यक है। इस सत्य का शिक्षा में काफी उपयोग किया जा सकता है। शिक्षकों को एक ही विषय के अनेक पहलुओं पर विचार करके, भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान देकर तथा प्रश्नोत्तर के द्वारा चंचल मन को यथा सम्भव स्थिर रखने की कोशिश

करना चाहिये। फिर भी ध्यान यदि अधिक समय तक एकाग्र न रह सके तो प्रकृति अथवा ईश्वर निर्मित नियम के लिये निरीह छात्र पर क्रोध न करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

ध्यान में बाधा (distraction of attention)—कभी-कभी जब हम किसी विषय पर अपने ध्यान को केन्द्रित करना चाहते हैं तो अनेक बाधायें उसमें विघ्न डालती हैं। जब हम गणित के किसी दुर्बोध रहस्य को समझने के प्रयास में होते हैं तो शोरगुल के कारण चित्त को एकाग्र नहीं कर पाते। इसलिये पठन-पाठन अथवा ईश्वर चिन्तन के लिये प्रायः एकान्त एवं विघ्नरहित स्थान की व्यवस्था की जाती है। चित्त स्वभावतः चंचल-वृत्ति होता है; उस चंचल-वृत्ति को जब बाह्य विघ्नों की सहायता मिल जाती है तो उसका एकाग्र होना असम्भवप्राय हो जाता है। अतः विघ्नयुक्त स्थान में प्रायः काम कम हो पाता है। परन्तु हमेशा ऐसा हो, यह नियम नहीं है। कभी कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि विघ्न जब अधिक होता है तो काम अधिक मात्रा में हो जाता है। ऐसा कैसे होता है? हम जानते हैं कि मनुष्य में इच्छा-शक्ति (will power) नाम की एक शक्ति होती है। यह मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व की समन्वित शक्ति है। जब कोई अपनी पूरी शक्ति के साथ किसी काम को करने का निश्चय कर लेता है तो उसकी इच्छा-शक्ति उसको शक्ति देती है। वह अपनी समस्त प्राकृतिक एवं अर्जित शक्तियों को उस कार्य-विशेष को पूरा करने में लगा देता है। आत्म-गौरव का स्थायी-भाव उस काम को कर लेने में सहायता करता है। इस समन्वित शक्ति के सामने छोटे-मोटे विघ्न नहीं ठहर सकते। अतएव जब विघ्नों को कोई व्यक्ति अपनी शक्ति के प्रति एक ललकार खयाल करके उन पर विजय पा लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेता है तो वह विघ्नों को तो पराजित करता ही है, साथ ही अधिक शक्ति के एकाग्र हो जाने से सामान्य परिस्थित की अपेक्षा

अधिक कार्य कर डालता है। यह अधिक कार्य विघ्न के कारण नहीं होता, इच्छा-शक्ति के कारण होता है। विघ्न न होने पर भी यदि इतनी ही इच्छा-शक्ति प्रयोग में लाई जाती तो अवश्य ही कार्य इससे भी अधिक मात्रा में किया जा सकता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि इच्छा-शक्ति के जगाने में विघ्नों ने प्रेरणा का काम किया है, अतः जहाँ तक सम्भव हो हमें अवधान में विघ्न न पड़ने देना चाहिये, वातावरण को निरुपद्रव तथा निर्विघ्न ही बनाये रखना चाहिये। फिर भी यदि विघ्न आवें—अक्सर आवेंगे—तो हमें विद्यार्थियों की इच्छा-शक्ति, उनके आत्म-गौरव के स्थायी-भाव, को उत्तेजित करके उन विघ्नों पर विजय पाने का सफल प्रयास करना चाहिये।

अवधान का विस्तार (span of attention)—हमने देखा कि अपने ध्यान को एक समय में हम एक ही विषय अथवा वस्तु पर केन्द्रित कर सकते हैं। अवधान को विभाजित नहीं किया जा सकता। फिर भी हमारा अनुभव है कि हम कई वस्तुओं को एक साथ ग्रहण कर सकते हैं। श्यामपट पर बने हुए दो त्रिकोणों (triangles) को हम एक साथ ही देखते हैं, एक के बाद दूसरे को नहीं देखते। तीन-चार व्यक्ति जिस कमरे में बैठे हों उसमें यदि हम एकाएक प्रवेश करें तो हम उन्हें एक साथ ही देखते हैं, आगे पीछे नहीं। यदि यह बात ठीक मान ली जाय तो क्या एक समय में ही वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित कर सकने वाला सिद्धान्त ग़लत हो जाता? वास्तविकता यह है कि यद्यपि हम एक समय में एक ही विषय को ग्रहण कर सकते हैं किन्त मनोव्यापार की सुविधा के लिये हम प्रायः एक से अधिक वस्तुओं का समावेश किसी एक ही विषय में करके उन्हें एक बना दिया करते हैं। जिस प्रकार एक त्रिकोण की तीनों भुजायें हम एक साथ देखते हैं उस प्रकार तीन व्यक्तियों के एक समूह को हम एकता देकर, उन्हें एक ही अविभक्त परिस्थिति का अंग बनाकर, एक साथ

ही ग्रहण कर सकते हैं। इससे एक ही वस्तु को ग्रहण कर सकने वाले सिद्धान्त की असिद्धि नहीं होती, उसका थोड़ा विस्तार हो जाता है। जितने भी पदार्थों को हम एकता दे सकते हैं, जितनी भी वस्तुओं को हम इस प्रकार सम्बन्ध-सूत्र में गूंथ सकते हैं, वे हमारे लिये एक बन जाते हैं और इस लिये अवधान को उन पर एक साथ लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की क्षमता भिन्न भिन्न होती है। सामान्यतः लोग पाँच या छः वस्तुओं को एक साथ ग्रहण कर सकने की शक्ति रखते पाये जाते हैं। उन वस्तुओं में स्थापित सम्बन्ध जितना ही दृढ़ होगा, सब पर एक साथ ध्यान जमाना उतना ही सरल होगा। पाँच-पाँच वस्तुओं को एक वर्ग में रखकर इस प्रकार के पाँच वर्गों तक को एक साथ ग्रहण करते लोग पाये गये हैं।

थकान (fatigue) हम जो भी मानसिक अथवा शारीरिक क्रिया करते हैं उसमें शक्ति का ह्रास होता है। शक्ति का ह्रास जब काफी मात्रा में हो जाता है तो हम क्लान्ति का, थकान का, अनुभव करते हैं। क्रिया कितनी ही मनोरंजक हो उसे उचित रूप से चलाते रहने के लिये बीच-बीच में आराम करने की, थकावट को दूर करने की, आवश्यकता पड़ती ही है।

शिक्षा विषयक पुस्तकों में थकान पर बहुत जोर दिया गया है, उसके प्रभाव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। 'स्टार्च' का ख़याल है कि इसका कारण थकान के अर्थ को भली भाँति न समझना है। वास्तव में हम विद्यार्थियों में दो प्रकार की थकान पाते हैं। एक तो यथार्थ शक्ति क्षीणता, अधिक काम कर सकने की शारीरिक तथा मानसिक अक्षमता, और दूसरी अरुचि। किसी काम को अधिक समय तक करते रहने से उससे जी भर जाता है, जी ऊबने लगता है, काम करने में सन्तोष नहीं मिलता, उसे बन्द कर देने की इच्छा होने लगती है। यह अरुचि वास्तव में थकावट नहीं है, हाँ उसी से मिलती जुलती

है; और इसका परिणाम, थकावट की तरह, काम की मात्रा में कमी एवं उसमें भूलों की प्रचुरता ही होता है। इस थकान का उपचार सरल तथा परिणाम उतना भयावह नहीं होता जितना पहले प्रकार की थकान का। प्रायः इसे प्रमादवश लोग वास्तविक शक्ति-क्षीणता समझ लेते हैं और इसलिये शिक्षा-शास्त्र में थकान को आवश्यकता से अधिक महत्व मिल गया है। परंतु शक्ति-क्षीणता से उत्पन्न थकान भी होती ही है और उसका ध्यान, छोटे बालकों की शिक्षा में, विशेष रूप से रखना चाहिये।

स्कूली कामों में थकान नापने के लिये अनेक तरीकों का प्रयोग होता है। छात्रों के शरीर पर दो स्थानों पर एक साथ ही एक यंत्र के सूक्ष्म छोरों से स्पर्श करके उससे पूछा जाता है कि स्पर्श एक ही बिन्दु पर किया गया है अथवा दो बिन्दुओं पर। जो व्यक्ति जितने ही नज़दीक के दो बिन्दुओं को ठीक-ठीक दो करके जानता है उसकी स्पर्श-शक्ति उतनी अधिक तीव्र मानी जाती है। लोगों का खयाल था कि स्वस्थ दशा में अन्य शक्तियों के साथ स्पर्श की तीव्रता भी अधिक रहती है, थक जाने पर इन दो बिन्दु के बीच की दूरी बढ़ जाती है। इस स्पर्श-विवेक-दूरी के आधार पर थकान का निर्णय किया जाता है। परन्तु अब शिक्षा-विशारदों की इस प्रयोग पर विशेष श्रद्धा नहीं रही। शारीकि थकायट को किसी परिमाण में उससे यदि नापा भी जा सके तो भी उसका मानसिक शक्ति से क्या सम्बन्ध है यह अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है। इसी प्रकार कलाई की शक्ति को नापा गया, थपकी देने की शक्ति को नापा गया और उनसे मानसिक थकावट के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकालने की कोशिश हुई। परन्तु कोई निश्चित सिद्धान्त हाथ नहीं लगा। अतएव मानसिक शक्ति को ही सीधे-सीधे नापने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। स्कूली कार्य आरम्भ होने के समय बच्चों को श्रुतलेख

(dictation) लिखने को दिया गया। स्कूल खतम होने के वक्त फिर लिखने को कहा गया। दोनों बार की भूलों को देखकर यह निष्कर्ष निकाला गया कि भूलों का आधिक्य थकान के ही कारण है। अथवा घण्टे घण्टे के बाद श्रुतलेख लिखाकर थकान की परीक्षा ली गई। इस सम्बन्ध में किये गये एक प्रयोग का परिणाम निम्नलिखित हुआ— आरम्भ में ४० भूलें हुईं, पहले घण्टे के बाद गलतियाँ बढ़कर ७० हो गईं, दूसरे घण्टे के बाद १२०, तथा तीसरे घण्टे के बाद १६० हो गईं। इन बढ़ी हुई भूलों का कारण स्पष्टतया थकान ही था। इसी प्रकार अन्य भाँति-भाँति की परीक्षाओं के द्वारा थकान का काम पर अवांछनीय प्रभाव सिद्ध होता है। परन्तु 'स्टार्च' ने अनेक प्रयोगों एवं परीक्षाओं के फल का समन्वय करके यह निष्कर्ष निकाला है कि "दो या तीन घण्टे के अनवरत श्रम के पश्चात् भी मानसिक क्षमता में थोड़ा सा ही शैथिल्य आता है।"

परन्तु अरुचि के कारण हो अथवा वास्तविक शारीरिक एवं मानसिक ह्रास के कारण, हम थकान का अनुभव करते अवश्य हैं और काम को अधिक कुशलता के साथ चलाने के लिये थकान का निवारण करना नितान्त आवश्यक है। विषय में नवीनता लाकर, उपस्थिति के ढंग को बदल कर, विषय को बदल कर, लड़कों पाठ के विकास में स्वयं भाग लेने का अवसर देकर, हमें अरुचि को दूर करना चाहिए। वास्तविक क्लान्ति भी आवेगी। उससे सुकुमार बालकों की रक्षा करने के लिए थोड़े-थोड़े समय के बाद छुट्टी का प्रबन्ध होना चाहिए। अस्वस्थ बच्चों को जल्दी एवं अधिक थकान का अनुभव होता है। अतएव उनके स्वास्थ्य की रक्षा का ख़ास ध्यान रखना चाहिए। कभी-कभी विषय के बहुत रोचक होने के कारण वास्तविक थकान का अनुभव छात्र नहीं कर सकते। अतएव वे शक्ति से अधिक श्रम कर जाते हैं। इसका परिणाम भयानक हो सकता है। ऐसी दशा

में कुछ स्वतंत्र परिक्षाओं के द्वारा उनकी थकान को नाप कर अधिक श्रम करने से उन्हें रोकना चाहिए।

सारांश—सामान्यतया चेतना को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है; एक तो स्पष्ट और दूसरी अस्पष्ट। चेतना के स्पष्ट भाग को अवधान कहते हैं और अस्पष्ट भाग को सीमान्त चेतना (marginal consciousness) कहा जाता है। जिस वस्तु या विषय पर हम अपने अवधान को केन्द्रित कर देते हैं वह हमारे अवधान का विषय कहलाता है।

चेतना को किसी विषय पर केन्द्रित करने के लिये रुचि की विशेष आवश्यकता होती है। रुचि दो प्रकार की होती है, स्वाभाविक तथा अर्जित। मूल-प्रवृत्तियाँ, आदतें तथा स्थायी-भाव हमारी रुचि का सृजन करते हैं। हम उन्हीं विषयों पर सामान्यतया अवधान को केंद्रित कर सकते हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार की रुचि हमें होती है।

रुचि के अलावा ध्यान को आकृष्ट करने के अन्य कारण भी हो सकते हैं। यदि उत्तेजना काफी तीव्र हो तो, अरुचिकर होने पर भी, वह हमारे ध्यान को आकृष्ट कर लेगी। उत्तेजना की तीव्रता में परिवर्तन भी ध्यान को आकृष्ट करता है। उत्तेजना का विस्तार भी ध्यान को खींचता है तथा नवीनता एवं वैपरीत्य (contrast) अवधान के आकर्षण में प्रधानतया सहायक होते हैं। अतएव बालकों के ध्यान को आकृष्ट करने के लिये हमें अवधान के इन सभी साधनों का उपयोग करना चाहिये।

अवधान मुख्यतः दो प्रकार का होता है। प्रयत्नरहित (involuntary) तथा सप्रयत्न (voluntary)। किसी वस्तु अथवा विषय में हमारा ध्यान जब अपने आप जम जाता है तो वह ध्यान प्रयत्न रहित कहलाता है। यदि हमारी रुचि विषय में नहीं होती तो उस पर चित्त को एकाग्र करने में हमें प्रयत्न करना पड़ता है; प्रयत्न-

प्रेरित अवधान को सप्रयत्न कहते हैं। जहाँ तक हो सके हमें विषय में रुचि उत्पन्न करके अवधान को प्रयत्न रहित कर देना चाहिये। किन्तु कभी कभी बलपूर्वक ध्यान को लगाना पड़ता है, अतएव उसकी आदत भी विद्यार्थियों को डलवानी चाहिये। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त प्रकृति-भेद के अनुरोध से और भी कई प्रकार के ध्यान हो सकते हैं। कुछ गम्भीर ध्यानी तथा कुछ बहुविषय स्पर्शी होते हैं; कुछ तथ्य-सम्बद्ध तथा कुछ कल्पना-प्रधान होते हैं; कुछ स्थिर तथा कुछ अस्थिर ध्यानी कहला सकते हैं।

अवधान को कई विषयों पर बाँटा नहीं जा सकता, एक समय में वह एक ही विषय पर केन्द्रित किया जा सकता है। जो उदाहरण दो अथवा अधिक विषयों पर ध्यान के एकाग्र किये जाने को दिये जाते हैं वे ठीक नहीं हैं। उन दो विषयों में से एक तो अपने आप होता रहता है क्योंकि उसकी आदत पड़ चुकती है और अवधान केवल एक क्रिया पर ही लगाना पड़ता है। कभी कभी एक से अधिक विषयों का आकलन एक साथ होता मालूम पड़ता है यद्यपि वास्तव में वहाँ पर अवधान बारी-बारी एक दूसरे में जाता रहता है। विषय परिवर्तन इतनी शीघ्रतापूर्वक होता है कि दोनों एक साथ होते मालूम पड़ते हैं।

एक विषय पर भी अवधान अधिक समय तक स्थिर नहीं रहता। सामान्यत: ५ या ६ सेकिंड तक ध्यान एक विषय पर जम जमता है और तब उचटकर दूसरे विषय पर चला जाता है, कुछ समय के बाद छोड़े हुये विषय पर लौट आता है। २५ सेकिंड से अधिक एक ही विषय पर, बिना विचलित हुये, ध्यान को केन्द्रित रखने वाले व्यक्ति अभी तक मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में नहीं आये हैं।

ध्यान को किसी एक विषय पर एकाग्र करने में अकसर हम इस लिये भी असफल होते हैं कि अनेक बाधायें चित्त की एकाग्रता में विघ्न उपस्थित करती हैं। किन्तु विघ्नों का परिणाम कभी कभी उलटा

होते भी देखा गया है। बाधापूर्ण परिस्थितियों में कभी कभी सामान्य से अधिक काम हो जाता है। इसका कारण यह है कि बाधायें व्यक्ति की इच्छा-शक्ति को उत्तेजित कर देती हैं और वह अपने व्यक्तित्व की समस्त शक्ति से बाधाओं को विजित करने में लग जाता है। ऐसी दशा में आत्म-गौरव की भावना उसे अधिक शक्ति दे देती है और इसीलिये कार्य-क्षमता बढ़ जाती है।

अवधान का विस्तार साधारणत: एक ही विषय तक सीमित रहता है। किन्तु मानव-मस्तिष्क में वस्तुओं का समन्वय करने की शक्ति है और इसीलिये कभी-कभी भिन्न भिन्न वस्तुओं को एक ही विषय के अंग बनाकर वह उनका आकलन करता हैं। इस प्रकार ५ या ६ वस्तुयें तक एक साथ ही ध्यान का विषय बनाई जा सकती हैं।

शारीरिक थकान की ही भाँति मानसिक थकान भी आती है। इसके दो कारण हो सकते हैं, एक तो शक्ति का क्षीण होना और दूसरा रुचि का न रहना। स्कूल में जो थकान के उदाहरण अक्सर पाये जाते हैं वे दूसरी प्रकार के ही होते हैं, वास्तविक शक्ति-क्षीणता की अवस्था प्राय: नहीं आती। अधिकांशत: अधिक समय तक एक ही प्रकार का काम करते रहने से जी ऊब जाता है। इस थकान को नवीन पद्धति की उद्भावना करके, विषय को बदल कर तथा छात्र की रुचि को उत्तेजित करके विजित किया जा सकता है। वास्तविक थकान को दूर करने के लिये विश्राम आवश्यक है इसके साथ ही बालकों के स्वास्थ्य पर भी विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि थकान को उत्पन्न करने में बुरे स्वास्थ्य का बहुत हाथ रहता है।

प्रश्न

(१ यदि आप के पाठ का विषय इतना रूखा है किप्र त्पन-रतहि

(passeive) अवधान सम्भव नहीं, तो आप बच्चों के ध्यान को किस प्रकार आकर्षित करेंगे ?

(२) किन मानसिक स्थितियों पर अवधान निर्भर करता है ? अवधान को प्राप्त करने में कक्षा-प्रयोग के लिये उपयुक्त उदाहरण दीजिये।

(३) अवधान के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिये तथा उनकी तुलनात्मक शिक्षा-सम्बन्धी उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।

(४) थकान का क्या अर्थ है ? स्कूल का समय-विभाग (time-table) किस प्रकार करना चाहिये जिससे थकान कम से कम हो ?

(५) अवधान तथा रुचि में क्या सम्बन्ध है ? बच्चों के ध्यान को आकृष्ट करने के लिये आज कल शिक्षक जिन प्रणालियों का उपयोग करते हैं उनमें से कुछ का वर्णन कीजिये।

प्रत्यक्षीकरण, पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष-एवं इन्द्रिय-शिक्षा।

Perception, Apperception and Sense-Training

प्रत्यक्षीकरण—नाड़ी-मंडल का वर्णन करते समय हमने बताया था कि हमारे समस्त शरीरमें बिजली के तारों की तरह तंतु-जाल फैला हुआ है। इस तंतुजाल में पाई जानेवाली दो प्रकार की नाड़ियों का जिक्र हमने किया था, ज्ञानवाही एवं गतिवाही। यही ज्ञानवाही नाड़ियाँ हमारे समस्त ज्ञान का कारण हैं, उसका भौतिक आधार हैं। वे हैं और हमारे ज्ञानार्जन-व्यापार में सहायता देती हैं, तभी हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है, यदि वे न रहें अथवा उचित रूप से काम करना बन्द कर दें तो हमें किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। वाह्य जगत से आनेवाली उत्तेजना पहले इन्हीं नाड़ियों को प्रभावित करती हैं। ये नाड़ियाँ उस उत्तेजना को मस्तिष्क में ले जाती हैं और तब हमें उसका ज्ञान होता है। यदि नाड़ियों में कुछ खराबी आ जाय और वे उत्तेजना को मस्तिष्क तक वहन न करें तो हमें उसका ज्ञान नहीं हो सकता।

निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष—रमा सितार वजा रही है। उसके सितार का शब्द हमारे कानों से आकर टकराता है। वहाँ से नादवाही नाड़ी उत्तेजना ग्रहण करती है और उस उत्तेजना को मस्तिष्क तक ले जाती है। तब हमारे मस्तिष्क को उस नाद

का ज्ञान होता है। यदि इस ज्ञान-क्रिया से हमें केवल शब्द का ही ज्ञान हो, वह मधुर है अथवा कर्णकटु हम यह न सोचें, किधर से आ रहा है, किस बाजे से निकला है आदि पर हम कुछ भी विचार न करें, केवल श्रवणेन्द्रिय के भेजे शब्द का ग्रहण भर कर ले तो कहा जायगा कि हमें उस शब्द का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (sensation) हुआ। इसे निर्विकल्पक कहा जाता है क्योंकि इसे सुनकर हमने इसके अतिरिक्त और अनुभवों को प्रयुक्त नहीं किया; अतीत में सुने अन्य अनेक शब्दों से इसकी तुलना नहीं की, उसके सम्बन्ध में कोई मत प्रकट नहीं किया, मानसिक व्यापार को केवल वर्तमान अनुभूति तक ही सीमित रक्खा। हम मेज़ पर बर्फ़ का टुकड़ा रक्खा देखते हैं। बर्फ़ के टुकड़े से निसृत प्रकाश-तरंगें चक्षुरिन्द्रिय को उत्तेजित करती हैं और वह उत्तेजना यथा नियम मस्तिष्क में पहुँचकर हमें बर्फ़ का ज्ञान देती है। हमें चक्षुरिन्द्रिय से रूप एवं वर्ण का ज्ञान हो सकता है, अतएव इस उत्तेजना के फलस्वरूप वर्ण अथवा रूप का जो कुछ भी ज्ञान हमें होता है वह हमारा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा जायगा क्योंकि इसमें दूसरी इन्द्रियों के एवं इसी इन्द्रिय के पूर्वकृत अन्य अनुभव शामिल नहीं है। हमारा ज्ञान इन्द्रिय के वर्तमान अनुभव का ही फल है—कल्पना, स्मृति आदि से बिलकुल ही प्रभावित नहीं है। इस ज्ञान को 'शुद्ध प्रत्यक्ष' भी कभी-कभी कहा जाता है। परन्तु ऐसा 'शुद्ध' अथवा 'निर्विकल्पक' प्रत्यक्ष हमें अपने वास्तविक अनुभवों में कभी मिलता नहीं। हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं उसे अपने पहले के अनुभवों से मिलाकर, तुलना करके ही, अपने ज्ञान-भण्डार में रखते हैं। किसी भी अनुभव को बिलकुल सम्बन्ध-रहित पड़ा रहने देकर हम उससे कोई लाभ नहीं उठा सकते, ऐसे अनुभव का हमारे लिये कोई अर्थ नहीं होगा। भिन्न-भिन्न अनुभवों के पारस्परिक सम्बन्ध, समन्वय,

आदि के द्वारा ही हम उन्हें जानते हैं। अत: अनुभव करने के साथ ही वह सम्बन्धीकरण-क्रिया होने लगती है और जो भी ज्ञान हमें होता है वह इन्हीं सम्बन्धों का ज्ञान होता है। हमारा मस्तिष्क कुछ ऐसा बना है कि बिना इस सम्बन्ध-स्थापना के वह रह ही नहीं सकता। सितार सुनने के साथ ही हमारा मन उसे सितार का नाद समझ लेता है। वह जान जाता है कि यह वायलिन, हारमोनियम, तबला का शब्द नहीं है, उनसे भिन्न है; सितार नामक एक विशिष्ट वाद्य-यंत्र से ही इस शब्द की सम्भावना हो सकती है। हम यह भी जानते हैं कि जिस ओर से यह ध्वनि प्रवाहित हो रही है उधर रमा का कमरा है और इस समय प्राय: नित्य वह सितार का अभ्यास भी करती है। सितार को सुनकर जो ज्ञान हमें हुआ कि रमा सितार बजा रही है वह निर्विकल्पक प्रयत्न नहीं हुआ। रमा तथा सितार नाद नहीं हैं और श्रवणेन्द्रिय हमें केवल नाद का ज्ञान दे सकती है; बजाने की क्रिया का हम प्रत्यक्ष नहीं करते, अतीतानुभव के आधार पर अनुमान कर लेते हैं। एक विशिष्ट आकार तथा वर्ण का पदार्थ मेज पर रखा देखकर जब उसे हम बर्फ़ कहते हैं तो हमारा बर्फ़ का ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। केवल वर्ण तथा आकार बर्फ़ नहीं हैं। बर्फ़ कहने के साथ ही हम उसका ठंढा होना भी स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु ठंढक देखी नहीं जा सकती, वह दृष्टि का नहीं, श्रवण का विषय है। अनुमान तथा कल्पना के सहारे ही हमारा यह ज्ञान चलता है। अत: हम इसे सविकल्पक प्रत्यक्ष (perception) कहते हैं।

सामान्य जीवन में हमें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्राय: नहीं मिलता। वैसा ज्ञान हो भी सकता है कि नहीं यह एक विवादग्रस्थ विषय है। जब हम अपना पहला अनुभव इस संसार में करते हैं तब शायद हमारा वह अनुभव शुद्ध प्रत्यक्ष कहा जा सके क्योंकि उस अनुभव

में सहायक होने के लिये कोई भी पहले का ज्ञान हमारे पास नहीं रहता। किन्तु पूर्णरूप से अनुभवहीन जीव का सर्व प्रथम अनुभव कब होता है, हमें उसका ज्ञान नहीं। कुछ मनोवैज्ञानिकों को तो इसमें भी सन्देह है कि ऐसा अनुभव कभी होता भी है क्योंकि कुछ न कुछ जन्म-जात संस्कार लेकर ही हम उत्पन्न होते हैं और वे संस्कार यदि हमारे चेतन जीवन को प्रभावित करते हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि हमारी सर्वप्रथम अनुभूति भी उन संस्करों के रंग में रँग नहीं जाती? शुद्ध प्रत्यक्ष, ज्यामिति के बिन्दु की तरह, हमारे लिये केवल काल्पनिक सत्य ही रहेगा, ऐसा सत्य जिसका वास्तविक ज्ञान हमें कभी नहीं होगा। इसलिये सविकल्पक तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को अलग-अलग न लेकर हम एक साथ ही उन पर विचार करेंगे तथा ज्ञानार्जन की इस क्रिया को 'प्रत्यक्षीकरण' (perception) नाम से पुकारेंगे।

ज्ञान के साधन हमारे पास ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं। जो भी ज्ञान हमें होता है वह किसी ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा ही हमारे मस्तिष्क तक पहुँचता है। इन इन्द्रियों के द्वारा उत्थापित प्रत्येक नया ज्ञान पूर्व ज्ञान के प्रकाश में ही ग्रहण किया जाता है। कुछ न कुछ संस्कार पूर्व अनुभव का अवशिष्ट रह ही जाता हैं। नया अनुभव होते ही पहला संस्कार जाग्रत हो जाता है और नया अनुभव उस संस्कार को और भी समृद्ध कर देता है। एक दिन हम दूकान पर रखे खीरमोहन देखते हैं; उनकी गोल-गोल आकृति एवं श्वेत वर्ण हमारे ध्यान को आकृष्ट करते हैं; पूछने से पता चलता है कि वे खोया-शकर से तैयार किये गये हैं। इस समस्त अनुभव का संस्कार मन पर अङ्कित हो जाता है। दुबारा जब हम खीर मोहन देखते हैं तो हमारा प्राचीन अनुभव पुनः जाग्रत हो जाता हैं। उन्हें देखते ही हम जान जाते है कि खीया से निर्मित हैं और मीठे हैं। खाने के बाद एक और गुण उस संस्कार में जुड़ जाता है। खीर मोहन की मिठास में पेड़ा

गुलाब जामुन, जलेबी आदि की मिठास से जो भिन्नता है वह भी खीर मोहन के संस्कार का अंग बन जाती है। खीर मोहन शब्द सुनकर उसका रूप देखकर, उसके सम्बन्ध का पूरा संस्कार, अस्पष्ट रूप से, जाग्रत हो जाता हैं। यही जाग्रत संस्कार उस शब्द का अर्थ कहलाता है। किसी भी वस्तु का अर्थ उससे सम्बन्धित समस्त पूर्व अनुभूतियों के संचित संस्कार ही होते है। इसीलिये पहले कहा था कि जहाँ हमने किसी अर्थ को ग्रहण किया वहीं पर ज्ञात अथवा अज्ञात में हम वर्तमान अनुभव का अतिक्रमण कर जाते हैं और हमारा ज्ञान 'शुद्ध प्रयत्न' न रह कर सविकल्पक प्रत्यक्ष बन जाता है।

प्रत्यक्षीकरण के प्रकार—हमारी ज्ञानेन्द्रियों की संख्या प्रायः पाँच बताई जाती है, आँख, कान, जिह्वा, एवं त्वचा। एक इन्द्रिय केवल एक ही प्रकार की अनुभूतियों को ग्रहण कर सकती है। देखने का काम आँख का है, सुनने का काम कान एवं सूघने का काम नाक करती है। जीभ केवल स्वाद का ज्ञान देती है और त्वचा केवल स्पर्श का। कान देख नहीं सकते और न आँखें सुनती ही हैं। अपने ही विषय तक सीमित रहने की यह विशिष्टता इनती प्रबल मात्रा में पाई जाती है कि किसी प्रकार आँख को उत्तेजित कीजिये उससे प्राप्त ज्ञान, रूप एवं वर्ण सम्बन्धी ही होगा। आँख में जोर का घूसा मारने पर आँख के सामने चिनगारियाँ उड़ती दिखाई पड़ेंगी चाहे आँख बन्द ही क्यों न हो। प्रत्येक इन्द्रिय इसी प्रकार अपने ही क्षेत्र का ज्ञान हमें देती है।

इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की विशिष्ट अनुभूतियों के अतिरिक्त कुछ और भी अनुभूतियाँ हमें होती हैं। उनके लिये हमें अन्य इन्द्रियों की कल्पना करनी होगी। हमें भूख और प्यास लगती है। उनका ज्ञान हमें अपनी इन इन्द्रियों में से किसी से भी नहीं होता। हमारे शरीर के

भीतर कुछ ऐसे अवयव भी होते हैं जो खाने अथवा पीने की कमी से उत्तेजित होकर अपनी उत्तेजना को मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्रों में भेजा करते हैं। उस उत्तेजना को ग्रहण करके ही हमें भूक-प्यास का ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान का हमारे शरीर के आभ्यान्तर में स्थित इन्द्रियाँ देती हैं। उन इन्द्रियों को हम बाहर से देख नहीं सकते, इसीलिये कभी-कभी हम उन्हें आन्तरिक इन्द्रियाँ (internal organs) भी कहते हैं।

हमें जो दूरी तथा गति का ज्ञान होता है वह भी एक ख़ास तरह का ज्ञान है और उपर्युक्त इन्द्रियों से उसका सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणत: हमारे सामने मेज़ पर पान रक्खा है। यदि आखें बन्द करके हम पान के लिये हाथ बढ़ावें तो हमारा हाथ बिना कोई लम्बी भूल किये सीधा पान पर ही जायगा कितनी दूरी तक हाथ को फैलावें कि वह पान तक पहुँच जाय यह एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान है जिसे देशानुभव (kinaestic sensation) कहा जाता है। शरीरावयवों, मांस पेशियों इत्यादि के संचालन में जो श्रम होता है वह वस्तु की दूरी के ज्ञान का कारण बनता है। अतएव यद्यपि सामान्यत: हम पाँच ही इन्द्रियों का नाम लिया करते हैं परन्तु हमारी इन्द्रियाँ पाँच से कहीं अधिक हैं।

प्रत्यक्षीकृत ज्ञान के तीन पक्ष—प्रत्यक्षीकरण के द्वारा जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसके तीन पहलू होते हैं। प्रत्यक्षीकरण की क्रिया किसी न किसी वस्तु को हमारे सामने उपस्थित करती है, उसका तात्विक अथवा यथार्थ रूप हमारे सामने लाती है। आम को देखकर, उसके रंग का, रूप का, ज्ञान हमें होता है; नाद को सुनकर उसकी तीव्रता, मधुरता, भारीपन आदि को हम जानते हैं। इसे प्रत्यक्षीकरण का तात्विक अथवा उपस्थापक (presentative) पक्ष कहा जा सकता है। वस्तु को उपस्थित करने, उसके सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान

देना, इसका काम है। प्रत्यक्षीकरण का दूसरा पक्ष प्रतिनिध्यात्मक (representative) होता है। देखा हुआ आम हमें अपने रंग-रूप का ही ज्ञान नहीं देता प्रत्युत वह हमारे लिए उस मिठास अथवा स्वाद का प्रतिनिधि बनकर आता है जिसका अनुभव उनको खाने से हमें होता है। किसी की चढ़ी हुई भौंहें, लाल आँखें एवं फड़कते हुये होठ हमें केवल वर्ण तथा रूप का ही ज्ञान नहीं देते वरन् वे कोध्र के प्रतीक बनकर हमारे सम्मुख आते हैं। अतएव तात्विक पक्ष के अलावा प्रत्यक्षीकरण का दूसरा पक्ष उसका प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप होता है। इसी प्रकार प्रत्येक प्रत्यक्षीकरण-क्रिया का एक और पक्ष होता है, वह अन्य अनुभवों से वर्तमान अनुभव का सम्बन्ध-ज्ञान भी हमें देता है। कार्य कारण का, छोटे-बड़े का, आधार-आधेय का, ज्ञान भी हमें होता हो है। इस सन्बन्ध-ज्ञान के फलस्वरूप हमें उन वस्तुओं का ज्ञान भी प्रायः बना रहता है जो हमारे वर्तमान प्रत्यक्षीकरण का विषय नहीं होतीं। जीन घोड़े का एवं कलम दावात का ज्ञान भी देते हैं, उनके सुप्त संस्कारों को जाग्रत करके हमारे अनुभव को विविधता-पूर्ण बनाने में सहायक होते हैं। इसे हम प्रत्यक्षीकरण का सम्बन्ध-पक्ष (relational aspect) कह सकते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों का स्वास्थ्य—हम देख चुके हैं कि हमारे ज्ञान का साधन हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं। अतः शिक्षक के लिए यह जानना परम आवश्यक है कि उसके विद्यार्थियों की सब इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं अथवा नहीं। यदि इन्द्रिय सम्बन्धी विकार विद्यार्थी में है तो उसका उचित उपचार होना चाहिये अन्यथा शिक्षक का श्रम बिल्कुल व्यर्थ होगा, उससे छात्र किसी प्रकार का लाभ नहीं उठा सकेगा। प्रायः देखने में आता है कि बालक की आँखें कमजोर हैं अतएव वह श्याम-पट पर लिखी हुई आवश्यक बातें देख नहीं सकता। दृष्टि-दोष तो स्कूल में पढ़ने वाले छात्रों में पाया जाता है। छोटे-छोटे अक्षरों

में लिखी पुस्तकें पढ़ने तथा अनेक सूक्ष्म भेदों को स्पष्ट रूप से जानने के प्रयत्न में बच्चों की आँखें कमजोर हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त स्कूल के कमरों में प्रायः प्रकाश का उचित प्रबन्ध भी नहीं होता। अतः हमें दृष्टि को खराब करने वाले कारणों को यथा-सम्भव दूर करना चाहिये जिससे बालक शिक्षा से उचित लाभ उठा सकें। ऊँचा सुनने के कारण अनेक बालक कक्षा से पढ़ाये गये विषय से अनभिज्ञ रह जाते हैं। अतः कम सुनने वाले बच्चों के लिये भी शक्ति भर सुविधा तथा चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। अध्यापक डाक्टर नहीं है, उसका काम इन रोगों का उपचार करना नहीं है। रोग का स्थूल रूप से पता लगा कर किसी विशेषज्ञ के पास भेज देना ही उसका काम है। हाँ, दरजे में उपयुक्त स्थान देकर, पढ़ाते समय ऐसे विद्यार्थियों का ख़ास ध्यान रख कर, वह उन्हें काफ़ी सहायता दे सकता है।

इन्द्रिय शिक्षा—किन्तु ज्ञानेन्द्रियों का स्वस्थ होना ही पर्याप्त नहीं है। सामान्यतः स्वस्थ इन्द्रियां भी हमें तब तक ज्ञान नहीं दे सकतीं जब तक हम उनका उचित उपयोग न करें। बैंक में रखा रुपया हमारे लिए पुस्तकें नहीं खरीद सकता और न अलमारी में बन्द पुस्तकें हमें ज्ञान ही दे सकती हैं। अतः ज्ञानार्जन के लिए दोनों बातें परम आवश्यक हैं, हमारी इन्द्रियाँ स्वस्थ हों तथा हम उनका उचित उपयोग करें। इनमें से दूसरे के लिए अध्यापक ही विशेष रूप से दायी है। उसे बच्चों को निरीक्षण (observation) करने का अभ्यास डलवाना चाहिये, निरीक्षण करने की ठीक विधि बताना चाहिये। तथा अभ्यास के द्वारा प्रकृतिदत्त हथियारों को तीक्ष्ण बनाना चाहिये। वातावरण का प्रभाव देखते समय यह बताया जा चुका है कि यदि हमारी मानसिक शक्तियों को आरम्भिक अवस्था में ही विकसित होने का अवसर नहीं मिलता तो वे प्रायः कुण्ठित हो जाती हैं और बाद का भगीरथ प्रयत्न भी उन्हें

ठीक नहीं कर सकता। भेड़ियों की मांद में पले बच्चे इसका सबसे श्रेष्ठ उदाहरण हैं। अतः बच्चों में निरीक्षण-शक्ति के सम्यक् विकास के लिये इन्द्रिय-शिक्षा का उचित प्रबन्ध आरम्भ से ही करना चाहिये।

इन्द्रिय शिक्षा की ओर आधुनिक शिक्षा-शास्त्र का विशेष ध्यान है। फ्रोबुल की किंडर गार्टन प्रणाली अनेक प्रकार से बच्चों की इन्द्रियों को शिक्षित करने पर जोर देती है। मांटीसरी विधि में जो शिक्षोपकरण (didactic apparatus) प्रयुक्त होता है उसका उद्देश्य भी बच्चों की भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को विकसित करना ही है। रुई तथा ऊन के विविध उपकरणों के द्वारा स्पर्श-शक्ति का विकास किया जाता है एवं छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की गोलियों से भरे बक्सों को हिलाकर उनकी आवाज को सुन कर, अन्दर की वस्तु का पता लगाने से श्रवणेन्द्रिय का विकास होता है। कद तथा आकार का ज्ञान भिन्न-भिन्न सूराखों में उपयुक्त काठ के टुकड़ों को बिठा कर दिया जाता है। इस तरह की शिक्षा बच्चों को अपनी इन्द्रियों को सजग रखने का पाठ पढ़ा देती हैं तथा उनकी निरीक्षण-शक्ति (power of observation) बहुत बढ़ जाती है।

रेखा-गणित (geometry) में बालकों से जो बहुत सा क्रियात्मक (practical) उद्योग कराया जाता है उसका भी यही उद्देश्य है। भाँति-भाँति के त्रिकोण बनाकर, अनेक प्रकार के समकोण चतुर्भुज (rectangles) कागज़ के बना-बना कर, काटने से बच्चों का इन्द्रियानुभव बढ़ता है। गिनती पढ़ाने में गोलियों को गिनाने की प्रथा में इन्द्रिय-शिक्षा का उद्देश्य भी, अन्य बातों के साथ है। छोटी अवस्था के बालकों को शिक्षा देते समय इस प्रकार की सामग्री का अधिक उपयोग करना आवश्यक होता भी है। सूक्ष्म सिद्धान्तों को बाल-बुद्धि सहसा नहीं ग्रहण कर सकती, स्थूल की सहायता इन्द्रियों को उत्तेजित करने तथा उनको साधने का अभ्यास डालने में करना ही

पड़ता है। परन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिये कि ये सब साधन ही हैं। उनको आवश्यकता से अधिक महत्व देकर हमें साध्य नहीं बना देना चाहिये। सूक्ष्म को ग्रहण करना ही शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है और स्थूल का प्रयोग उस की प्राप्ति का साधन है। अन्य मानवीय कर्मों की ही भाँति यहाँ भी भी 'अति' हो सकती है और पण्डितों ने अति का वर्जन किया है।

बालकों की निरीक्षण-शक्ति का विकास करना बहुत जरूरी है। प्रयोगों से पता चलता है कि जो गलतियाँ बच्चे करते हैं उनमें से अधिकतर इसीलिये करते हैं कि वस्तु अथवा परिस्थिति का ठीक-ठीक निरीक्षण उन्होंने नहीं किया है। अतएव प्रकृति-पाठ (nature study) पढ़ाते समय बच्चों को वन अथवा बाग़ में ले जाकर फूल, वृक्ष,पक्षी इत्यादि का निरीक्षण कराना चाहिये। शिक्षक उनके निरीक्षण में सहायता करेगा, जहाँ पर ग़लती की सम्भावना होगी उससे उनको सूचित करेगा, एवं कुछ ऐसे प्रश्न, सहायता के उद्देश्य से, उन्हें पहले दे देगा जिनसे निरीक्षण सफलता पूर्वक चल सके। अपने-अपने निष्कर्षों की अन्य विद्यार्थियों के निष्कर्षों से तुलना करके वे बहुत कुछ सीख जायँगे। इसी प्रकार इतिहास-शिक्षा में ऐतिहासिक इमारतों को देखना एवं विशिष्ट-वस्तु-संग्रहालय (museum) आदि के द्वारा निरीक्षण का काफी अच्छा अभ्यास कराया जा सकता है। निरीक्षण का उचित विकास करना तथा उसका अभ्यास करना शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग होना चाहिये। हम लोगों के अधिकांश अपूर्ण अथवा भ्रामक ज्ञान का दायित्व भली भाँति निरीक्षण न करने की आदत का ही परिणाम होता है।

पूर्वानुवर्ती ज्ञान (apperception)—हर्बार्ट ने शिक्षा-सम्बन्धी अपने लेखों में पूर्वानुवर्ती ज्ञान पर विशेष जोर दिया है। सविकल्पक प्रत्यक्ष का वर्णन करते समय हम देख चुके हैं कि जो भी

नया ज्ञान हम प्राप्त करते हैं उसको अपने पूर्वज्ञान से सम्बन्धित करके ही हम जानते हैं। हम कुछ तो इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं और कुछ पूर्व अनुभव के आधार पर, अनुमान अथवा कल्पना के सहारे, उसमें जोड़ लेते हैं। वस्तु को देखकर अथवा शब्द को सुनकर हम उसका जो अर्थ लगाते हैं, उनका अधिक भाग हमारे मन के द्वारा जोड़ा हुआ होता है, बहुत थोड़ा प्रत्यक्ष किया जाता है। बर्फ देखते ही उसे ठंडा समझना, शकर को मिठास से सम्बद्ध कर लेना, पूर्व ज्ञान के ही आधार पर संभव होता है। हमारे मस्तिष्क में जो विचार अथवा भाव पहले से रहते हैं वे प्रत्येक नवीन प्रत्यक्ष को प्रभावित किया करते हैं। कड़ुवी दवा पीकर एक बार परेशान हो चुकने वाला बालक दुबारा शर्बत भी नहीं पीता। रूप-साम्य को देखकर वह उसमें स्वाद साम्य की कल्पना से स्थापित कर लेता है नया ज्ञान पूर्व-ज्ञान का अनुवर्ती होता है, उसी के सहारे टिक सकता है। पूर्वज्ञान से बिलकुल सम्बन्ध रहित होकर किसी प्रकार का ज्ञान हमें नहीं हो सकता, 'शुद्ध' अथवा 'निर्विकल्प' ज्ञान असंभव है, ज्ञान सविकल्प ही होता है। अतएव ज्ञानार्जन को सफल बनाने के लिये अध्यापक को चाहिये कि नये ज्ञान को पूर्व ज्ञान के ही सहारे दे, नवीन ज्ञान का आधार पूर्व ज्ञान को ही बनावे। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य को हर्बार्ट ने पूर्वानुवर्ती ज्ञान नाम देकर प्रकट किया है।

बात ठीक है। ज्ञान पूर्वानुवर्ती ही होता है ज्ञानार्जन में शीघ्रता एवं सफलता की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को नवीन ज्ञान का आधार पूर्वज्ञान बनाना ही पड़ेगा। परन्तु शिक्षा-जगत् में जैसा तहलका इस सिद्धान्त की तथाकथित 'नवीनता' ने मचा रक्खा है, उसका कोई उपयुक्त कारण हमें नहीं दिखाई पड़ता। प्रत्यक्षीकरण का वही पुराना सिद्धान्त प्राय: नये शब्दों में शिक्षा-शास्त्र में ले लिया गया है। हर्बार्ट ने कुछ नवीन मनोवैज्ञानिक खोज नहीं की है, मनोविज्ञान

के सुपरिचित सिद्धान्त को शिक्षा में प्रयोग भर किया है। किन्तु यह कार्य भी स्तुत्य ही है। सिद्धान्त बिलकुल नया न होने पर भी शिक्षा में उसको इस प्रकार प्रयुक्त करने का उपाय अवश्य ही नया है और इसका श्रेय हर्बार्ट को ही प्राप्त है।

आजकल प्रत्येक नये पाठ को पुराने ज्ञान से ही जोड़ने का जो प्रयास किया जाता है उसका कारण यही सिद्धांत है। भूगोल के सिद्धांत विद्यार्थियों के नित्य जीवन में उठनेवाली वास्तविक समस्याओं से संबंधित करके सिखाना, रसायन-शास्त्र का बहुत-सा ज्ञान तेल, साबुन, खाद्य-वस्तुओं जैसी नित्य प्रयोग में आनेवाली विविध सामग्री पर आधारित करना, एवं अर्थशास्त्र में अनेक दैनिक परिस्थितियों का विस्तृत एवं उपयोगी अध्यन कराना इसी सिद्धांत को महत्त्व देने का परिणाम है। फिर भी, स्टार्च ने लिखा है, अंध-श्रद्धा के कारण हमें इस सिद्धांत की ससीमता को न भूल जाना चाहिए। आखिर नबीन एवं प्राचीन का सम्बन्धीकरण केवल तीन प्रकार से ही सम्भव है—(१) उन दो ज्ञात बातों में संबन्ध दिखाना जिनमें पहले किसी सम्बन्ध का ज्ञान नहीं था, (२) एक ज्ञात तथा दूसरी अज्ञात वस्तुओं में सन्बन्ध निर्देश करना, (३) दोनों ही अज्ञात वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करना। अन्तिम प्रकार की सम्बन्ध स्थापना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है और पूर्वानुवर्ती ज्ञान का सिद्धान्त प्रथम तथा द्वितीय परिस्थितियों में ही प्रयुक्त किया जा सकता है हाँ, उन दोनों परिस्थितियों में पूर्वानुवर्ती ज्ञान का सिद्धांत अवश्य वहुत सहायक सिद्ध होगा जहाँ तक संभव हो हमें इस सिद्धांत का उपयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से रूखा विषय भी सरस हो जाता है, असम्बद्ध तथा अनावश्यक बातें सम्बद्ध एवं सप्रयोजन बन जाती हैं, नवीन ज्ञान में हमारी रुचि उत्पन्न हो जाती है। विषय को रुचिकर बनाना शिक्षा-कार्य का उत्तमांश ही

समझना चाहिये। अतः पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष का उचित प्रयोग बहुत लाभकारी है।

सारांश—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ वाह्य जगत से प्राप्त होने वाली उत्तेजना को ग्रहण करती हैं एवं ज्ञानवाही नाड़ियों के द्वारा उसे मस्तिष्क तक पहुँचाती है। मस्तिष्क उस उत्तेजना को ग्रहण करके हमें उसका ज्ञान देता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं।

प्रत्यक्षीकरण दो प्रकार का हो सकता है, निर्विकल्प एवं सविकल्पक। जब हमारा मस्तिष्क केवल प्राप्त उत्तेजना को ही ग्रहण करता है, पूर्व अनुभव अथवा ज्ञान के सहारे उसमें किसी अर्थ की उद्भावना नहीं करता, तो उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। अतीत अनुभव एवं पूर्वज्ञान से जब हम वर्तमान अनुभव का कुछ अर्थ निकालते हैं तो उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है। दिखाई न पड़ने वाले किसी व्यक्ति के शब्द को सुनकर, केवल नाद-ज्ञान प्राप्त करना निर्विकल्पक होगा परन्तु वह शब्द किस व्यक्ति का है, साधारण है अथवा क्रोध से युक्त इन सब बातों को जानना सविकल्प प्रत्यक्ष कहा जायगा। निर्विकल्पक-ज्ञान हमें प्रायः होता ही नहीं। प्रत्येक नया अनुभव अतीत अनुभव के प्रकाश ही में हमें प्रभावित करता है। अतः हमारा ज्ञान अधिकांशतः सविकल्पक ही होता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हमें पाँच भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान देती हैं, आँख वर्ण एवं आकार का, कान शब्द का, नाक गंध का, जिह्वा स्वाद का तथा त्वचा स्पर्श का। इसके अतिरिक्त कुछ आंतरिक इन्द्रियाँ भूख प्यास आदि तथा मांसपेशियाँ आदि देश एवं गति का ज्ञान देती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विशिष्ट ज्ञान को ही देती हैं। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का काम नहीं कर सकती।

प्रत्यक्षीकरण जो ज्ञान हमें देता है उसके तीन पक्ष होते हैं। एक

पक्ष को हम तात्विक अथवा उपस्थापक (presentativc) कह सकते हैं। प्रत्येक प्रत्यक्षीकरण किसी न किसी सत्य को हमारे सामने उपस्थित करता है। दूसरा पक्ष प्रतिनिध्यात्मक (representativy) कहा जा सकता है। देखा हुआ आम मिठास का तथा बर्फ ठंढक के प्रतिनिधि होते है। तीसरा पक्ष सम्बन्ध पक्ष (relational aspect) कहलाता है। प्रत्येक नवीन अनुभव पूर्व अनुभवों से अपने सम्बन्ध का ज्ञान भी हमें देता है। छोटा-बड़ा, श्वेत-काला आदि इसी प्रकार के सम्वन्ध हैं।

शिक्षक को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि विद्यार्थियों की इन्द्रियाँ (senses) स्वस्थ हों। यदि किसी ज्ञानेन्द्रिय में कोई कमी हो तो उपचार की व्यवस्था करनी चाहिये। स्कूल में स्वास्थ्य का यथासम्भव उत्तम प्रबन्ध रहना चाहिये, प्रकाश आदि की कमी तथा गलत आसन से आँखें खराब न हों इसका ध्यान रखा जाना चाहिये। दृष्टि-दोष से युक्त तथा ऊँचा सुनने वाले बच्चों को आगे बिठाना चाहिये जिससे उनकी कम से कम हानि हो।

इन्द्रिय, शिक्षा का, छोटे बालकों के लिये, विशेष प्रबन्ध करना चाहिये। किंडर-गार्टन तथा मांटीसरी-पद्धति में बालकों की ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करने की अच्छी सामग्री का प्रबन्ध है। उसके उपयोग से बालकों की इन्द्रियाँ प्रखर होती हैं, उनका विकास होता है। हमें प्रकृति-शिक्षा इतिहास-पाठन तथा गणित इत्यादि में लड़कों को अपनी इन्द्रियों के उचित प्रयोग का अभ्यास कराना चाहिये। अकेला सिद्धान्त-ज्ञान काफ़ी नहीं है, उसे बालकों के द्वारा, किये हुये निरीक्षण के द्वारा प्रामाणिक बनाना आवश्यक है।

नया ज्ञान बालकों को उनके पूर्व ज्ञान से सम्बन्धित करके देना चाहिये। ज्ञान प्राप्त करने का यही ढंग है। असम्बद्ध, अन्य-निरपेक्ष ज्ञान, जिसे 'शुद्ध' प्रत्यक्ष' कहा गया है प्राय: होता ही नहीं। सवि-

कल्पक प्रत्यक्ष ही सम्भव है। इसी के आधार पर हर्बार्ट ने पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष का सिद्धान्त निकाला है। इस सिद्धान्त में इस बात पर जोर दिया जाता है कि जो बात हमें बालकों को सिखाना हो उसे उनके पूर्व ज्ञान से सम्बन्धित करके उसी के आधार पर, सिखाना चाहिये। इसका आधुनिक शिक्षा-शास्त्र में बड़ा मान है। सिद्धान्त कोई नई खोज नहीं है, हाँ, शिक्षा-शास्त्र में उसका प्रयोग अवश्य आधुनिक है। जहाँ तक बने हमें इस सिद्धान्त का उपयोग शिक्षा देते समय करना चाहिये।

प्रश्न

(१) निम्नांकितों पर टिप्पणियाँ लिखिये—
(अ) रुचि का निरीक्षण पर/प्रभाव।
(इ) शिक्षा में हस्तकौशल का स्थान।

(२) निरीक्षण का क्या अर्थ है? उसका प्रत्यक्षीकरण (sensa tion) तथा पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष (appereeption) से क्या सम्बन्ध है?

(३) इन्द्रिय-शिक्षा (sense-training) से आप क्या समझते हैं? स्कूलों में क्या तथा कैसे इन्द्रिय-शिक्षा दी जा सकती है?

(४) 'पूर्व परिचय' (apperception mass) किसे कहते हैं? उन तरीकों का वर्णन कीजिये जिनका प्रयोग आप बच्चों के इस 'पूर्व परिचय' को समृद्ध करने में करेंगे।

स्मृति तथा विचार-सम्बन्ध

(Memory and Association of Ideas)

स्मृति (Memory)—मन की मूल,शक्तियों की चर्चा करते समय हमने संचय शक्ति का वर्णन किया था। हमारे मन में अनुभवों को संचित कर रखने की शक्ति होती है। सम्पूर्ण अनुभव, अपने अविकल रूप में, संचित नहीं किया जाता, उसका संस्कार मात्र शेष रह जाता है। अतीत अनुभव का यह अवशिष्ट संस्कार हमारे वर्तमान आचरण को प्रभावित तो किया करता है किन्तु उसकी चेतना हमें सदा नहीं रहती। यही मन की मूल-शक्ति जब चेतना से युक्त रहती है तो ह" उसे स्मृति (memory) कहने लगते हैं। आचरण स्मृति 'संचय कहलाती है एवं चेतन संचय ही 'स्मृति' है। संचय-शक्ति प्राणिमात्र में होती है, स्मृति उच्चवर्ग के जीवधारियों, विशेषत: मनुष्यों में ही पाई जाती है। विचार, कल्पना आदि जितनी बौद्धिक क्रियायें मानव वैशिष्ठ्य की बोधक हैं उन सबका आधार स्मृति ही है। हम जो अनुपस्थित व्यक्तियों के सम्बन्ध में बात किया करते हैं, अतीत घटनाओं की आलोचना किया करते हैं एवं भविष्य का कल्पना-चित्र निर्मित किया करते हैं वह सब स्मृति के ही सहारे। मनुष्य के मानसिक जीवन में स्मृति का बड़ा ही गौरवपूर्ण स्थान है।

अभी हमने देखा कि संस्कारों को केवल बंचित करना ही स्मृति के लिए पर्याप्त नहीं होता। हम उसी अनुभव को स्मृति कह सकेंगे जिसमें वर्तमान परिस्थिति को अतीत का ही पुनरावर्तन समझा गया हो। जब हम किसी शब्द, वस्तु, परिस्थिति को देखकर पहचान सकें कि

पहले भी यह सम्पूर्ण परिस्थित अथवा इसका कोई भाग हमारे अनुभव का विषय रहा है, वह हमारे लिये एकदम नवीन अथवा अपरिचित नहीं है तभी उसे स्मृति कहा जा सकेगा। किसी व्यक्ति को हमने बहुत दिन पूर्व देखा था। आज उसे फिर सामने देखकर यदि हम यह सोचें कि यह व्यक्ति पहले हमसे मिल चुका है, उसे आज हम पहले-पहल नहीं देख रहे हैं, तो अपने इस अनुभव को हम स्मृति कह सकेंगे। वह कब, कहाँ, किस सम्बन्ध में मिला था इसकी याद हमें हो चाहे न हो, पहचान (recognition) होना चाहिये। जहाँ पहचान भी नहीं होती, वहाँ स्मृति नहीं हो सकती। पहचान के बिना अनुभव स्मृति कहला ही नहीं सकता स्मृति का अवश्य अपेक्षित लक्षण पहचान है।

प्राय: ऐसा होता है कि हम किसी पुस्तक का अथवा किसी लड़के का नाम स्मरण करना चाहते हैं, पर नाम याद नहीं आता। ऐसा मालूम पड़ता है कि नाम ज़बान पर रक्खा है, बस स्मृति में आने ही वाला है। पर वह आता नहीं, स्मृति काम नहीं करती। तब हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यदि कोई अनेक नाम गिनने लगे जिनमें यह भी एक हो तो उस नाम को हम पहचान सकते हैं यद्यपि अपनी ओर से उसे बता नहीं सकते; उसकी पहचान हमें है, स्मरण नहीं है। संचित संस्कारों को पहचान सकने की शक्ति ही स्मृति के लिये जरूरी है, अनिवार्य है; किसी भी अनुभव को स्मृति नाम देने के लिये कम से कम इतना तो होना ही चाहिये।

परन्तु यह तो स्मृति का निम्नतम स्तर है। इससे ऊँची श्रेणी की स्मृति से स्मरण (recall) भी होता है। आवश्यक होने पर यदि हम पुस्तक का नाम भी बता सकें, लड़के को सामने देख कर नाम लेकर उसे पुकार भी सकें अथवा नाम सुन कर उसका मानसिक चित्र भी हमारी चेतना में स्पष्ट हो उठे तो कहा जायगा कि हमने उसका

स्मरण (recall) किया है। सुने हुये गीत का गान, पढ़ी हुई कविता का पाठ अथवा किसी देखी हुई घटना का वर्णन इसी शक्ति के द्वारा सम्भव होता है। उच्च कोटि का मानसिक विकास तभी हो सकता है जब हम अपनी अतीत अनुभूतियों को जरूरत पड़ने पर स्मरण कर सकें हमारी समस्त शिक्षा एवं अभ्यास व्यर्थ ही हैं यदि वक्त पर स्मरण किये जाकर वे हमारी सेवा में नहीं प्रयुक्त हो सकते।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि स्मृति के हम तीन अंग मान सकते हैं—संचय (retention), पहचान (recognition) एवं स्मरण (recall)। जब हम अतीत अनुभव को स्मरण नहीं भी कर पाते हैं, किन्तु उसके दुबारा उपस्थित होने पर उसे पहचान लेते हैं, तो हम उसे भी स्मृति कह सकते हैं। किन्तु जहाँ पहचानना भी सम्भव नहीं होता वहाँ स्मृति नहीं होती।

संचय, पहचान एवं स्मरण इन तीन गुणों से युक्त यह स्मृति एक विलक्षण शक्ति है। किसी भी अतीत-अनुभूति को स्मृति के द्वारा फिर से अनुभव किया जा सकता है। इसी के सहारे अपने बचपन के सुखद जीवन को हम अमर बना सकते हैं, किशोर जीवन के प्रथम, मधुर मादक स्नेह को एक युग बीत जाने के बाद भी स्मरण कर उस परम तृप्ति को एक बार फिर प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे समस्त जीवन की कदाचित् सबसे मूल्यवान निधि है। इसी की कठोरता के फल-स्वरूप हमारा गत दुर्भाग्य, सुख के दिनों में भी, दुख की बहिया से जीवन को भर देता है। दो दिन पहले का तृप्ति-कर भोजन पशु के लिये अब जैसे है ही नहीं, किन्तु पच्चीस वर्ष पहले सुने हुये संगीत की मधुर स्वर-लहरी आज भी हमारे कर्णकुहरों को अपनी उन्मादक रागिनी सुना जाती है। हमारे सुख-दुख को, सौभाग्य-दुर्भाग्य को, आनन्द-पीड़ा को अमरता देने वाली स्मृति ही है।

यह स्मृति एक जन्मजात शक्ति है। अन्त जन्मजात शक्तियों की

ही भाँति इसकी मात्रा में भी हमारा प्रयत्न बृद्धि नहीं कर सकता, वंशानुक्रम अथवा प्रकृति-वैलक्षण्य (freak of nature) प्रत्येक व्यक्ति में इसका परिमाण पहले से ही निश्चित कर देता है। उसकी सम्भावनाओं की सीमा जन्मकाल से ही निर्धारित हो चुकती हैं। उसको बढ़ाना, मानव-विकास की वर्तमान स्थिति में, सर्वथा असम्भव है। हम केवल स्मरण करने के ढंग को अधिक सुसगठित करके, अवधान को अधिक सफलतापूर्वक केन्द्रित करके, एवं स्मरणीय वस्तु को भिन्न-भिन्न सम्बन्धों में गुम्फित करके ही स्मृति को उन्नत कर सकते हैं। विकास स्मरण शक्ति में नहीं, उसके प्रयोग करने की विधि में ही संभव है। अत: यद्यपि स्मरण शक्ति बढ़ नहीं सकती फिर भी उसको अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है, कम समय में अधिक बातें याद की जा सकती हैं, जिसका परिणाम एक प्रकार से स्मृति-वर्द्धन के ही तुल्य होता है। परन्तु यह उन्नति उसी दिशा में हो सकती है जिधर प्रयास किया जायगा, एक ओर का अभ्यास सब क्षेत्रों में संक्रमित नहीं हो सकता। कालिदास के छन्दों को कंठाग्र करने का अभ्यास करने वाला व्यक्ति धीरे-धीरे एक नियत समय में कालिदास के काव्य की अधिक पंक्तियाँ याद करने लग सकता है, कदाचित् अन्य काव्य के स्मरण करने में भी उसे कुछ कुशलता मिल सकती है; परन्तु इस अभ्यास के परिणाम स्वरूप गणित के नियम अथवा व्याकरण के सूत्र कंठाग्र करने में उसे कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती। जिस प्रकार का विषय कंठाग्र करने का अभ्यास किया गया है उसी में, अथवा उससे बहुत मिलते-जुलते विषय में ही, लाभ हो सकता है। कारण यह है कि दोनों परिस्थितयों में जितना भाग समान है उसको याद करने में प्राय: न समय ही लगता है और न श्रम ही। वह तो सतत अभ्यास से याद ही सा है, केवल नवीन भाग पर ही सब प्रयास केन्द्रित हो जाता है। इसके अतिरिक्त अभ्यास के कारण अनेक प्रकार

की बातों को देखने के लिये हम पहले से प्रस्तुत रहते हैं। अभ्यास ने उनके लिये तैयार रहना हमें सिखा दिया है। अत: बिना समय का अव्यय किये उन बातों को हम ग्रहण कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में और अधिक विवेचन शिक्षा संक्रमण शीर्षक अध्याय में आगे किया जायगा।

स्मृति के प्रकार—प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक बर्गसन ने स्मृति के दो विभाग किये हैं; आदत जन्य स्मृति (habit memory) तथा कल्पना चित्र-संयुक्त स्मृति (image memory)। जिस स्मृति का सहारा केवल रटन है, बार-बार की आवृत्ति ही है जिसमें संस्कार दृढ़ हो जाता है और उपयुक्त उत्तेजना पाकर, आदत के बल से ही पूर्व क्रिया दोहराई जाने लगती है उसे आदतजन्य स्मृति बताया है। इसका विस्तृत वर्णन आदत के सम्बन्ध में हो चुका है। वास्तव में इसे स्मृति कहना ही नही चाहिये। दूसरे प्रकार की स्मृति जिसे वास्तविक स्मृति (true memory) कहना चाहिये और जिसे बर्गसन ने कल्पना-चित्र-संयुक्त स्मृति कहा है वह है जिसमें आत्म-चेतना रहती है तथा पूर्वानुभूति, देश, काल, परिस्थिति आदि का भी ज्ञान रहता है। वास्तविक स्मृति का आधार मानसिक होता है, केवल शारीरिक नहीं। उसमें केवल पूर्वक्रम की यांत्रिक आवृत्ति नहीं की जाती। सोच-समझकर, चेतन आचरण के द्वारा उनके संस्कार पड़ते हैं, और यद्यपि दीर्घ काल के अभ्यास से कभी-कभी वे भी आदत की ही तरह यांत्रिक हो जाते हैं परन्तु दोनों का उद्भव उनके अन्तर को स्पष्ट करता है। यहाँ पर बर्गमन के 'कल्पना-चित्र संयुक्त' शब्द का प्रयोग ठोक नहीं है क्योंकि वास्तविक स्मृति में भी चित्र सदा नहीं बनते। हम अनेक अर्थों को बिना किसी विशिष्ट कल्पना-चित्र के ही ग्रहण किया करते हैं। बर्गसन का लक्षण उन सबको स्मृति के क्षेत्र से ही बाहर निकाल देता है।

हम देखते हैं कि कुछ लोगों की स्मृति बहुत तेज होती है और कुछ लोगों की मन्द। कुछ लोग एक दिन में कविता की ४०-५० लाइनें तक कंठाग्र कर सकते हैं और कुछ १०-१५ लाइनें भी अपनी सामर्थ्य के बाहर पाते हैं। कुछ लोग किसी विषय को याद तो शीघ्र ही कर लेते हैं परन्तु उसे भूल भी शीघ्र ही जाते हैं। दूसरे याद तो देर में कर पाते हैं परन्तु एक बार याद कर लेने पर वे उसे भूलते कभी नहीं अथवा बहुत देर में भूलते हैं। इस सम्बन्ध में एक भ्रान्त धारणा का प्रचार देखने में आता है। लोगों का ख़याल है कि शीघ्र याद करने वाले शीघ्र भूलने वाले भी होते हैं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। मैकाले बहुत शीघ्र किसी भी विषय को याद कर लेता था और फिर उसको कभी भी वह भूल गया हो, ऐसी शिकायत का उल्लेख उसके खिलाफ कहीं नहीं मिलता। लोकमान्य तिलक भी, सुनते हैं, शीघ्र स्मरण करते थे एवं देर तक संचित भी रखते थे। इस तरह के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। उचित तो यही मालूम पड़ता है कि जिसकी स्मरण-शक्ति तेज है उसे केवल जल्दी याद ही नहीं करना चाहिये प्रत्युत उस संस्कार को अधिक समय तक संचित भी रखना चाहिये। फिर भी ऐसे लोग पाये जाते हैं जो जल्दी याद करके जल्दी ही भूल जाते हैं या जिन्हें याद तो देर में होता है किन्तु एक बार संस्कार ग्रहण करने के बाद जो साधारणतः उसे बहुत काल तक बनाये रखते हैं। कुछ लोगों को नाम अथवा तिथियाँ तो खूब याद हो जाती हैं किन्तु वे लोगों की शकल बिलकुल ही नहीं पहचान पाते। कुछ लोग रटने का काम तो आसानी से कर लेते हैं, किन्तु युक्तियाँ तथा तर्कपूर्ण विषय को उतनी सरलता से नहीं याद कर पाते। इसके विपरीत किसी-किसी को, प्रायः प्रतिभाशाली व्यक्ति को, युक्तियाँ एवं उनका क्रम तो आसानी से याद हो जाता है, यद्यपि अर्थहीन अथवा असम्बद्ध विषय उन्हें बिलकुल ही याद नहीं हो

पाता। छोटी उम्र के बच्चे युक्तियाँ मुश्किल से समझ सकते हैं यद्यपि स्थूल अथवा अर्थहीन विषय को वे सामान्यतया प्रौढ़ों से अधिक शीघ्रतापूर्वक याद कर लेते है। मस्तिष्क के विकास के साथ ही सूक्ष्म को समझने एवं उसे याद करने की शक्ति भी बढ़ती जाती है।

स्मृति की उन्नति—हम देख चुके हैं कि स्मृतिशक्ति की एक विशेष मात्रा लेकर ही प्रत्येक व्यक्ति उत्पन्न होता है, उसमें वृद्धि कर सकना हमारी शक्ति के बाहर है। हां, मानसिक शक्तियों का बहुत कुछ शारीरिक स्वास्थ्य से भी सम्बन्ध होता है। अतएव जब स्वास्थ्य खराब हो जाता है तो स्मृति भी प्राय: ख़राब होते देखी जाती है, स्वास्थ्य के सुधारते ही उसका भी सुधार हो जाता है। घी, बादाम आदि स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन जो स्मृतिवर्द्धक समझे जाते हैं वह इसीलिए कि स्वास्थ्य अच्छा होने पर स्मृति भी अच्छी हो जाती है। किन्तु इन कृत्रिम उपायों से नई स्मृति का जन्म नहीं, खोई हुई स्मृति की प्राप्ति ही हो सकती है। तब फिर क्या इस शक्ति को बढ़ाने का कोई साधन नहीं? मनोवैज्ञानिकों ने स्मृति एवं सीखने की प्रक्रिया का भली प्रकार अध्ययन करके यह पता लगाया है कि यद्यपि हम स्मृति में वृद्धि नहीं कर सकते परन्तु उसकी क्रिया को इस प्रकार व्यवस्थित कर सकते हैं जिससे स्मृति-व्यापार में समय एवं शक्ति की काफी बचत हो सकती है। अतएव सीखने अथवा याद करने के समय यदि हम उन निष्कर्षों की सहायता लें तो बहुत लाभ हो सकता है। उन्हीं प्रयोगों एवं निष्कर्षों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

'खण्ड' तथा 'समग्र' अध्ययन (Part Vs Whoie Method)—यदि हमें किसी पाठ को कंठाग्र करना है तो उसे याद करते समय हम दो प्रणालियों का उपयोग कर सकते हैं। हम या तो बार-बार सम्पूर्ण कविता का पाठ कर सकते हैं और या एक-एक पद को, चार-चार लाइनों को, बार-बार पढ़ कर उन्हें भली भांति याद करके

क्रमशः आगे बढ़ते हुये सम्पूर्ण कविता को याद कर सकते हैं। पहली विधि 'समग्र' तथा दूसरी 'खण्ड' विधि कही जाती है। सामान्यतया सब लोग, विशेषतया बच्चे खण्ड विधि को ही प्रयोग में लाते हैं। किन्तु प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है कि २४० लाइन तक की कविता समग्र विधि से ही अधिक सुविधापूर्वक याद की जा सकती है। खण्डशः याद करने में कुछ त्रुटियाँ हैं, समग्र विधि में वे नहीं हैं। प्रत्येक कविता का एक अर्थ होता है और वह किसी भी पद में अंशता ही पाया जाता है। समग्र-पाठ से अर्थ सम्बन्ध के स्थापित हो जाने के कारण कविता अधिक समझ में आती है। और बुद्धिग्राह्य होने के कारण जाता है। समग्र पाठ से अर्थ सम्बन्ध के स्थापित हो जाने के कारण उसका संस्कार भी अधिक पुष्ट बनता है। एक ही पद को बार-बार दुहराने से पद के अन्तिम शब्द का उसके आदि शब्द से अनावश्यक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। पद के पूर्णरूपेण कंठाग्र होने के समय तक यह सम्बन्ध इतना दृढ़ हो जाता है अन्तिम शब्द के उच्चारण के बाद दूसरे पद की स्मृति के स्थान में उसी पद का प्रथम शब्द फिर से याद आने लगता है। अतएव धारा-प्रवाह पाठ के स्थान में प्रायः रुक-रुक कर, शब्दों तथा कभी-कमी लाइनों तक की, अनावश्यक एवं अवाँछनीय आवृत्ति होने लगती है। सम्बन्ध-हीन होने के कारण एक पद किसी पूर्ण अर्थ का द्योतक भी नहीं होता। अतः सार्थक अंश को याद करने में जितना समय लगना चाहिये उससे कुछ समय भी अधिक लग जाता है। अतएव बुद्धिपूर्वक, केवल रटन के सहारे ही नहीं, यदि २४० लाइनों तक की कविता समग्र विधि से याद की जाय तो समय की काफी बचत हो सकती है। यह आधुनिक मनोविज्ञान का प्रायः सर्वमान्य सिद्धान्त है। वुडवर्थ ने अपने मनोविज्ञान में पाइल का एक प्रयोग दिया है जिसके देखने से पता चलता है कि समग्र-विधि अधिक सुविधा-जनक होती है। २४० लाइनों के पद्य-भाग एक व्यक्ति ने

दोनों विधियों से कंठस्थ किये थे जिसका फल निम्नलिखित हुआ:—

अध्ययन की विधि	कितने दिन लगे	कितना समय लगा
प्रत्येक दिन ३० लाइनें कंठस्थ की, फिर समग्र को तब तक दुहराया जब तक उसका प्रवाहपूर्वक पाठ न होने लगा	१२	४३१ मिनट
प्रत्येक दिन सम्पूर्ण भाग की तीन आवृत्तियाँ तब तक कीं जब तक समस्त कंठस्थ नही हो गया	१०	३४८ मिनट

इस प्रयोग के अनुसार सगग्र विधि, में ८२ मिनट अथवा २०% समय का बचत हुई

किन्तु समग्र विधि, देखा गया है, कभी-कभी बच्चों में उतनी सफल नहीं होती जितनी होनो चाहिये। यदि अंश बड़ा है और एक बार के प्रयास के उसका कंठाग्र होना सम्भव नहीं है तो प्रथम प्रयास के उपरान्त बालक को विषय का प्राय: कोइ भी भाग कंठस्थ नहीं हुआ रहता। यद्यपि सम्पूर्ण विषय से सम्बन्धित काफ़ी संस्कार पड़ चुकते हैं, यद्यपि अन्तोगत्वा सम्पूर्ण पाठ अपेक्षाकृत कम समय में ही याद हो जायगा, परन्तु तात्तकालिक सफलता कुछ भी हाथ नहीं आती। बालक को कार्य में लगाये रखने के लिये वर्तमान प्रयास की सफलता प्रोत्साहन का काम करती है, उससे उसे बहुत सन्तोष मिलता है। वह संतोष समग्र-विधि में नहीं मिलता। दूसरे पाठ के कुछ अंश दूसरे अंशों की अपेक्षा अधिक कठिन होते हैं; अत: उन्हें याद करने के लिये अधिक आवृत्तियों की आवश्यकता होती है। समग्र विधि से अध्ययन करने वाले बालक को सरल भाग की भी अनावश्यक आवृत्तिथाँ करनी पड़ेंगी जिससे अधिक समय लग जायगा। तीसरे, समग्र विधि से पठित

अंश का स्मरण (recall) कठिन होता है। अनेक संस्कारों की भीड़ में किसी विशेष संस्कार को खोज पाना आसान नहीं होता।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण कालिन ने दोनों विधियों के सम्मिश्रण को ही अधिक उपयोगी बताया है। उसका कहना है कि पहले चुने हुये भाग को समग्र विधि से पढ़ना चाहिये। आरम्भ में धीरे-धीरे तथा समझ-समझ कर पढ़ना चाहिये। जब सम्पूर्ण भाग, सामान्यतया, अच्छी तरह से समझ में आ जाय तो प्रयास को बढ़ा देना चाहिये और तब तक समग्र विधि से उसका अध्ययन करते रहना चाहिये जब तक कि अधिकांश भाग कंठस्थ न हो जाय। इसके उपरांत उन स्थलों को पुष्ट करने का प्रयास करना चाहिये जो अभी तक पुष्ट नहीं हो सके हैं। उन खण्डों को प्रयास करके पुष्ट कर लेना चाहये जो कम याद हों। याद करते समय पिछले भाग का स्मरण भी बीच-बीच में करते रहना चाहिये। याद हो जाने के बाद कुछ समय तक बने हुये सम्बन्धों को स्थिर करने के लिये एवं मुखस्थ विषय को और अधिक पुष्ट करने के लिये कुछ आवृत्तियाँ कर लेना अच्छा होता है। बाद में भी कभी-कभी उसकी आवृत्ति करते रहने से भूलने की सम्भावना कम हो जाती है।

वभक्त' ,तथा 'अविभक्त' कंठस्थीकरण—(spaced and continuous learning)—किसी चुने हुए भाग को कंठस्थ करने में हम या तो अविभक्त विधि प्रयोग में लाते हैं और या विभक्त। लगातार, बिना बन्द किये, याद करने में तब तक लगे रहना जब तक कि विषय बिलकुल पुष्ट न हो जाय अविभक्त विधि (continuous method) कहलाता हैं अवकाश दे-देकर किसी विषय को याद करना विभक्त विधि (spaced method) कहलाता है। यदि निश्चित अंश बहुत छोटा हो, १० अंकों तक की संख्या, कविता की ४-५ लाइनें तो अविभक्त-विधि ही अधिक सुविधाजनक होगी।

किन्तु यदि अंश बड़ा है, २० अंकों की संख्या अथवा ८-१० लाइनों की कविता है, तो १० या १५ मिनट का व्यवधान देकर याद करने में सहूलियत होगी। काफी बड़ी कविता याद करने के लिये अधिक अच्छा होगा कि एक दिन में, व्यवधान दे-देकर, दो या तीन बार से अधिक न पढ़ा जाय। उसे यदि सम्पूर्ण रूप से कंठस्थ करने में अविभक्त प्रयत्न किया जायगा तो अधिक समय ललेगा। विभक्त विधि से याद किया हुआ अंश अधिक स्थायी होता है। परीक्षा के ठीक पहले याद किये विषय परीक्षा का काम तो देते हैं पर स्मृति में अधिक समय तक टिकते नहीं।

विभक्त विधि से किसी विषय को याद करने में कम समय लगाता है, जी कम ऊबता है, तथा वियष स्मृति में अधिक समय तक टिकता है। कुछ समय के बाद जो थकावट आ जाती है वह विषय को शीघ्रता पूर्वक कंठस्थ होने नहीं देती, जबर्दस्ती मन को एक ही विषय पर-अधिक समय तक लगाये रहना सामान्यत: अरुचि-कर होता है एवं अरुचि अध्ययन में बाधक होती है। अवकाश देकर याद करने में एक सब से बड़ा लाभ यह होता है कि अवकाश का समय-पठित अंश को पचाने में, अर्जित सम्बन्धों के स्थिरीकरण में, बड़ा सहायक होता है। जब हमारा चेतन मन अन्य अधिक रुचिकर, कार्यों में लगा रहता है तो हमारा अचेतन-मन पूर्वार्जित संस्कारों को पुष्ट किया करता है।

विभक्त विधि में एक बात का ध्यान और रखना चाहिये, काम करने का समय बहुत छोटा नहीं होना चाहिये तथा अवकाश अथवा व्यवधान का समय न तो बहुत छोटा होना चाहिये और न बहुत लम्बा। यदि समय बहुत अधिक बीत गया और पूर्वार्जित संस्कार एकदम नष्ट हो चुके तो उन्हें नये सिरे से सीखना होगा और काफी समय व्यर्थ नष्ट होगा। शुरू-शुरू में आवृत्तियाँ थोड़े-थोड़े अन्तर के बाद करनी चाहिये

और क्रमश: प्रत्येक दो आवृत्तियों के बीच में अधिकाधिक देते जाना अच्छा रहता है। यदि किसी भी विषय को हफ्ते में १० मिनट के लिये एक बार पढ़ाया जाता है तो उसका प्रभाव प्राय: कुछ भी नहीं होता और न उसे प्रति दिन ५ घंटे पढ़ाने से ही अधिक लाभ उठाया जा सकता है

विचार सम्बन्ध (association of ideas)—किसी वस्तु अथवा विषय से सम्बन्ध रखने वाली कोई दूसरी वस्तु जब हमारे मस्तिष्क में आती है तो वह उस वस्तु अथवा विषय का स्मरण करा देती है। यदि दो व्यक्तियों को प्राय: हमने साथ ही देखा है तो जब उनमें से कोई एक हमें दिखाई पड़ता है तो वह दूसरे की याद दिलाता है। अहिंसा एवं महात्मा गांधी की चर्चा इतने बार एक साथ हुई है कि हम एक को बिना दूसरे का स्मरण किये सोच ही नहीं सकते। समानता एवं वैपरीत्य भी, इसी प्रकार, समान अथवा बिपरीत गुण वाली वस्तुओं का स्मरण कराते हैं। किन्तु ऐसा क्यों होता है? शरीर-शास्त्री इसकी एक भौतिक उपपत्ति देते हैं। उनका कहना है कि जब दो पदार्थों को हम एक साथ ही देखते, सुनते, अथवा सोचते हैं तो हमारे नाड़ी मंडल में, विशेषत: मस्तिष्क में कुछ बहुत सूक्ष्म परिवर्तन घटित होते हैं। वे चूंकि एक साथ ही होते हैं अतएव उन संस्कारों में इतना पारस्परिक भौतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि यदि किसी प्रकार उनमें से एक संस्कार उत्तेजित हो जाता है तो वह अपने से सम्बन्धित दूसरे संस्कार को भी उत्तेजित कर देता है, एक ही शक्ति प्रवाह में दोनों संस्कारों को जाग्रत करने की क्षमता होती है। मस्तिष्क में अवशिष्ट यही संस्कार एक साथ उत्तेजित होकर उन पदार्थों के ज्ञान को भी एक साथ ही फिर जगा देते हैं—पूर्व परिस्थित की ही एक प्रकार से आवृत्ति हो जाती है। अत: सम्बन्धित विषय एक दूसरे का स्मरण करा दिया करते हैं।

यहाँ पर हमें इस बहस में नहीं पड़ना है कि इस सिद्धान्त में क्या क्या ख़ामियाँ हैं। यहाँ पर तो हमें इतना ही बता देना इष्ट है कि अर्थ सम्बन्ध किसी भौतिक सम्बन्ध की अपेक्षा स्मरण कराने में अधिक सफल होता है। भिन्न-भिन्न समयों पर, प्राय: वर्षों के अन्तर पर, पढ़ी हुई भिन्न-भिन्न कवियों की समानार्थक उक्तियाँ एक दूसरे का स्मरण कराती हैं, यद्यपि उनमें भौतिक सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ यह सहज में नहीं समझा जा सकता। अत: शरीर-शास्त्रियों की भौतिक उपपत्ति को छोड़ कर यहाँ पर हम केवल उन्हीं बातों का वर्णन करेंगे जो दो या अधिक विचारों के संबंधित होने पर अवश्य पाई जाती हैं और इसलिए जिन्हें एक प्रकार से विचार-सम्बन्ध का कारण कहा जा सकता है।

समानता (similarity)—दो वस्तुओं में यदि समानता हो तो एक की उपस्थिति में दूसरी का स्मरण हो आता है जिस बालक ने घोड़े को देखा है किन्तु खच्चर को कभी नहीं देखा वह जब खच्चर को पहले पहल देखता है तो उसे, रूप-साम्य के कारण, घोड़े का स्मरण हो आता है और जब तक उसकी भूल का सुधार नहीं होता वह उसे घोड़ा कह कर ही पुकारता है। एक ही आकृति के दो व्यक्ति एक दूसरे की याद दिलाते हैं। यह समानता केवल रूप तक ही सीमित नहीं है, किसी भी प्रकार का गुण-साम्य याद दिलाने के लिये पर्याप्त होगा। कोमल हाथों की कमल एवं सुन्दर मुख की चन्द्र याद दिलाता है यद्यपि उनमें रूप-साम्य नहीं होता। चंगेज खाँ तैमूरलंग की याद दिलाता है क्योंकि दोनों ही क्रूर-हृदय थे एवं इतिहास के विद्यार्थी जेम्स प्रथम तथा मुहम्मद तुग़लक में उनकी पांडित्यपूर्ण मूर्खता के कारण, समानता देखते हैं। इस प्रकार से समान गुणों को भिन्न भिन्न पदार्थों में खोज लेना बहुत कुछ अपनी बुद्धि तथा दृष्टि-कोण पर भी निर्भर करता है। शुष्क-हृदय, यथार्थ-प्रेमी वैज्ञानिक समुद्र की उठती हुई तरंगों में विज्ञान के सामान्य-सिद्धान्त ही देखता है,

कवि की तरह वह उन्हें विक्षुब्ध सागर की फड़कती हुई बाहें अथवा क्रोध से काँपते होंठ नहीं समझता। एक ही व्यक्ति हमारी मानसिक स्थिति के कारण हमें कई भिन्न-भिन्न वस्तुओं की याद दिला सकता है। उसे देख कर हम विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अन्य अध्यापकों का स्मरण कर सकते हैं क्योंकि वह भी वहीं पढ़ाता है अथवा वह हमें प्रसिद्ध टेनिस खिलाड़ी अहदहुसेन का स्मरण करा सकता है क्योंकि वह भी टेनिस खेलने में उन्हीं की तरह पटु है।

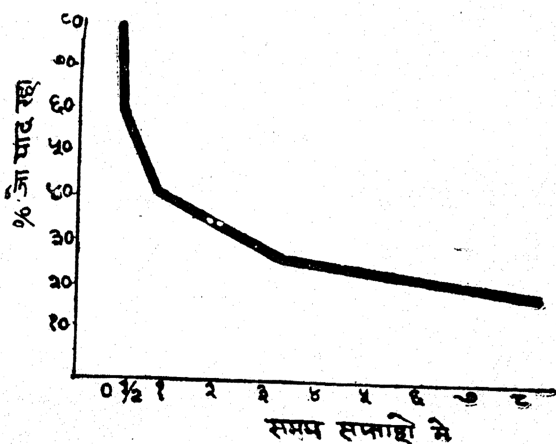
वैपरीत्य (contrast)—समान वस्तुएँ जिस तरह एक दूसरे को याद दिलाती हैं उसी तरह विपरीत गुण रखने वाली वस्तुयें भी एक दूसरे का स्मरण कराती हैं। साधु पुरुष को देख कर हमें दुष्ट-चरित्र व्यक्ति का स्मरण हो आता है; राम रावण की, वीर कायर की, एवं अन्धकार प्रकाश की स्मृति जाग्रत करता है। राणाप्रताप का देश-प्रेम जयचन्द्र के देश द्रोह की याद दिलाता है और कक्षा का सब से तेज बालक सब से कमजोर बालक की ओर हमारे ध्यान को खींच ले जाता है।

सहचारिता (contiguity)—जिन वस्तुओं को हमने साथ साथ देखा हैं उनमें से एक के देखने से दूसरे का स्मरण हो आता है। साथ साथ होना अथवा सहचारिता दो प्रकार की हो सकती है, देशगत तथा कालगत। एक मकान में रहनेवाले दो व्यक्ति, एक मेज़ पर रक्खी दो पुस्तकें, एक दूसरे की याद दिलाती हैं। एक ही समय में होने वाली दो घटनाएँ भी एक दूसरे की स्मारक होती हैं; मोहन का विवाह तथा उसके पिता की बीमारी यदि प्रायः एक ही समय में हुई है तो एक के स्मरण होने पर दूसरे का भी स्मरण हो जायगा; १९१८ में प्रथम विश्व-महायुद्ध की समाप्ति तथा भयंकर महामारी का प्रकोप एक साथ ही होने के कारण एक की स्मृति दूसरे की स्मृति को जाग्रत करती है।

निष्कर्ष—ऊपर जिन तीन नियमों—समानता, सहचारिता, वैपरीत्य—का वर्णन किया गया है वे कई वस्तुओं अथवा विचारों को सम्बद्ध करते हैं और इस प्रकार एक विचार दूसरे विचारों की याद दिलाता है। जिस वस्तु को हमें याद करना हो उसको यदि हम भिन्न-भिन्न विचारों से सम्बन्धित कर लें तो उसका स्मरण, आवश्यकता पड़ने पर, आसानी से हो आता है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे कारण हैं जो किसी संस्कार को दृढ़ बनाकर उसका स्मरण कराते हैं। जो संस्कार सबसे पहले पड़ता है वह दृढ़ होता है, जो विषय अथवा पुस्तक हमने अभी हाल में ही पढ़ी है उसकी भी स्मृति स्पष्ट होती है, बहुत दिन पहले की पढ़ी पुस्तकें भूल जाते हैं। जिस संस्कार को जितनी ही अधिक आवृत्तियों के द्वारा दृढ़ किया गया है उसके याद रहने की सम्भावना उतनी ही अधिक रहती है। जिस विषय में हमारी जितनी ही अधिक रुचि होती है उसका संस्कार भी उतना ही अधिक पुष्ट होता है। उपर्युक्त सभी बातों का ध्यान रखकर यदि हम किसी विषय का याद करने का प्रयत्न करें तो समय तथा श्रम की काफी बचत हो सकती है।

विस्मृति (forgetting)— जिस प्रकार विषय को हम याद रखते हैं उसी प्रकार हम अनेक बातें भूल भी जाते हैं। स्मरण रखना सामान्यतया हमें अभीष्ट होता है, भूलना उसी तरह नापसन्द। अतएव स्मृति में जो सहायक कारण होते है उन्हीं का अभाव विस्मृति का कारण बनता है। जो संस्कार जितना हो प्राचीन होता है उसके विस्मृत होने की सम्भावना उतनी ही अधिक होती है। जिस विषय की आवृत्ति कम की जाती है वह भूल जाता है। जिस ज्ञान का संस्कार क्षीण होता है, वह जल्दी भूलता है। जिस संस्कार का सम्बन्ध जितने ही कम बिचारों, वस्तुओं एवं परिस्थितियों से जुड़ पाता है उसके विस्मरण की सम्भावना उतनी ही अधिक होती है।



विस्मृति का रेखा-चित्र

एक ओर सप्ताहों में समय अंकित किया गया है और दूसरी ओर याद रहे पाठ का प्रतिशत। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है पाठ भूलता जाता है। आरम्भ में अधिक भूलता है, बाद में भूलने की मात्रा कम होती जाती है।

जिस विषय में हमारी रुचि नहीं होती वह पहले तो याद ही नहीं होता तथा याद होने पर शीघ्र ही भूल जाता है।

भूलने में सब से बड़ा हाथ का समय का होता है। जितने अधिक समय तक किसी संस्कार को दुहराया नहीं जाता उतना ही अधिक वह भूलता है। विस्मृति को नापने के लिये अनेक प्रयोग किए गये हैं। अपने प्रयोगों से इबिंगास इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि किसी वस्तु को याद करने के बाद यदि उसे दुहराया न जाय, तो हम उसे भूलने लगेंगे और बहुत अधिक समय बीत जाने पर, हो सकता है, हम उसे प्रायः बिलकुल ही भूल जाँय। आरम्भ में विस्मृति का प्रभाव अधिक होता है और फिर क्रमशः भूलने की मात्रा कम होती जाती है। अर्थ-हीन शब्दों को याद करके उसने उनके भूलने की मात्रा नापी तो उसे पता चला कि जितना वह प्रथम बीस मिनट में भूल गया उतना बाद के ३० दिनमें भूला। एक अन्य मनो-वैज्ञानिक ने कंठस्थ कविता के भूलने की मात्रा नापी तो उसे पता चला कि पहले दो दिनों में कविता का जितना अंश विस्मृत हो गया उतना बाद के २५ दिनों में विस्मरण हुआ। इसीलिये पहले बताया जा चुका है कि किसी विषय को याद करने के बाद आरम्भ में जल्दी-जल्दी आवृत्ति करना चाहिये एवं जैसे जैसे समय बीतता जाय आवृत्तियों के बीच का अवकाश बढ़ाते जाना चाहिए। यद्यपि थोड़े-थोड़े समय का व्यवधान विषय को पचाने में सहायक होता है परन्तु लम्बा व्यवधान याद करने में किये गये श्रम को व्यर्थ कर सकता है। हमारे स्कूलों में दो या ढाई महीने की जो लम्बी छुट्टियाँ होती हैं वे मनोविज्ञान की दृष्टि से अवांछनीय हैं। इतना लम्बा अवकाश विषय को पचाता नहीं, उसे भुला देता है।

ऊपर भूलने का जो नियम बताया गया है उसे निष्क्रिय भूलना (passive forgetting) भी कहा जा सकता है, भूलने वाला व्यक्ति भूलने की क्रिया में कोई हिस्सा नहीं लेता, वह स्वयं भूलना

चाहता भी नहीं, विस्मृति का प्रभाव अपने आप होता रहता है। किन्तु कभी-कभी हम स्वयं किसी बात को भूलना चाहते हैं। हम उसे भूलते हैं क्योंकि हमारा अचेतन उसको भूलने की प्रेरणा हमें देता है। विस्मृति-क्रिया में दी हुई अपनी सहायता का ज्ञान तब हमें नहीं होता, यद्यपि वह रहती है। मनोविश्लेषणवादियों ने उसे सक्रिय-विस्मृति (active forgetting) नाम दिया है। किसी विषय में रुचि की कमी साधारणतः विस्मृति का कारण होती है किन्तु सक्रिय-विस्मृति में रुचि का आधिक्य ही विस्मृति को उत्पन्न करता है। ऐसी बात जिसने हमें गहरी चोट पहुँचाई है एवं जिसकी स्मृति हमारी उस चोट को फिर से हरा कर सकती है हम भूल जाते हैं। परीक्षा-भवन में विद्यार्थी, मंच पर नवाभ्यासी वक्ता, भली भाँति तैयार किये हुए विषय को अकसर भूल जाता है; उसकी आत्मचेतना इतनी प्रबल हो जाती है कि उसके अन्य विचार-सम्बन्ध कुछ समय के लिये शिथिल हो जाते हैं। अतः सक्रिय-विस्मृति का कारण या तो कोई प्रबल संवेग होता है अथवा कोई भावना-ग्रन्थि। भावना-ग्रन्थि से उत्पन्न विस्मृति से एक दृष्टि से हमारा लाभ ही होता है, क्योंकि स्मृति वहाँ पर केवल दुःख को बढ़ा सकती है। कभी-कभी हम कुछ बातों को भूलना चाहते हैं पर भूल नहीं पाते। कुछ लोग तो इन दुखद स्मृतियों से छुटकारा पाने के लिये शराब आदिक मादक पदार्थों का प्रयोग करने लगते हैं जो उच्च मस्तिष्क को दबा कर हमें थोड़े समय के लिये स्मृति-जन्य दुःख से मुक्त कर देते हैं।

किसी वस्तु को प्रयास करके भूलना उसकी स्मृति को और भी पुष्ट करने का सब से सीधा मार्ग है। अतः यदि हम किसी बात को भूलना चाहते हैं तो हमें उसका विचार उठने पर रोकने का उद्योग नहीं करना चाहिये। उसकी स्मृतियाँ आने देना चाहिये; कुछ समय में उनकी शक्ति अपने आप क्षीण हो जायगी और तब उन्हें स्वयं

ही भूल जायेंगे। बलपूर्वक दमन की हुई स्मृतियाँ बराबर शक्ति का संग्रह करती रहती हैं और किसी प्रकार की रोक-थाम उन्हें और भी सबल तथा पुष्ट बनाने में सहायक होती है।

सारांश—चेतन संचय को स्मृनि कहते हैं। स्मृति को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है, संचय, पहचान तथा स्मरण। अनुभव स्मृति तभी कहला सकता है जब उसमें पहचान तो हो ही।

स्मरण-शक्ति की सीमा जन्म के साथ ही निश्चित हो जाती है अतएव उसमें कोई उन्नति नहीं हो सकती, फिर भी स्मरण करने की विधि सुसंगठित करके, अवधान को केंद्रित करके, रुचि उत्पन्न करके, याद करने में समय तथा श्रम की बचत की जा सकती है।

दो प्रकार की स्मृति बताई गई है, आदत-जन्य एवं वास्तविक। कोरी रटन से उत्पन्न संस्कार जिन्हें हम प्रायः अचेतनावस्था में ही दुहराया करते हैं आदत-जन्य स्मृति के उदाहरण हैं तथा स्मृति की जिस क्रिया में आत्मचेतना रहती है, जो विचारपूर्वक होती है, उसे वास्तविक स्मृति कहते हैं।

स्मृति-शक्ति भिन्न-भिन्न शक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से काम करती देखी जाती है। किसा की स्मृति प्रखर होती है, किसी की मंद। किसी को नाम और तिथियाँ ता याद रहता है, चेहरे नहीं, एवं किसी की स्मृति ठीक इसके विपरीत होती है। कोई जल्दी याद करके जल्दी भूलता है, कोई याद तो देर में कर पाता है किन्तु अधिक समय तक उसे याद रखता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो जल्दी ही याद कर लेते हैं और उसे दीर्घकाल तक संचित रखते हैं।

किसी विषय को दो विधियों से याद किया जा सकता है, खण्ड-खण्ड करके अथवा समग्र रूप से। समग्र-विधि में अर्थ-सम्बन्ध के कारण जल्दी याद होता है। खण्ड-खण्ड याद करनेसे किसी पद अथवा वाक्य-खण्ड के आरम्भिक तथा अन्तिम शब्दों में गलत सम्बन्ध बन

जाता है जिससे सम्पूर्ण अंश का स्मरण ठीक रहने से नहीं होता। किंतु बच्चों में खण्ड-विधि ही सफल होती हैं। सम्पूर्ण पाठ से कोई भी भाग कई पाठों तक भली भाँति कंठाग्र नहीं होता। यद्यपि समग्र अंश सम्बन्धी अनेक संस्कार पड़ जाते हैं। तात्कालिक सफलता न दिखाई पड़ने से उत्साह मन्द पड़ जाता है। समग्र-विधि में एक और खराबी है। जो भाग याद हो चुकता है उसकी आवृत्ति भी तब तक करनी पड़ती है जब तक कि सभी पाठ याद न हो जाय। सर्वश्रेष्ठ विधि मिश्र-विधि है। पहले समग्र-विधि से पढ़े, जब अधिकांश भाग याद हो जाय तो उन अंशों को जो कम याद हों खंडश: पढ़े और अंत में फिर समग्र-विधि से कई एक आवृत्तियाँ करके संस्कारों को पुष्ट कर ले।

किसी पाठ को लगातार भी पढ़ा जा सकता है और बीच में अवकाश दे-देकर भी। लगातार पढ़ने की अपेक्षा विभक्त विधि अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। पठन तथा अवकाश के लिए निश्चित काल न तो बहुत बड़ा होना चाहिए और न बहुत छोटा। शुरू में आवृत्तियाँ बहुत जल्दी जल्दी होनी चाहिये तथा बाद में अवकाश का समय बढ़ाते जाना चाहिये।

कुछ वस्तुयें अन्य वस्तुओं को भी याद दिलाती हैं। इसके तीन मुख्य कारण बताये गये हैं—समानता, वैपीरत्य एवं सहचारिता। समान रूप तथा गुण रखनेवाली वस्तुयें एक दूसरे की याद दिलाती हैं, विपरीत गुणवाली वस्तुयें एक दूसरे की याद दिलाती हैं एवं जो वस्तुयें देश तथा काल में एक साथ पाई जाती हैं वे भी एक दूसरे की याद दिलाती हैं।

सबसे पहला संस्कार, सबसे बाद का संस्कार, अधिक आवृत्तियों से पुष्ट संस्कार एवं अधिक रुचिकर संस्कार प्राय: स्मृत हो जाते हैं।

जैसे-जैसे समय बीतता जाता है सीखी बातें भूलने लगती हैं।

याद की हुई बात पहले अधिक भूलती है, जैसे-जैसे समय बीतता जाता है भूलने का अनुपात कम होता जाता है। अतः पठित विषय को उपस्थित रखने के लिये आरम्भ में जल्दी-जल्दी आवृत्तियाँ करनी चाहिए, बाद में व्यवधान का समय बढ़ाते जाना चाहिये। कभी-कभी संवेग अथवा भावना ग्रंथि के कारण भी हम कोई बात भूल जाते हैं, हमारा अचेतन भूलने में सहायता देता है। इस विस्मृति को सक्रिय विस्मृति भी कहते हैं, क्योंकि भूलने वाला व्यक्ति स्वयं भी भूलने में सक्रिय रहता है।

प्रश्न

(१) विचार-सम्बन्ध (association of ideas) तथा पूर्वानुवर्ती ज्ञान (apperception) में क्या सम्बन्ध है ? यह ज्ञान शिक्षक के लिये किस प्रकार उपयोगी है ? उदाहरण देकर समझाइये।

(२) स्मृति किसे कहते हैं ? स्कूल की पढ़ाई से कंठस्थीकरण (memory work) को कहाँ तक निकाला जा सकता है ?

(३) स्मृति (memory) तथा रुचि (interest) में क्या सम्बन्ध हैं ? पाठ्य विषय को विद्यार्थी भूल न जाँय इसके लिये आप किन विधियों का प्रयोग करेंगे ?

(४) याद करने में खण्ड-विधि तथा समग्र-विधि की तुलनात्मक व्याख्या कीजिये। सबसे उपयोगी विधि कौन सी है ?

(५) विभक्त-विधि (spaced learning) तथा अविभक्त-विधि (continuous learning) से आप क्या समझते हैं ? दोनों विधियों के गुण-दोषों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

विचार एवं भाषा

(Thought and Language)

प्रत्ययात्मक विचार (conceptual thinking)— प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या करते समय हमने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (sensation) तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष (perception) नामक दो भागों में सम्पूर्ण प्रत्यक्ष-ज्ञान का समावेश करके सभी तरह के प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षीकरण की संज्ञा दी थी। हमने देखा था कि प्रत्यक्षीकरण के लिये प्रत्यक्षीकृत 'विषय' की उपस्थिति आवश्यक होती है, 'विषय' को इन्द्रिय के समक्ष होना चाहिए तभी उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है जब कोई 'विषय' हमारी इंन्द्रियों को उत्तेजित करता है तभी हमको उसका प्रत्यक्ष होता है। कभी-कभी उस ज्ञान में हम अपनी ओर से भी कुछ न कुछ जोड़ देते हैं; अतीत अनुभव के आधार पर हम कुछ ऐसे गुणों को भी प्रत्यक्षीकृत किया हुआ मान लेते हैं जिनका प्रत्यक्ष उस समय नहीं किया जाता। देखी हुई बर्फ़ की ठंढक तथा स्पर्श किये हुए आम की मिठास ऐसे ही प्रत्यक्ष हैं। किन्तु ये गुण जिनका प्रत्यक्ष इस समय हम नहीं भी करते हैं, किसी अन्य प्रत्यक्ष का अंग-बन कर आते हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। बर्फ़ की ठंढक तथा आम की मिठास देखने तथा छूने के सहारे ही प्रत्यक्ष की जाती हैं। अतः प्रत्यक्ष के लिये विषय की उपस्थिति आवश्यक है, उसके सहारे ही सविकल्पक ज्ञान का उदय हो सकता है, उसके अभाव में नहीं। निम्नस्तर के जीवधारी, जो प्रत्यक्षीकरण से ऊपर नहीं उठाते, जो कल्पना, विचार तर्क आदि मानसिक विकास की उच्च अवस्था तक नहीं पहुँच सकते,

वे विषय के अभाव में, उसकी अनुपस्थिति में, उसका स्मरण भी नहीं कर सकते। इस समय जब मैं यह प्रकरण लिख रहा हूँ तो मेरे सामने न आम ही हैं और न बर्फ ही यद्यपि मैं दोनों के सम्बन्ध में विचार कर रहा हूँ। खरगोश या तोता इसी तरह उनके सम्बन्ध में नहीं सोच सकते। प्रत्यक्षीकरण-मनोविकास की सब से नीची अवस्था है, वह ज्ञानोदय का प्रथम सोपान है। जब कोई वस्तु, परिस्थिति आदि सामने आती है तो उसका ज्ञान होता है। उसके हट जाने पर व्यक्ति उसे भूल जाता है। अप्रस्तुत का ज्ञान इस स्तरवालों के लिए किसी भी दशा में सम्भव नहीं होता।

इसके ऊपर उठकर मनोविकास की अन्य जितनी भी अवस्थायें हैं, विचार-क्रिया के जितने भी स्तर हैं, उनके लिये विषय की उपस्थिति आवश्यक नहीं है। वाह्य जगत् से इन्द्रियों को प्रेरणा मिले चाहे न मिले, तत्सम्बन्धी विचार किया जा सकता है। इन सब को सामान्यतया हम विचार ही कहते हैं। इन विचारों को क्रमशः बढ़ती हुई कई श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। सब से नीची श्रेणी उन विचारों की है जिन्हें प्रतिमा-मूलक (images) कहा गया है। इस श्रेणी की विचार-क्रिया में 'विषय' के अनुपस्थित होने पर भी उसके सम्बन्ध में विचार चलता है। किन्तु वह विचार प्रतिमाओं के सहारे चलता है। कुत्ते का विचार आते ही मानस पट पर कुत्ते की एक प्रतिमा बन जाती है, कोई अनिर्दिष्ट, सभी विशेष गुणों से रहित, कुत्ते का सामान्य भाव मनमें नहीं आता; एक विशेष वर्ण तथा आकार का कदाचित दुम हिलाता तथा गुर्राता हुआ कुत्ता ही जैसे मानस-चक्षुके सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठता है। प्रतिमा-मूलक विचार तथा प्रत्यक्ष में विशेष अन्तर नहीं है। जब हम गुलाब के फूल को मेज पर रख कर आखें खोल कर देखते हैं तो वह प्रत्यक्ष कहा जाता है और यदि आँखें बन्द करके उसी की प्रतिमा मन में बना लें तो उसे प्रतिमामूलक विचार

कहेंगे। प्रत्यक्ष दशा में एक ही तरह के गुणों का ज्ञान मन को होगा। हो सकता है कि प्रतिमा का फूल प्रत्यक्षीकृत फूल की अपेक्षा अस्पष्ट एवं कम गुणों से युक्त हो परन्तु अन्तर केवल मात्रा का होगा, प्रकार का नहीं। वास्तविक भेद तो यही है कि प्रतिमा तो फूल की अनुपस्थिति में बनी तथा प्रत्यक्ष ज्ञान उसकी उपस्थिति में हुआ। जिनका मानसिक विकास अधिक नहीं हुआ रहता वे अल्पवयस्क बालक प्रायः 'कुत्ता भूकने लगा' नहीं कह पाते। उनके मन के मन में भूकते हुये कुत्ते की प्रतिमा रहती है, और यथासम्भव उ.ी का अविकल अनुवाद करने का प्रयत्न वे करते हैं। 'कुत्ता भों भों करने लगा' कह कर वे अधिक सन्तुष्ट होते हैं। किसी घटना का वर्णन करने को उनसे कह दीजिये और तब देखिये कि वे किस तरह उछल-कूद मचाते हैं। दौड़ना, चिल्लाना, मारना, आँखें फाड़-फाड़ कर देखना आदि प्रत्येक व्यापार को वे करके दिखावेंगे, केवल शब्द उस प्रबल अनुभूति को व्यक्त करने में समर्थ नहीं। उनकी स्मृति विचारों अथवा अर्थों का पुनरावर्तन मात्र नहीं होती, प्रत्युत वह सम्पूर्ण घटना को एक बार फिर मानस नेत्रों के सम्मुख उपस्थित कर देती है। घटना का यथार्थ, स्पष्ट, चित्र-पूर्ण दृश्य जैसे उनकी आँखों के सामने नाचने लगता है और तब वे उसका अभिनय करके अपने वर्णन को अधिक हृदयग्राही बनाने में लग जाते हैं।

जैसा हमने अभी कहा था, उच्च विचारों का निम्नतम सोपान ही इस प्रकार के मानसिक चित्रों से युक्त होता है। परन्तु धीरे-धीरे विचारों के और ऊपर उठने पर, ये चित्र समाप्त होने लगते हैं और उनका स्थान केवल शब्द ले लेते हैं। हमें शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है, शब्दों के द्वारा व्यक्त की हुई स्थिति का चित्र मन में उपस्थित नहीं होता। यह शक्ति हमें एकदम नहीं मिल जाती, उसका विकास बहुत दिनों में, बहुत अनुभव के पश्चात्, होता है। पहले बच्चा एक गाय को देखता है, उसका कुछ न कुछ संस्करण मन पर पड़

जाता है। उसे बताया जाता है कि यह गाय है। इस शब्द का सम्बन्ध उस पशु विशेष से हो जाता है। बाद में जब बच्चा गाय शब्द सुनता है तो उसे विशिष्ट गुणों से युक्त पशु का स्मरण हो आता है। जैसे-जैसे विभिन्न गायों का उसका अनुभव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे गाय का अर्थ भी, उसके लिये, परिवर्द्धित होता जाता है। तब वह विविध रंगों की विविध आकार की, छोटे-बड़े, सीधे-टेढ़े सभी तरह के सींगों की विशेषताओं से युक्त पशु को गाय समझने लगता है। आरम्भ में सभी गुणों की समिष्ट का ही बोध उसे इस शब्द से होता है किन्तु जैसे-जैसे गुणों की संख्या बढ़ती जाती है, उसे भिन्न-भिन्न प्रकार की गायों का अनुभव होता जाता है, वैसे-वैसे गाय शब्द का अर्थ भी उसके लिये, बदलता जाता है। वह समझता है कि काला अथवा पीला वर्ण गाय संज्ञा के लिये आवश्यक नहीं है, गाय दूसरे वर्ण की भी हो सकती है। इसी प्रकार उसका क़द, उसके सींगों की बनावट आदि के भी अनन्त भेद हो सकते हैं। अतएव गाय शब्द के अर्थ में वर्ण, लम्बाई, सींगों के प्रकार आदि को वह सम्मिलित नहीं करता। इस शब्द से वह अब उन्हीं गुणों को समझने लगता है जो सभी गायों में सामान्य होते हैं। वह भिन्नता को छोड़ता जाता है, समानता को ग्रहण करता जाता है और इस प्रकार गाय नामक एक 'प्रत्यय' (concept) बना लेता है। इसे 'जाति' तथा 'सामान्य' भी कहते हैं। यह शब्द अब किसी गो-व्यक्ति का बोधक न होकर गो-जाति का बोधक हो जाता है। गाय कहने से हम उस जाति के सब व्यक्तियों को ग्रहण करने लगते हैं, अतः उसे जाति कहा गया है। यह जाति के सब व्यक्तियों में पाये जाने वाले समान गुणों का ही बोध कराता है, उनकी विशेषताओं का नहीं, अतएव इसे सामान्य भी कहते हैं। अतः प्रत्ययों की रचना में दोनों प्रकार की क्रियायें होती हैं— ग्रहण एवं विसर्जन। सामान्य का ग्रहण होता है एवं भिन्नता का

विसर्जन। जो विशेष गुण हैं वे प्रत्येक गो-व्यक्ति में भिन्न होते हैं। अतएव उनका परित्याग करने से जो सामान्य बच रहता है वह एक निर्विशेष प्रत्यय होता है। अतएव जातिबोधक किसी शब्द को सुनकर हम किसी चित्र को कल्पना में नहीं ला सकते। सामान्य का चित्र नहीं बन सकता, चित्र तो विशेष का ही बनेगा। वह कैसा गाय का चित्र होगा जो न पीला है, न काला न सुफेद जिसके सींग न छोटे न बड़े, न सीधे और न टेढ़े; जिसकी कोई ऊँचाई नहीं, कोई लम्बाई नहीं। मालूम पड़ेगा कि ऐसा 'सामान्य' हो ही नहीं सकता। फिर भी हम गाय शब्द का अर्थ समझते ही हैं। अत: यह कहना अधिक ठीक प्रतीत होता है कि प्रत्यय में विशिष्टताओं के परित्याग के स्थान में सभी विशेषताओं का संकलन ही अधिक विवक्षित है। गाय शब्द के अर्थ में यद्यपि कोई विशिष्ट वर्ण, क़द आदि शामिल नहीं हैं तो भी हमारे मस्तिष्क में लगभग सभी वर्णों, क़दों आदि का अस्पष्ट, धुंधला संमिश्रण ही रहता है; हम यह नहीं सोचते हैं कि वह न इस वर्ण की है न उस वर्ण की प्रत्युत सभी वर्णों की संभावना ही उसमें मान लेते हैं।

हमने देखा कि जातिबोधक 'प्रत्यय' किस प्रकार बनते हैं; व्यक्ति का ज्ञान पहले होता है अनेक व्यक्तियों का ज्ञान होने के बाद व्यक्तियों से प्रथक करके एक गो-जाति की कल्पना की जाती है। यह कठिन समस्या है। साधारण रूप से इस कठिनाई को हम समझ नहीं पाते। जाति-वाचक शब्दों का प्रयोग इतना ज्यादा होता है तथा बच्चे प्रौढ़ों का अनुसरण करके उनको इतनी जल्दी स्वयं भी प्रयोग करने लगते हैं कि हम उसे एक साधारण मनोव्यापार ही समझ लेते हैं। बच्चे जाति बोधक शब्दों का प्रयोग तो करते हैं परन्तु उनका अर्थ किसी व्यक्ति से ही होता है। जाति का ज्ञान बहुत धीरे-धीरे होता है। जैसे-जैसे उस जाति के भिन्न गुण रखने वाले अन्य व्यक्तियों से परिचय बढ़ता

जाता है वैसे-वैसे उस प्रत्यय का अर्थ भी परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होता जाता है।

जाति-बोधक प्रत्ययों के ऊपर उठकर भाव-वाचक प्रत्ययों की रचना होती है। बच्चा तकिये को स्पर्श करके एक अनुभूति करता है। रुई, बढ़िया ऊन, मखमल आदि अनेक पदार्थों के स्पर्श से भी उसे उसी प्रकार की अनुभूति होती है। वह उसे दूसरों की नकल करके कोमलता कहना सीख जाता है। मुश्किल होने पर भी जाति-बोधक प्रत्ययों का बनना भाव-प्रत्ययों की अपेक्षा बहुत आसान होता है। जाति का विचार न भी किया जा सके तो भी उसका प्रतिनिधि व्यक्ति तो रहता ही है; वह मूर्त (concrete) होता है, उसकी वाह्य जगत् में वास्तविक सत्ता होती है; अत: जाति का न सही, व्यक्ति का तो चित्र आसानी से बन ही सकता है। अमूर्त (abstract) भाव में यह भी सम्भव नहीं। इसलिये उसका प्रत्यय बनना काफी कठिन हो जाता है। कोमल रुई समझी जा सकती है, कोमल चीज़ें भी किसी कदर कल्पना में लाई जा सकती हैं, परन्तु 'कोमलता' का आधार क्या बनेगा? चीज़ अथवा चीज़ें तो भौतिक जगत् में पाई जाती हैं। उन्हें देखकर , छूकर, सूँघ कर, जाना जा सकता है, पर भौतिक पदार्थों में रहने वाला कोमलता का अभौतिक गुण कैसे ग्रहण किया जाय? किसी द्रव्य का गुण समझ में आता है, किन्तु द्रव्य से प्रथक केवल मात्र गुण होता ही नहीं, अत: उसकी कल्पना का कोई आधर ही नहीं रहता। इसलिये भाव-प्रत्यय बड़ी मुश्किल से ही बनते हैं। उनका बच्चे प्राय: प्रयोग करते हैं इसलिये हमें यह न समझ लेना चाहिये कि प्रत्यय का बोध भी उन्हें है। भाव-प्रत्यय को वे अकसर मूर्त व्यक्ति (concrete individual) के ही अर्थ में लेते हैं। जब उनसे कोमलता का वर्णन करने को कहा जाता है तो वे केवल उदाहरण देकर ही रुक जाते हैं। तकिया मुलायम है, रेशम मुलायम है और

इसी प्रकार अन्य वस्तुयें मुलायम हैं। कोमलता का इतना ही वर्णन वे कर सकते हैं। इस अक्षमता का कारण केवल यही नहीं है कि उनका भाषा-ज्ञान इतना अपूर्ण है कि वे अपने मनोभावों को उचितरीत्या नहीं व्याक्त कर सकते। सच तो यह है कि अभी तक 'भाव' बने ही नहीं हैं जो व्यक्त किये जा सकें। अपने बाल-मनोविज्ञान में नार्सवर्दी और ह्विटले ने बताया है कि ११-१२ वर्ष की आयु ही तक के बच्चों के लिये न्याय, दया, एवं मुक्ति का बड़ा सीमित अर्थ ही रहता है। बच्चा दया से द्रवित न हो सकता हो अथवा दया का अनुभव न कर सकता हो यह बात नहीं, किन्तु इन उदात्त भावों को व्यक्तिगत उदाहरणों से प्रथक करके वह नहीं देख सकता है। भावों का ज्ञान धीरे-धीरे होता है। इन्हीं विभिन्न प्रकार के प्रत्ययों पर मनुष्य की वह मानसिक शक्ति निर्भर है जिससे उसे प्राणियों का सम्राट बना दिया है।

देश तथा काल के प्रत्यय भी काफी देर में बन पाते हैं। जब हम बच्चे को बताते हैं कि हिमालय २१,००० फिट ऊँचा है अथवा मिश्र की सभ्यता ईसा से कई सदियों पूर्व ही अपनी पूर्णता पर पहुँच चुकी थी—यह कल्पना नहीं, सात आठ वर्ष के बच्चों को अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों से लिये हुये दृष्टान्त हैं—तो वह बेचारा कुछ भी नहीं समझता। २६,००० हो ३६,००० हो अथवा इसी प्रकार की कोई और संख्या हो उसके लिये सब समान हैं। अविकसित बाल-मस्तिष्क के लिये उन सबका एक ही अर्थ होता है कि पहाड़ बहुत ऊँचा है। और उनका काल-ज्ञान तो और भी अनिर्दिष्ट होता है। म्यूमैन लिखता है कि काल-सम्बन्धी सभी ज़टिल प्रत्यय जैसे 'गत बसन्त 'परसों', 'एक मास पहले' आदि तो छः वर्ष की आयु से पहले बच्चों की समझ में ही नहीं आतें। नार्सवर्दी के मत में ८ वर्ष का बच्चा सूर्योदय से सूर्यास्त तक के काल को ही दिन समझा करता है, जिसके घण्टे घटते बढते रहते हैं और जब तक बच्चा ६ वर्ष का नहीं हो जाता तब

तक वह एक वर्ष को लम्बे काल के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता और न अपने अतीत की घटनाओं की तिथि ही सही-सही बता या समझा सकता है। ऐसी दशा में विचार करने का विषय है कि जो पुस्तकें अथवा ज्ञान हम इन अबोध शिशुओं पर लाद देते हैं यह किस कदर मनोविज्ञान के विरुद्ध पड़ता है।

गणित सम्बन्धी प्रत्यय भी धीरे-धीरे बनते हैं यद्यपि बालक उन्हें पहले से ही प्रयोग में लाने लगते हैं और इसलिये हम समझ लेते हैं कि बच्चे जो कहते हैं उसका अर्थ वे वही समझते हैं जो हम प्रौढ़ों का अर्थ है। यह बड़ा भ्रामक विचार है। जैसा थार्नडाइक ने अपने अङ्कगणित के मनोविज्ञान में बताया है, किसी भी संख्या के चार अर्थ हो सकते हैं। चारों अर्थों को ग्रहण करने की क्षमता बालकों में एक साथ नहीं आती। क्रम, समूह, अनुपात अथवा सम्बन्ध इन चार बातों का निर्देश संख्या कर सकती है। उदाहरण के लिए हम ५ को लेते हैं। गिनती का जो एक क्रम (series) है उसमें ५ एक विशिष्ट स्थान की सूचक है, वह ४ के बाद तथा ६ के पहले आता है। गिनती की जो एक लम्बी शृंखला है, ५ उसकी एक कड़ी है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि हमारे पास ५ किताबें हैं या हमारी जेब में ५ रुपये हैं तो, यहाँ पर, ५ का अर्थ एक समूह (group) होता है। जब हम कहते हैं ५ इंच, ५ मिनट, ५ सेर तो हम एक अनुपात की ओ संकेत करते हैं, वह ,अनुपात काल,देश अथवा अन्य किसी प्रकार का हो सकता है। इसके अतिरिक्त हमारा अभिप्राय एक सम्बन्ध बताने का हो सकता है। पाँच १० का आधा, ८ से ३ कम, तथा १ से ४ अधिक होता है। बच्चे जब गिनती रट लेते हैं तो यह आवश्यक नहीं होता कि ऊपर बताये सभी अर्थों को वे भली भाँति समझते हो; किसी भी बड़ी संख्या का एक अस्पष्ट-सा ही बोध उन्हें होता है। ४० हो या ४०० उनके लिये दोनों का एक अर्थ होता है—बहुत ज्यादा।

क्रम का ज्ञान पहले होता है, समूह का ज्ञान प्राय: बाद में, अनेक उदाहरणों में प्रयोग करने के बाद, ही होता है। नार्सबर्दी लिखती है—"अभी-अभी गिन चुकने पर भी बच्चा यह नहीं भी जान सकता है कि उसके पास ४ टुकड़े हैं या उसके हाथ में ५ उँगलियाँ हैं। 'चार' को वह सबसे अन्त में गिने जाने वाले टुकड़े का नाम मान लेता है, वह उसके लिये वास्तव में स्थान या श्रेणी का सूचक होता है, संख्या का सूचक नहीं। स्कूल आने से पहले ६-७ वर्ष की आयु तक अनुपात तथा सम्बन्ध बोधक अर्थ को तो बच्चे कदाचित् ही समझ पाते हैं,हाँ 'आधे' को वे समझने लगते हैं।"

भिन्न-भिन्न वस्तुओं के पारस्परिक अन्तर तथा साम्य को भी समझ सकना आरम्भ में सम्भव नहीं होता; कुछ पहले तथा कुछ बहुत बाद में समझ में आते हैं। "टरमैन के बुद्धिमाप की प्रश्नावली में पत्थर तथा अंडे का अन्तर ७ वर्ष की आयु में एवं ऊन और कोयले का अन्तर ८ वर्ष की आयु में रखा गया है। राजा तथा सभापति का अन्तर १४ वर्ष के एव पहले ग़रीबी और दु:ख, तथा चरित्र और ख्याति का अन्तर १६ वर्ष के पहले बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती।"

ऊपर प्रत्ययात्मक विचार का जो दिग्दर्शन कराया गया है उसका अभिप्राय यह दिखाने का है कि अकसर हम पढ़ाते समय उन प्रत्ययों को आधार मान लेते हैं जिनका ज्ञान बच्चों को नहीं हुआ रहता। इस प्रकार काफी समय नष्ट होता है और बालकों को निरुत्साहित होना पड़ता।है। उनके विचारों के विकास का क्रम, जैसे पहले भी बताया जा चुका है, मूर्त व्यक्ति, मूर्त जाति और तब अमूर्त भाव होता है। अतएवं शिक्षा देने में हमें व्यक्ति से जाति की ओर और मूर्त (concrete) से अमूर्त (abstract) की ओर बढ़ना चाहिए। प्रत्ययों के निर्माण में विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों ही क्रियायें होती हैं, अतएव हमें जिन प्रत्ययों का ज्ञान कराना हो उसके अनेक उदाहरण देना

चाहिए। प्रत्यय इसी प्रकार बनते हैं, इसी प्रकार बन सकते हैं। पर्याप्त दृष्टान्तों के अभाव में बालक केवल शब्द रट लेंगे, उसका कोई अर्थ उनकी समझ में नही आवेगा।

भाषा (language)—अभी तक जिन मानसिक क्रियाओं का वर्णन इस अध्याय में हुआ है उनके सबके समुचित विकास में भाषा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा विचार करने तथा विचारों को व्यक्त करने का साधन है। बिना भाषा-ज्ञान के हम अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट तो कर ही नहीं सकते, विचार करने में भी हम अपने को असमर्थ पाते हैं। जिन प्रत्ययों के सहारे हमारी विचार-क्रिया चलती है वे शब्दों में ही स्थायी बनाये जा सकते हैं। भाषा मानव-जाति का संचित ज्ञान-कोष है। हमारे पूर्वज जिन प्रत्ययों को बना कर शब्द रूप में हमारे लिए छोड़ गये हैं हम उनके सहारे और भी ऊपर उठ सकते हैं। उन को बिना जाने हमें फिर से वही श्रम करना पड़ेगा, हम पूर्वजों के अनुभव से कोई लाभ न उठा सकेंगे।

भाषा का मुख्य काम एक के विचारों को दूसरों पर व्यक्त करना है। विचार अनेक प्रकार से व्यक्त किये जा सकते। चित्र बनाकर, संकेत करके, अथवा शब्दों के प्रयोग से। एक प्रकार से ये सभी भाषा कहला सकते हैं। परन्तु यह शब्द प्राय: अन्तिम विधि के ही लिये प्रयुक्त किया जाता है। अत: यहाँ पर हम उसी का विचार करेंगे।

भाषा कृत्रिम संकेतों का संग्रह है। जिस प्रकार गूंगे-बहरे व्यक्ति स्वाभाविक संकेतों (natural signs) के द्वारा अपने भावों को व्यक्त करते हैं वैसे ही शब्द किसी विचार को व्यक्त करने के कृत्रिम संकेत (artificial signs) होते है। स्वाभाविक संकेत तो निर्दिष्ट वस्तु से कुछ कुछ न कुछ साम्य रखते हैं। प्यास लगने पर भाषा-ज्ञान-हीन व्यक्ति अपने दोनों हाथों को संयुक्त करके, एक पात्र का सा आकार बनाकर, मुँह की ओर ले जाता है। यह संकेत वास्तव में जल-पान

क्रिया का ही अनुकरण है। इस संकेत में जल-पान-क्रिया से इतना साम्य है कि यह उनकी याद दिलाकर हमें संकेत करने वाले व्यक्ति का अर्थ ग्रहण करने में सहायता देता है। कृत्रिम संकेतों में ऐसा कोई साम्य नहीं होता। कोई भी शब्द किसी भी वस्तु का बोध करा सकता है। स्वाभविक संकेत के द्वारा जो मनुष्य भोजन करने की इच्छा प्रकट कर रहा है उसका यह अर्थ कभी नहीं लिया जा सकता कि वह जाडे से परेशान है। किन्तु कृत्रिम संकेतों में यह विशेषता नहीं होती। वहां तो कोई भी शब्द किसी भी ऐसे अर्थ को व्यक्त कर सकता जिसके लिये वह प्रचलित हो जाय। यदि आज हम यह निश्चय करलें कि हाथी को चिउंटी कहा जाया करेगा और चिउंटी को हाथी तो भविष्य में हम वही समझने लगेंगे और उससे हमारे अर्थ-बोध में किसी भी प्रकार की अनवस्था नहीं होगी। शब्दों का अर्थ लोक-प्रयोग पर निर्भर करता है, शब्द-संकेत में निहित किसी विशेषता पर नहीं।

हमारी भाषा कृत्रिम संकेतों का समूह तो है परन्तु वह निरी कृत्रिम भी नहीं है। अनेक शब्द तो निश्चय ही किसी बर्बर संकेत के थोड़े बहुत परिवर्तित यद्यपि यथार्थस्वरूप है। जैसा 'नन' ने लिखा है, अंगरेजी भाषा के अनेक शब्द तों नाद के द्वारा ही अपना अर्थ प्रकट करते हैं और नाम भी किसी न किसी ध्वनि के कारण ही रख दिये गये हैं कोयल को अंगरेजी में 'कक्को (cuckoo) कहते हैं क्योंकि जब कोयल बोलती है तो बहुत कुछ इसी से मिलती जुलती आवाज करती है। बिल्ली के बोलने को 'क्मू' (mew) कहते हैं जो उसकी आवाज का बहुत सुन्दर प्रतिनिधित्व कर सकता है। यदि देखा जाय तो हिन्दी में भी इस प्रकार के शब्दों का अभाव नहीं है। दहाड़ना, चिंग्घाड़ना क्या सिंह तथा हाथी के स्वाभाविक नाद का ही अनुकरण नहीं है तथा हें-हें करना, भन-भन, इत्यादि शब्द भी क्या अपने अर्थ का बोध नाद ही के द्वारा नहीं करा देते? इस प्रकार को अनुकरण भाषा में इतना

अधिक पाया जाता है कि इसके आधार पर भाषा की उत्पत्ति का एक सिद्धांत ही चल पड़ा है। कुछ लोगों का कहना है कि सभी शब्दों की व्युत्पत्ति इसी अर्थ-द्योतन-क्षमता के कारण हुई है; वे कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक संकेत हैं। इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन हम भले ही न कर सकें परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शब्दों के अर्थ केवल कल्पना के जोर से ही नहीं निश्चित कर दिये गये हैं, अनेक शब्दों में तो अवश्य ही किसी न किसी प्रकार का स्वाभाविक संकेत वर्तमान है, यह दूसरी बात है कि बहुत समय मंजते-घिसते वे आज इतने परिवर्तित हो गये हैं कि आसानी से पहचाने नहीं जाते।

ये संकेत चाहे स्वाभाविक हों और चाहे कृत्रिम, इतना तो निश्चित ही है कि इनके बिना प्रत्ययात्मक विचार एक कदम भी नहीं चल सकता। अपनी संश्लेषक-विश्लेषक प्रक्रिया द्वारा हम जिस 'प्रत्यय' का निर्माण करते हैं वह हमारे मस्तिष्क में न तो टिक ही सकता है और न उसे हम दूसरों पर प्रकट ही कर सकते हैं यदि शब्द उनको नाम-रूप देकर स्थायी न बना दें। भाव-प्रत्यय, जैसे दृढ़ता, सौकुमार्य, चांचल्य इत्यादि, तो बिना विशिष्ट संज्ञा के अनुभव हीं नहीं किये जा सकते। विज्ञान-संबंधी कुछ ऐसे भी प्रत्यय हैं जिनके लिए पारिभाषिक संज्ञाओं का निर्माण करना होता है। गणित के अनेक सिद्धान्त कुछ थोड़े से कृत्रिम संकेतों में ही प्रकट किये जाते हैं जो हमारी सामान्य भाषा के संकेतों से भिन्न होते हैं यद्यपि उनके सहारे विशेज्ञ काफी मात्रा में विचार-क्रिया कर सकते हैं, तथा उनके अभाव में विचार कर सकना सम्भव नहीं होता।

मनोविकास में हम भाषा का विशिष्ट स्थान पाते हैं। वह प्रत्ययों के बनने में सहायक होता है, बने हुए प्रत्ययों के आधार पर नवीन प्रत्ययों की सृष्टि करने में उससे बड़ी मदद मिलती है और विचारों के पारस्परिक आदान-प्रादान का वह सबसे श्रेष्ठ साधन है। किन्तु

इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमारे सभी प्रकार के विचारों को प्रकट कर सकने की क्षमता भाषा में है। बड़े से बड़े विद्वान् को भी अकसर अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिये उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। साधारण पुरुषों को तो पद-पद पर इस कठिनाई का सामना करना होता है। शब्द-भण्डार की दृष्टि से कुछ भाषायें दूसरी भाषाओं की तुलना में अधिक धनी हैं परन्तु धनी से धनी भाषा भी भाव-प्रकाशन का एक दुर्बल साधन ही है। कितने प्रकार के रंगों को हम पहचान सकते हैं किन्तु उनमें से कितने थोड़ों के लिये भाषा में विशिष्ट संज्ञायें हैं। स्वाद-व्यंजक शब्दों में तो भाषा का दारिद्रय् सर्वमान्य ही है। साधारण व्यक्ति आत्म-प्रकाशन उतना अधिक नहीं करता जितना कि एक लेखक या वक्ता करता है। इसीलिए वह प्रायः भाषा की इस कमी को अनुभव भी नहीं कर पाता। कवि, लेखक, वक्ता सभी जानते हैं कि कभी-कभी अथक प्रयास करके भी वे अपनी अनुभूति अथवा विचार को अभिव्यक्त नहीं कर पाते। अतएव भाषा सभी विचारों अथवा अनुभूतियों को सफलतापूर्वक व्यक्त नहीं कर सकती। फिर भी वह आत्माभिव्यक्ति (self-expression) का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिए बाल-शिक्षण में उसका एक विशेष स्थान है और होना चाहिये।

स्पियर मैन के ज्ञान-सम्बन्धी नियम (Spearman's Laws of Cognition)—अभी तक ज्ञान-विकास के जिन विभिन्न स्तरों का वर्णन किया गया है उन सभी में ज्ञान-प्रक्रिया कुछ नियम मान कर ही चलती है। अंगरेज मनोवैज्ञानिक स्पियरमैन ने "बुद्धि का स्वरूप तथा ज्ञान-क्रिया के नामक" ग्रन्थ में कुछ नियमों का उल्लेख किया है। वे ज्ञान-क्रिया के प्रत्येक स्तर में पाये जाते हैं और हमारी एक गम्भीर समस्या का स्पष्टीकरण करते हैं। यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय दे देना अनुचित नहीं होगा।

स्पियरमैन ने ज्ञान-प्रक्रिया के तीन पक्षों अथवा पहलुओं की चर्चा की है—अनुभव-ज्ञान (apprehension of experience), सम्बन्ध-ज्ञान (eduction of relations), सम्बन्धि-ज्ञान (eduction of correlates)। अनुभव-ज्ञान नामक चेतना-पक्ष से हमें यह पता चलता है कि हमारा अनुभव हमें अपने स्वरूप का तथा उसके साथ ही 'अनुभवी' का ज्ञान देता है। अनुभव अनेक प्रकार के हो सकते हैं। संगीत सुनना, रसगुल्ला खाना, क्रोध करना, पुस्तक लिखना सभी अनुभव हैं तथा उनके स्वरूप अलग-अलग हैं। रसगुल्ला तथा पुस्तक-प्रणयन की अनुभूति एक ही नहीं है, दोनों के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। जब हम कोई अनुभव करते हैं तो अनुभव की इस स्वरूपगत विशेषता का ज्ञान हमें हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो सभी अनुभव हमारे लिये समान हो जाते। हँसना-रोना, पिटना-पीटना, तब हमारे लिये एक ही अर्थ के बोधक बन जाते। तब हमारा वह निर्विशेष अनुभव हमें वस्तु जगत का कुछ भी उपयोगी ज्ञान न दे सकता। अनुभव हमें अपने स्वरूप का ज्ञान कराने के साथ ही अनुभवी का भी ज्ञान देता है। हम इस बात को भी जानते हैं कि इस अनुभव के कर्ता हम हैं। रसगुल्ला खाकर हम केवल उसकी मिठास को ही नहीं जानते प्रत्युत उसी अनुभव के द्वारा हमें यह भी ज्ञान हो जाता है कि रसगुल्ला खाने वाले हम हैं। हम अपने अनुभव को जानते हैं और उसी के साथ अपने को उस अनुभव के कर्ता के रूप में जानते हैं।

'सम्बन्ध-ज्ञान' नामक दूसरा पक्ष हमें वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध बताता है। प्रथम नियम हमें विषय अथवा वस्तु की चेतना मात्र देता है। हमें जिन वस्तुओं का ज्ञान रहता है उनका एक दूसरे के साथ कैसा सम्बन्ध है इस बारे में वह कुछ नहीं कहता। हम अपने सामने दो मेजें रखी देखते हैं। एक दूसरे की अपेक्षा छोटी है। हमें दोनों मेजों का सम्बन्ध-रहित ज्ञान होता है। हम उन्हें देखकर यह

नहीं सोचते कि एक छोटी है और दूसरी बड़ी, हमारी चेतना में दोनों मेजों का यथार्थ स्वरूप ही आता है। दूसरा नियम कहता है कि अनुभव के आरम्भिक क्षण में कदाचित् ऐसा होना सम्भव हो परन्तु हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति यही है कि बहुत शीघ्र हमारा ध्यान उनके सम्बन्ध की ओर आकृष्ट हो जाता है। दोनों मेजों की अपने ही स्वरूप में निरपेक्ष अवस्थिति अधिक काल तक नहीं ठहरती। मन उनमें सम्बन्ध ढूँढ़ ही लेगा। मन का स्वभाव ही ऐसा है। वह दोनों को देखकर, उन्हें नाना प्रकार के सम्बन्धों में गूँथ कर, ही जानता है। अत: उन मेजों के स्वरूप-ज्ञान के साथ ही हम एक को दूसरे से छोटी भी समझ लेते हैं। दो लाल कपड़ों को देखकर हम एक रंग को दूसरे की अपेक्षा कम गहरा या अधिक गहरा भी मान लेते हैं। पुस्तक को हम 'मेज के ऊपर' देखते हैं, रोशनाई को 'दावात में' देखते हैं, केवल पुस्तक अथवा केवल रोशनाई नहीं देखते।

सम्बन्धि-ज्ञान नामक तीसरा पक्ष यह है कि यदि हमें एक वस्तु का ज्ञान हो और उस वस्तु के किसी अन्य वस्तु से सम्बन्ध का ज्ञान हो तो उस वस्तु एवं सम्बन्ध-ज्ञान के कारण सम्बन्धित वस्तु का ज्ञान भी हमारे मन में जाग्रत हो जायगा। हमें मोहन का ज्ञान है और यह भी पता है कि उसका पिता सोहन है तो मोहन तथा पिता का ज्ञान होते ही सोहन का उदय चेतना में हो जायगा एवं पुत्र और सोहन का विचार आते ही मोहन की स्मृति जग पड़ेगी। एक सम्बन्धी तथा सम्बन्ध का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी के ज्ञान को भी जगाता है।

स्पियरमैन के बताये इन नियमों से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं जिनका वर्णन पिछले पृष्ठों में यत्र-तत्र हो चुका है। पहले स्मृति, अवधान कल्पना आदि भिन्न-भिन्न मानसिक शक्तियों की स्वतंत्र सत्ता मनोविज्ञान मानता था। आधुनिक अवयवीवाद (Gestalt psychology) ने इसका खण्डन किया। उसने बताया कि हमारा मन एक है, उसकी

भिन्न-भिन्न कही जाने वाली शक्तियाँ उसी के अवयव हैं, सबके मिलने से ही मन बनता है। सम्मिलित शक्तियों का ही कुछ अर्थ हो सकता है। कोई शक्ति स्वतंत्र अथवा सम्बन्ध-रहित रहकर अपना काम नहीं कर सकती। सम्बन्ध-ज्ञान पर जोर देकर स्पियरमैन ने अवयवीवाद की एक प्रकार से पुष्टि की है। दूसरी बात यह है कि कभी-कभी प्रत्यक्षीकरण तथा उच्च विचार-क्रिया को चेतना की दो एकान्त भिन्न स्थितियाँ समझा जाता है। स्पियरमैन प्रत्यक्षीकरण को तर्क में ही पर्यवसित कर देता है। उसके मत में एक ही विकसित होकर दूसरे में परिणत हो जाता है। उनमें प्रकार का नहीं, मात्रा का ही भेद है। वे मन की दो भिन्न श्रेणियाँ नहीं हैं, एक ही मन के दो भिन्न-भिन्न स्तर हैं, एक से ऊपर उठते ही हम दूसरे में जा पहुँचते हैं।

सारांश—प्रत्यक्षीकरण के लिये किसी विषय का इन्द्रियों के सन्निकर्ष में आना नितान्त आवश्यक है। विषय की अनुपस्थिति में तत्सम्बंधी विचार वह प्राणी नहीं कर सकता जिसके विकास का स्तर प्रत्यक्षीकरण से ऊपर नहीं उठा। प्रत्ययात्मक स्तर पर पहुँच कर विचार-विमर्श के लिये विषय की उपस्थिति आवश्यक नहीं रह जाती। प्रत्ययात्मक विचार कई श्रेणियों के होते हैं। उनकी निम्नतम श्रेणी प्रतिमा-मूलक होती है। प्रतिमा बहुत कुछ प्रत्यक्ष के समान ही होती है। भेद केवल इतना ही होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट होता है और प्रतिमा अपेक्षाकृत अस्पष्ट। प्रत्यक्ष में ज्ञान का आधार 'विषय' होता है एवं प्रतिमा में उसकी स्मृति।

पहले बालक को व्यक्ति का ज्ञान होता है। बाद में एक ही जाति के अनेक व्यक्तियों का ज्ञान प्राप्त करके, समस्त भिन्नता का परित्याग एवं समानता का ग्रहण करके, वह जाति अथवा सामान्य का प्रत्यय बना लेता है। इसके भी बाद में भाव-प्रत्यय बनते हैं। पहले 'माता'-व्यक्ति' का, फिर 'माता-जाति' का एवं तब 'मातृत्व' का प्रत्यय बनता

है। अल्प वयस्क बालकों के शिक्षण में हमें इस क्रम का ध्यान रखना चाहिये।

जब बच्चे किसी प्रत्यय का व्यवहार करें तो हमें यह न समझ लेना चाहिये कि उसका सही अर्थ वे समझते हैं। प्रयोग तो वे प्रायः अनुकरण के आधार पर करने लगते हैं। प्रत्यय बाद में बनता है। देश-काल, एवं संख्या के अनेक प्रत्यय बहुत देर में बनते हैं। अतएव इन प्रत्ययों के द्वारा जब हम कोई बात बच्चों को सिखावें तो हमें इस बात का पता अवश्य लगा लेना चाहिये कि वे हमारी बात समझ रहे हैं अथवा नहीं। नये प्रत्यय का ज्ञान देते समय अनेक उदाहरण देना आवश्यक है, प्रत्यय इसी प्रकार से बनते हैं।

विचार-विकास में भाषा का बहुत महत्व है। प्रत्यय भाषा में ही व्यक्त किये जाते हैं। प्रत्ययों की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भाषा उनके निर्माण करने एवं स्थायी बनाने का भी साधन है। अतएव भाषा की शिक्षा बाल-मनोविकास के लिये नितान्त उपयोगी है। भाषा में प्रयुक्त संकेत कृत्रिम होते हैं। किन्तु अनेक शब्द स्वाभाविक संकेत कहे जा सकते हैं क्योंकि उनके बाद में अपने अर्थ को प्रकट करने की क्षमता होती है। भावाभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन होने पर भी भाषा उसका बड़ा दुर्बल साधन है। अनेक भाव बड़ी कठिनता से ही व्यक्त किये जा सकते हैं क्योंकि उनके लिये उपयुक्त शब्द भाषा के भण्डार में अभी तक नहीं हैं। फिर भी जहाँ तक हो भाषा का सुन्दर ज्ञान बालकों को शुरू में ही दे देना चाहिये जिससे उन्हें ज्ञानार्जन में कुछ सुविधा हो जाय।

स्पियरमैन ने ज्ञान संबंधी तीन नियम बताये हैं। चेतना का नियम यह है कि प्रत्येक अनुभव अपने स्वरूप के साथ ही अनुभव कर्ता का ज्ञान देता है। सम्बन्ध-ज्ञान का नियम वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध बताया है। सम्बन्धि-ज्ञान का नियम कहता है कि यदि हमें एक सम्बन्धी

बताता

और एक सम्बन्ध का ज्ञान हो तो दूसरे सम्बन्धी का ज्ञान उसी से हो जायगा।

प्रश्न

(१) प्रत्यय किस प्रकार एवं किस क्रम से बनते हैं ? उदाहरण देकर समझाइये।

(२) बाल-मानस के विकास में भाषा का इतना महात्व-पूर्ण स्थान क्यों है ?

(३) स्पियरमैन ने ज्ञान के कितने नियम बताये हैं ? उनका संक्षिप्त परिचय दीजिये।

तर्क एवं कल्पना

Reasoning and Imagination

तर्क (reasoning)—पिछले अध्याय में जिस विचार-क्रिया का वर्णन हमने किया है तर्क में और उसमें विशेष अन्तर नहीं है। तर्क भी, जैसा बताया जा चुका है, एक प्रकार का विचार ही है। तर्क सामान्यत: उस विचार-क्रिया को कहते हैं जिसका सम्बन्ध तात्कालिक परिस्थिति तक ही सीमित नहीं रहता। याद की हुई कविता का कोई चरण जब हम भूल जाते हैं और स्मरण करने का प्रयास करते हैं तो इस स्मरण-सम्बन्धी विचार को हम तर्क नहीं कह सकते। इस स्मरण का तात्कालिक महत्व है, जहाँ एक बार चरण याद आया कि विचार समाप्त हो गया। तर्क में हमारी विचार-प्रक्रिया कुछ जटिल तथा विचार-परम्परा अधिक व्यापक एवं कल्पनात्मक हो जाती है। वास्तव में समस्त उच्च विचार-क्रिया को कल्पनात्मक विचार (imaginative thinking) कहा गया है। जिसे हम लोग कल्पना कहते हैं वह इसी कल्पनात्मक विचार का एक रूप है जिसे रसात्मक (aesthetic) कहते हैं। तर्क करने में जिस कल्पना का विशेष सहारा लेना रहता है उसे कार्य-साधक (pragmatic) कहा जाता है। तर्क करते समय इसी कार्य-साधक कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। वुडवर्थ अपने मनोविज्ञान में लिखता है—"यदि हम विचारों की मदद से हथौड़े की खोज करें और हमारे विचार निम्न प्रकार से चलें तो हम उसे तर्क कहेंगे—'वह हथौड़ा कहाँ है? खोई वस्तु को वहीं ढूँढ़ने

का नियम है जहाँ उसे अन्तिम बार इस्तेमाल किया गया हो। हमने आखिर ही बार हथौड़े से ऊपर वाले कमरे में काम किया था। अत: वह उसी कमरे में होगा।' यह 'अत:' शब्द प्रकट करता है कि यहाँ पर दो बातों के स्मरण हो आने से एक निष्कर्ष निकाला गया है और वे दो बातें हैं खोजने का नियम तथा हथौड़े को इस्तेमाल करने की स्मृति।"

इससे मालूम होता है कि तर्क में वर्तमान निरीक्षण तथा अतीत की स्मृति के सहारे कोई निष्कर्ष निकाला जाता है। यह निष्कर्ष निकालना ही तर्क का प्राण है। इसके लिये प्राय: एक लम्बी विचार-प्रक्रिया आवश्यक होती है। पहले प्रदत्त (data) एकत्र करना होते हैं। तब उन प्रदत्तों का समन्वय (combination) किया जाता है। फिर उन समन्वित प्रदत्तों का अभिप्राय समझना होता है और अन्त में उस अभिप्राय या निष्कर्ष का परीक्षण होता है।

कार्य-साधक कल्पना अथवा तर्क में वाह्य नियमों को पूर्णरूपेण मानकार चलना होता है, जिधर चाहे उधर जाने को मन स्वतंत्र नहीं रहता। जिस तरह हम किसी परीक्षण में वस्तु-स्थिति से भटक नहीं सकते, उसी के आधार पर हमें आगे बढ़ना पड़ता है, उसी प्रकार तर्क करने में हमें कुछ नियम मान कर ही चलना पड़ता है।

तर्क में भौतिक-विज्ञान के नियमों की अवहेलना नहीं की जा सकती और न किसी बाधा को कल्पना के सहारे हम अतिक्रम ही कर सकते हैं। यदि हमें एक गाँव में पहुँचना है और बीच में एक ऊँचा पहाड़ या गहरी नदी पड़ती है तो तर्क के सहारे हम यह नहीं सोच सकते कि पहाड़ अथवा नदी का अस्तित्व ही नहीं है। परिस्थिति जो है उसको वैसा ही मान लेने को तर्क वाध्य है। यदि हम निसर्ग-नियमों के विरुद्ध यह मानना चाहें कि सूर्य रात में निकलता है या नदी का पानी पहाड़ से नीचे न गिर कर ऊपर की ओर बहता है तो हमारा विचार तर्क युक्त नहीं होगा।

तर्क वास्ताव में एक परीक्षण है जिसे कल्पना में ही करके परिणाम का ठीक-ठीक अनुमान किया जा सकता है। वे छोटे बच्चे जो तर्क नहीं कर पाते प्रत्येक समस्या को कार्य रूप देकर ही सुलझा सकते हैं। गलती होने पर शारीरिक श्रम एवं आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, परन्तु इस व्ययसाध्य पद्धति के अतिरिक्त उनके पास दूसरा साधन ही नहीं होता। बुद्धिमान व्यक्ति कल्पना में ही क्रिया का अभिनय कर लेता है और परिणाम का सही-सही अन्दाज लगाकर तब क्रिया आरम्भ करता है। शतरंज के खेल तथा रेखागणित के प्रश्नों में तर्क की बहुत आवश्यकता पड़ती है। अच्छा खिलाड़ी बहुत सी चालें मन में ही चलता है, उनके परिणाम को समझता है और तब सबसे अच्छी चाल चुन लेता है। वह सोचता है कि यदि हमने अपना 'मोहरा' इस ओर को चला तो हमारा प्रतिद्वन्द्वी अमुक चाल चलेगा, उससे हमारा यह नुकसान या यह फायदा होगा। वास्तव में गोट हटाने से पहले तर्क के सहारे वह पहले ही से जान लेता है कि सबसे अधिक सन्तोषकर चाल कौन सी होगी। रेखागणित के प्रश्नों में भी दी हुई आकृति बनाने से पहले हम काल्पनिक आकृति बनाते हैं और जब यह देख लेते हैं कि इस प्रकार दी हुई सब शर्तें पूरी हो गईं तो उसे ठीक-ठीक बना देते हैं; जब तक ठीक ठीक समाधान नहीं हो जाता, तब तक अनेक बार, अनेक आकृतियों को बनाते-मिटाते नहीं रहते। वास्तविक जीवन में भी अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जब तर्क के द्वारा हमें पहले से ही यह निर्णय कर लेना होता है कि कौन सा मार्ग हमारे लिये ठीक होगा। मान लो हमें पहाड़ पर रहकर गरमी बितानी है और यह तय करना है कि हम नैनीताल, मंसूरी, रानीखेत में से कहाँ जायँ तो हम कैसे तय करेंगे? हमारे पास दो मार्ग हैं, एक प्रयत्न और भूलवाला और दूसरा तर्कवाला। हम या तो हर जगह जाँय और थोड़े-थोड़े दिन रहकर यह निश्चय करें कि कौन सा स्थान हमारे लिये

अपेक्षाकृति अधिक सुविधाजनक है और या प्रत्येक स्थान की यात्रा कल्पना में करें, सुविधा-असुविधा का हिसाब लगावें और तब निर्णय करें कि हमारे लिये कौन सा स्थान अधिक उपयुक्त होगा। पहले में अधिक धन, समय एवं श्रम की आवश्यकता होगी, दूसरे में सभी की बचत है। एक में वास्तविक यात्रा करके निर्णय किया गया और दूसरे में यात्रा कल्पना में ही की गई, यद्यपि परिणाम दोनों का एक ही रहा। यह काल्पनिक मार्ग निम्न स्तर के प्राणियों के लिये सम्भव नहीं है। जिनका बुद्धिविकास उच्च स्तर का है वे ही इसका उपयोग कर सकते हैं। अत: इस प्रकार समस्याएँ हल करने का अभ्यास बच्चों को देना उनके मानसिक विकास के लिये बहुत आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है कि विचार-प्रक्रिया के सभी रूप एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। प्रत्यक्षीकरण तथा तर्क में कोई मौलिक प्रकारगत भेद नहीं है। एक ही उन्नत होकर दूसरे में परिणत हो जाता है। अतएव 'शुद्ध तर्क' का विकास करने के व्यर्थ प्रयास में हमें क्रियात्मक रूप की अवहेलना नहीं करना चाहिये। गणित, विज्ञान आदि में क्रियात्मक अभ्यास की जो प्रणाली चल पड़ी है हम उसका निरादर नहीं कर सकते। शुद्ध तर्क कुछ नहीं होता, क्रियात्मक आवश्यकतायें ही तर्क को जन्म देती हैं, उन्हें ही तर्क का आधार बनाना चाहिये। हम मानते हैं कि विज्ञान का एक बौद्धिक पक्ष भी है। महान् वैज्ञानिक कभी-कभी यह सुन कर नाराज होता है कि उसके शास्त्र को क्रियात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन समझा जाता है। हमारा यह अभिप्राय कभी नहीं है कि प्रत्येक वैज्ञानिक गवेषणा का माप उसकी तात्कालिक उपयोगिता ही हो। परन्तु अन्तिम लक्ष्य तो विज्ञान का भी प्रकृति पर विजय पाना ही है। प्रकृति को अपने नियंत्रण में लाकर हमें मानसिक शांति मिलती है, उससे हमारी आत्म-गौरव-भावना की तृप्ति होती है। अतएव इस प्रकृति-

नियंत्रण के अन्तराल में भी वही क्रियात्मक उपयोगिता, प्रच्छन्न रूप से, मौजूद दिखाई पड़ती है। फलत: मनोविकास के प्रत्येक स्तर पर तत्सम्बन्धी क्रियात्मक अभ्यास नितान्त आवश्यक है। 'करके सीखना' शिक्षा-शास्त्र का एक सर्वविदित एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है। इसका अर्थ केवल यही नहीं है कि हमें कुछ करके सीखना चाहिये। वास्तव में बिना किये हम कुछ सीख ही नहीं सकते। क्या उपयोगिता है उस भौतिक शास्त्र के आचार्य की जो शास्त्र के आधुनिकतम सिद्धान्तों को तो तोता के रामनाम की तरह रटे रहे किन्तु जिसे अपनी बिजली का 'फ्यूज' ठीक करने के लिये कम्पनी के कर्मचारियों का मुँह ताकना पड़े? जो रेडियो का विशेषज्ञ तो बना रहे किन्तु अपने रेडियो में ज़रा भी खराबी आ जाने पर उसकी मरम्मत खुद न कर सके? उसका शास्त्र-ज्ञान कोरी बौद्धिक कलाबाजी है, मानसिक व्यभिचार है। ऐसा ज्ञान उन्नति का नहीं, पतन का पथ प्रशस्त करता है।

कल्पना (imagination)—अतीत अनुभूतियों को एक नया क्रम देना ही कल्पना है। वस्तु-जगत् का जो ज्ञान हमें है, जो अनुभव उसके सम्बन्ध में हम कर चुके हैं, उसको ठीक उसी क्रम से, उसी रूप में, स्मरण करना स्मृति है, कल्पना नहीं, यद्यपि कभी-कभी इस अर्थ में भी कल्पना शब्द का प्रयोग किया जाता है। हम कहते हैं कि अमुक घटना की कल्पना मात्र से रोमांच हो जाता है अथवा हमारी कल्पना-शक्ति इतनी कमजोर है कि चिर परिचित वस्तुओं का भी चित्र उसमें नहीं बन पाता। यहाँ पर कल्पना का अर्थ स्मृति ही है। यों तो सभी प्रत्ययात्मक विचार (conceptual thinking) कल्पना-मूलक (imaginative) ही कहे जाते हैं परन्तु अतीत का अनुभव जब अपने अविकल रूप में ही फिर से जाग्रत होता है तो हम उसे स्मृति कहते हैं एवं उस ज्ञान के अधार पर जब हम कोई नूतन रचना करते हैं, उसी को घटा-बढ़ा कर, फिर संगठित करके, एक नवीन रूप दे

देते हैं, तो हम उसे कल्पना कहते हैं। स्मृति में पुनरुत्पत्ति (reproduction) की मुख्यता है तथा कल्पना में सृजन (creation) का प्राधान्य।

कल्पना को कभी-कभी प्रतिमा समझ लिया जाता है जो गलत है। प्रतिमा (image) तो स्मृति का ही एक प्रकार है और इसलिए वह केवल किसी पूर्वानुभव का पुनरुत्थापन ही करती है, नवीन सृजन नहीं। आज भी जब हम आँखें बन्द करके, या खुली हुई रखकर, भगवत् प्रार्थना के लिये दोनों हाथ जोड़े, मुसकुराते हुये महात्मा गांधी को सामने खड़ा देखते हैं तो हमारी मानसिक अनुभूति को प्रतिमा कहना चाहिये परन्तु जब हम मनुष्य तथा सिंह को अलग-अलग प्रत्यक्ष करके, उसी अनुभव के सहारे आधा मनुष्य शरीर आधे सिंह के शरीर में मिलाकर नरसिंह भगवान् की सृष्टि करते हैं तो वह कल्पना के सहारे। प्रतिमा अतीत की निदर्शक होती है, कल्पना भविष्य की निर्माता। प्रतिमा जितनी ज्यादा अपने मूल के समान होती है उतनी ही अच्छी समझी जाती है; कल्पना का गौरव उसकी मौलिकता में है। कल्पना तथा प्रतिमा दोनों ही अतीत अनुभव पर आश्रित होती हैं। प्रतिमा उसे ज्यों का त्यों फिर से हमारे सामने उपस्थित करती है, कल्पना उसका पुनः संगठन करती है और इस प्रकार उसे नया रूप देती है।

हमने देखा कि कल्पना का काम सृजन अथवा उत्पादन है। यह उत्पादक कल्पना दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती है, आदानात्मक और सर्जनात्मक। आदानात्मक कल्पना (receptive imagination) का प्रयोग हम किसी ऐसी चीज़ को समझने में करते हैं जिसे हम पहले से नहीं जानते होते। कोई हमें एक कहानी सुनाता है। कहानी में वर्णित घटनायें पहले से देखी हुई नहीं हैं, उन्हें सुनकर हम ग्रहण करते हैं। कहानी यद्यपि नई है फिर भी इन्हीं घटनाओं से मिलती-जुलती घटनायें हम देख चुके हैं। उन्हीं समान घटनाओं की

अनुभूतियों को जोड़-तोड़ कर हम वर्णित घटनाओं की मूर्ति बनाते हैं। यह मूर्ति हमने बनाई है अवश्य, परन्तु उसके लिये सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री कहानी के लिखने वाले अथवा सुनाने वाले ने एकत्र की है। हमने तो उसे केवल अतीत अनुभव के आधार पर ग्रहण भर किया है। सृजन दूसरे का है, ग्रहण हमारा है। इस ग्रहण के लिये भी कल्पना चाहिये, इन्हीं घटनाओं से मिलते-जुलते अन्य अनुभव चाहिये और उन अनुभवों के पुनः संगठन करने की शक्ति चाहिये, अन्यथा हम उसका ग्रहण भी नहीं कर सकते। इस शक्ति का नाम आदानात्मक कल्पना इसी लिये रखा गया है क्योंकि इसका काम केवल आदान या ग्रहण करना है। इसी कल्पना से हम गणित के सिद्धान्त अथवा विज्ञान के नियम समझा करते हैं। शिक्षक जब कोई नया पाठ पढ़ाता है तो वह विद्यार्थियों की आदानात्मक-कल्पना को उत्तेजित करके ही सफलता पा सकता है। जो मूढ़ हैं, जिनमें उसका अभाव है, वे बताने से भी बात समझ नहीं पाते। कभी-कभी यह भी होता है कि शिक्षक विद्यार्थी के अतीत अनुभवों की, पूर्वार्जित ज्ञान की, पर्याप्त सहायता नहीं लेता। अतः ग्रहण करने की शक्ति होने पर भी बालक ग्रहण नहीं कर पाता। अज्ञात को ज्ञात के सहारे ही समझा जा सकता है, उसी तरह समझना तथा समझाना चाहिये।

दूसरा प्रकार सर्जनात्मक कल्पना (creative imagination) है। हम बताई बातें केवल समझते ही नहीं हैं, दिये हुये ज्ञान को केवल ग्रहण ही नहीं करते हैं, स्वयं भी कुछ निर्माण करते हैं। हम कहानी लिख सकते हैं, किसी देखे हुये दृश्य का चित्र आँक सकते हैं, अथवा किसी जटिल समस्या का समाधान कर सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में हमें ग्रहण नहीं करना होता, कुछ सृजन करना होता है। इस सर्जनात्मक कल्पना को भी दो भागों में बाँट दिया गया है, कार्यसाधक (pragmatic) एवं रसात्मक (aesthetic) कार्य-साधक कल्पना

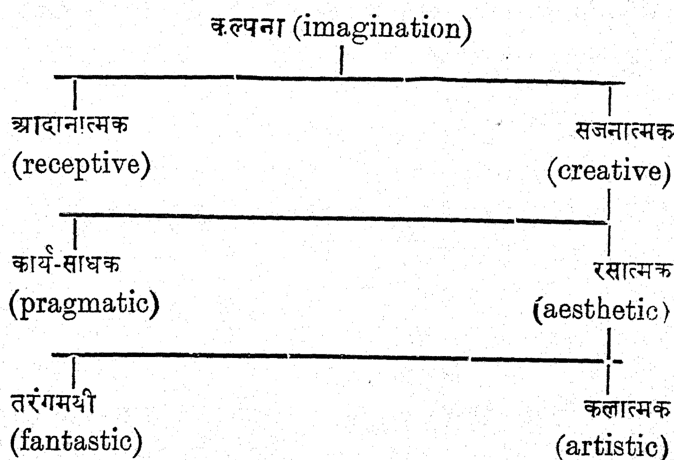
हमारे जीवन के लिये उपयोगी कार्यों में सहायक होती है। उसी के सहारे वैज्ञानिक अन्वेषण होते हैं, उसी के सहारे ज्ञान का विस्तार होता है तथा विभिन्न जटिल समस्याओं को हल किया जाता है। पहले मकान नहीं थे। किसी भी मनुष्य ने मकान देखा नहीं था। तब कल्पना के सहारे किसी ने अपने मन में एक ऐसे आश्रय-स्थान का निर्माण किया होगा जो शीत-ताप से, हिंस्र वन्य-पशुओं से, उसकी रक्षा कर सके। उसी को क्रियात्मक रूप देकर एक भद्दा सा घरौंदा पहले बनाया गया होगा जो परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होकर वर्तमान स्वरूप में आ गया है। आज भी जो वायुयान, रेल, तार, बड़े-बड़े पुल और न जाने क्या-क्या निर्मित हो रहे हैं वे सब इसी कल्पना के द्वारा। कार्य-साधक कल्पना निर्माण तो करती है परन्तु उसे प्राकृतिक नियम तथा वाह्य सत्य को मानकर ही चलना पड़ता है। हमें किसी व्यक्ति के पास बहुत जरूरी ख़बर भेजना है। हम स्वयं बीमार हैं अतः वहाँ तक जा नहीं सकते। हमारी कल्पना हमें एक नया रास्ता दिखाती है। हम पत्र लिखकर उसके पास भेज सकते हैं। लेकिन इसके लिये कागज, कलम; दावात चाहिये, पोस्टेज के लिये पैसा चाहिए। इनके अभाव में हमारी कल्पना काम नहीं कर सकती। जैसे परी की कहानी में उपयुक्त साधन के अभाव में भी कार्य पूरा हो सकता है उसी प्रकार कार्य-साधक कल्पना अपना काम नहीं चला सकती, परिस्थिति की उपेक्षा करके उसे जीवित नहीं रखा जा सकता।

रसात्मक कल्पना (aesthetic imagination) में कोई वाह्य नियन्त्रण नहीं होता, उसके स्वच्छन्द प्रवाह में कोई अवरोध नहीं आ सकता। चित्रकार जब किसी मधुर आकृति को कल्पना के बल से अंकित करता है तो उसे यह चिन्ता यही रहती कि वास्तविक संसार में इसकी सम्भावना भी है या नहीं। समस्त लौकिक एवं अलौकिक गुणों से सम्पन्न किसी काव्य का आदर्श नायक यदि मनोविज्ञान के

ज्ञान तथा संभव सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है तो कवि किसी कठिनाई में नहीं पड़ जाता। काव्य-जगत् सदा ही वस्तु-जगत् के नियमों को मानकर नहीं चला करता। इस कल्पना-लोक की छटा निराली ही होती है। यहाँ पशु-पक्षी बातें करते हैं, मनुष्यों को ज्ञानोपदेश देते हैं। यहाँ मनुष्य एक दिन जगकर छः महीने सोता है, अथवा लगातार, बिना एक क्षण के लिए भी निद्रित हुए, बारह-बारह वर्ष तक जागता रहता है। सगर के एक साथ उत्पन्न होने वाले ६०,००० पुत्रों की जन्म-भूमि भी यही देश है। इस कल्पना की उड़ान में कहीं बन्धन नहीं, कहीं गतिरोध नहीं। वास्तविक जगत की क्रूरताओं से जर्जरित मानव थोड़े समय के लिए इस अमर लोक में विचरण करके सभी क्लांति, श्रान्ति से निष्कृति पा जाता है। कल्पना शब्द से प्रायः हमारा अभिप्राय इसी रचनात्मक कल्पना से होता है। शिशुओं में अथवा किशोरों में जब हम कल्पना का प्राबल्य बताते हैं तो हमारा उद्देश्य इसी कल्पना से रहता है। संगीतज्ञ, कवि, नाट्यकार, चित्रकार सब इसी कल्पना का प्रयोग करते हैं। यह सच है कि बड़े कलाकार प्रायः अनेक बन्धनों को मानकर चलते हैं। अपनी रचना को स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए भौतिक-विज्ञान; मनोविज्ञान आदि के बन्धन भी स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह बन्धन आत्मकृत है; वाह्य-आरोपित नहीं। ईश्वर ने जिस प्रकार स्वेच्छा से ही अपने को सृष्टि के उत्पादन, पालन एवं विनास के महान उत्तरदायित्व से बँध रखा है, उसी प्रकार कलाकार भी कुछ नियमों में बँध कर चलता है। किन्तु वह उन्हें मानने के लिये विवश नहीं है। अपने कल्पना-लोक में वह भी, भगवान् की तरह, 'परम स्वतंत्र' है, उसके भी सिर पर कोई नहीं है। हाँ जब वह संबद्धता, स्वाभाविकता आदि को मान कर चलता है तो उसकी कल्पना को कलात्मक (artistic) कहते हैं, हम उसका विशेष

सम्मान करते हैं अन्यथा वह केवल तरंगमयी (fantastic) कल्पना है बच्चों का कथा-प्रेम, उनके दिवा-स्वप्न एवं उनके नाना प्रकार के खेल इसी रसात्मक कल्पना के उदाहरण हैं तथा उनके द्वारा उन्हें जिस आनन्द की उपलब्धि होती है उसे रसानुभूति कहा जा सकता है।

यहाँ पर कल्पना के जिन भिन्न-भिन्न प्रकारों की व्याख्या की गई है उनको एक तालिका के द्वारा भली भांति समझाया जा सकता है। सुविधा के लिये नीचे तालिका दी जाती है।



रचनात्मक कल्पना और शिक्षा—कल्पना का वर्णन करते हुये, जैसा ऊपर की तालिका से स्पष्ट है, हमने तीन मुख्य रूपों को लिया था, कार्य-साधक, कलात्मक तथा तरंगमयी। व्यक्ति के सम्यक् विकास के लिये हमें तीनों प्रकार की कल्पना की शिक्षा देनी चाहिए। कार्य साधक कल्पना की शिक्षा तो आवश्यक है ही। उनकी उपयोगिता तो सर्व-सम्मत है। विज्ञान की उन्नति कार्य-साधक कल्पना के ही विकास का फल है। इंजीनियर, डाक्टर, रासायनिक एवं अनन्त प्रकार से

समाज का उपकार करनेवाले अन्य अनेक महात्मा पुरुष इसी का प्रयोग करके अपने को अमर तथा लोक को सुखी एवं सम्पन्न बना गये हैं। उसकी शिक्षा एवं अभ्यास की व्यवस्था करने के सम्बन्ध में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। प्रश्न केवल पिछले दोनों प्रकारों का है। अतः रसात्मक कल्पना के इन दोनों प्रकारों की व्याख्या अधिक विस्तार के साथ अब हमें कर लेना चाहिये।

कलात्मक कल्पना की उपयोगिता अब स्वीकृत हो चुकी है। स्कूलों में रसानुभूति के अभ्यास पर अब बहुत जोर दिया जाने लगा है; काव्य संगीत तथा अन्य ललित कलाओं को कला दृष्टि से ही सिखाया जाता है। किसी कविता के प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति, उसके सभी सम्भव असम्भव, वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य, अर्थों का पूर्ण ज्ञान देना अब उतना आवश्यक नहीं समझा जाता जितना कि उसे पढ़कर आनन्द की प्राप्ति करने पर। आनन्द को ही विशेष महत्त्व देनेवाले कुछ विद्वान् शिक्षक तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि अर्थ-ज्ञान देना कविता की हत्या कर देना है। यदि कामचलाऊ अभिप्राय बच्चों की समझ में आ जाय तो काफ़ी है, उन्हें उससे अधिक समझाने की कोई आवश्यकता नहीं। संगीत, कल्पना, रहस्य पूर्ण व्यञ्जना—प्रधानतया ध्वनिजात मन की दोलावृत्ति ही—कविता के प्राण हैं। ज्ञान के प्रकाश में वे कुछ कम ही चमकते हैं। जिस प्रकार किसी जादू के खेल के आधारभूत रहस्य का ज्ञान होने पर उसका समस्त चमत्कार नष्ट हो जाता है, हमारे लिये वह सामान्य हस्तलाघव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता, उसी प्रकार किसी काव्य का अर्थ स्पष्ट हो जाने पर काव्य नीरस हो जाता है। अतएव कविता पढ़ाते समय अनेक अध्यापक उसके अर्थ पर कोई ध्यान नहीं देते। बच्चे आनन्द की अनुभूति कर सकें बस इतना ही काफी समझा जाता है। जो स्थल कुछ अस्पष्ट रह जाता है वह रस-परिपाक में सहायता ही करता है। चित्रकला तथा

संगीत आदि के द्वारा भी कलात्मक कल्पना की शिक्षा दी जाती है। स्कूलों में, इस उद्देश्य से, कुछ रचनात्मक कार्य भी कराया जाता है। बच्चे पद्य लिखने को प्रोत्साहित किये जाते हैं, उन्हें चित्र बनाकर उसमें विविध रंग भरने का अभ्यास कराया जाता है, एवं गाने की लाइने देकर उनसे स्वर आदि ठीक से लगाने को कहा जाता है। इससे बहुत लाभ होता है। जो कविता की रचना स्वयं करता है, चित्र बनाना अथवा स्वर लगाना जानता है वह, स्वाभावतः, कविता, चित्र अथवा गान को ज्यादा समझ सकेगा। उसके अभ्यास ने उसे बारीकियों का ज्ञान दे दिया है। कला का जो शास्त्र होता है, उसके जो नियम होते हैं, उनको जानने से रस प्राप्त करने की क्षमता और भी बढ़ जाती है। अतः उसकी शिक्षा भी देना उचित ही है। किन्तु जो जन्मजात कवि नहीं है उसे इस प्रकार का अभ्यास विशेष लाभ नहीं पहुँचा सकता और शास्त्र के नियम अक्सर नीरसता को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार अस्थि, मज्जा, नाड़ियों आदि का चूड़ान्तज्ञान रखने वाला डाक्टर, केवल इसी ज्ञान के नाते, शारीरिक सौन्दर्य का सच्चा पारखी नहीं हो सकता उसी प्रकार काव्य- वैद्यों की रसानुभूति क्षमता का बढ जाना भी निश्चित नहीं है। अतएव कला-शिक्षण में हमें सामान्य छात्रों को शास्त्र तथा सृजन के झमेले में नहीं उलझाना चाहिये। वे कला की कृति को देखें, समझें, तत्सम्बन्धी अपने भावों का पारस्परिक आदान-प्रदान करें यही उचित है। विशिष्ट छात्रों के लिये विशिष्ट आयोजन कर देना ही पर्याप्त होगा।

कलात्मक कल्पना का विशेष विरोध कोई नहीं करता। थोड़ा-बहुत दृष्टिकोण का ही भेद है। उसकी उपयोगिता सबको स्वीकार है। वास्तविक विरोध तो तरंगमयी कल्पना का किया जाता है। मांटीसरी ने उसका प्रबल विरोध किया है। वह बच्चों को परी की कहानियाँ नहीं पढ़ाना चाहती। वह तो कल्पना-मूलक खेलों को भी नापसन्द करती

है। उसका मत है कि कल्पना-लोक में निर्बाध बिचरण करने का आदी बालक कभी भी अपने को वास्तविक जगत् में फिट नहीं कर पाता। वह झूठे स्वप्न देखने का आदी हो जाता है और इसीलिये जब कोई कठिनाई सामने आती है तो वह उससे मुँह फेरकर कल्पना-लोक में भ्रमण करने लगता है। उनको वास्तविक जगत् में रहने का अभ्यास कराना चाहिये जिसका आधार सत्य है, कल्पना नहीं। मांटीसरी का यही खयाल है और इसीलिये उसने कार्यसाधक कल्पना को विशेष महत्व दिया है। वह भूल जाती है कि परी-लोक बहुत कुछ स्वप्न-जगत् होने पर भी बालकों के मन का यथार्थ चित्रण है। और स्वप्न देखना भी हमेशा बुरा नहीं होता। अगर हमें उससे सन्तोष मिलता है तो उसमें हानि ही क्या है? कुछ लोग जीवन को भी स्वपन से अधिक नहीं मानते परन्तु इसीलिये तो वे आत्महत्या नहीं कर लेते। स्वप्नों की एक विशेष उपयोगिता रेचन है। अवरुद्ध वृत्तियों का रेचन कथाओं के पात्रों में आत्मबुद्धि स्थापित करके हो जाता है; साथ ही, जैसा खेल के सम्बन्ध में बताया जा चुका है, जीवन की कठोरता को, इस व्याज से तुष्टि लाभ करके, अधिक सहनक्षम बनाया जा सकता है। हाँ, इसकी भी एक सीमा है। जब कोई बालक केवल कल्पना में ही रहने लगे, जब वह सचमुच वास्तविक कठिनाइयों से मुँह मोड़कर अन्तर्जगत को ही सब कुछ बना ले, तो हमें उसका प्रतिकार अवश्य करना चाहिये। उचित मात्रा में यह ठीक है, उसका अतिक्रमण हानिप्रद होगा। वास्तव में हमें वस्तु जगत् एवं अन्तर्जगत् को संतुलित रखना होगा। एकांगी विकास सभी दशाओं में अवांछनीय है।

सारांश—तर्क तथा अन्य प्रत्ययात्मक विचार-क्रिया में कोई विशेष अन्तर नहीं है। तर्क में विचार-परम्परा अधिक व्यापक, अधिक जटिल एवं कल्पनापूर्ण हो जाती है। उसमें वर्तमान निरीक्षण एवं अतीत की स्मृति के सहारे निष्कर्ष निकाला जाता है और मन बाह्य-नियन्त्रण को,

प्रकृति एवं परिस्थिति के नियंत्रण को, मानकर ही चलता है, तरङ्गमयी कल्पना की तरह वह स्वच्छंद नहीं होता। नदी के पारजाने की इच्छा करने वाला पुरुष यह नहीं मान सकता कि बीच में नदी है ही नहीं अथवा मैं उड़कर उसके पार जा सकता हूँ क्योंकि पहला सच नहीं है और दूसरा असम्भव है।

हमें बौद्धिक विकास के लिये तर्क-शक्ति को विकसित करने का प्रयास करना चाहिये। विज्ञान की उन्नति इसी पर आश्रित है। परन्तु उस तर्क-शक्ति का क्रियात्मक, व्यावहारिक, जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव व्यावहारिक जीवन की उपेक्षा करके तर्क का विकास सम्भव नहीं है।

कल्पना तथा स्मृति में अन्तर है। स्मृति अतीत की अविकल पुनरुत्पत्ति है तथा कल्पना अतीत अनुभव का भावी उपयोग के लिये पुन: संगठन है। कल्पना को प्रतिमा समझना भी ग़लत है। प्रतिमा अतीत अनुभव के स्पष्ट मानसिक-चित्र को कहते हैं, कल्पना में कुछ घटा-बढ़ाकर निर्माण करना रहता है। कल्पना को आदानात्मक तथा सर्जनात्मक दो भागों में विभक्त किया गया है। सर्जनात्मक कल्पना भी दो प्रकार की है, कार्य-साधक एवं रसात्मक। कार्य-साधक कल्पना वही है जिसको हमने ऊपर तर्क का नाम दिया है। रसात्मक कल्पना में मन बिलकुल स्वच्छंद रूप से काम करता है, वाह्य-नियंत्रण को स्वीकार नहीं करता। जब स्वाभाविकता आदि लाने के लिये, विवश न होने पर भी, व्यक्ति कुछ नियंत्रण स्वीकार कर लेता है तो वह कलात्मक कहलाती है अन्यथा हम उसे तरंगमयी कहते हैं।

रसात्मक कल्पना के जिन तीन मुख्य रूपों का ऊपर वर्णन हुआ है उनमें सभी की शिक्षा देने का प्रबन्ध होना चाहिये। कार्यसाधक कल्पना विज्ञान, दर्शन इत्यादि की जननी है। उसका विस्तार और विकास, ज्ञान और सभ्यता का विकास है। अत: उसकी नियन्त्रित शिक्षा देने में सबकी सम्मति है।

कलात्मक कल्पना की उपयोगिता भी अब प्राय: स्वीकृत हो चुकी है। काव्य, चित्रकला, संगीत आदि पढ़ाने का अब सब जगह प्रबन्ध कर दिया गया है। कला की शिक्षा में अब ज्ञान पर उतना जोर नहीं दिया जाता जितना आनन्द की उपलब्धि पर। छात्रों को कभी-कभी रचनात्मक भी कार्य एवं रचना का अभ्यास आनन्द-प्राप्ति में सहायक तो होता है परन्तु अधिकांश विद्यार्थियों को उससे कोई लाभ नहीं होता। वे कला को समझें, उसमें आनन्द लें एवं उसके सम्बन्ध में चर्चा कर सकें इतना ही काफ़ी है।

तरंगमयी कल्पना तथा कलात्मक कल्पना का भी मांटीसरी ने बहुत विरोध किया है। उसकी राय में काल्पनिक जीवन बिताने वाले विद्यार्थी आगे चल कर वास्तविक जीवन से जी चुराने लगते हैं, उनमें स्वप्न देखने की आदत पड़ जाती है। यह उसकी भूल है। वह कल्पना के रेचक गुण की अवहेलना कर गई है। उसने विद्यार्थी के कल्पना-पूर्ण जीवन को ठीक समझा भी नहीं है। अतः शिक्षा में कल्पना-विकास का विशेष प्रबन्ध करना आवश्यक है।

प्रश्न

(१) प्रतिमा (imagery) तथा रसात्मक कल्पना (imagination) का विचार-प्रक्रिया में क्या स्थान है ?

(२) कार्य-साधक (pragmatic) तथा रसात्मक (aesthetic) कल्पना का भेद बतलाइये तथा बालकों की कल्पना शक्ति के विकास के लिये पौराणिक गाथाओं एवं परियों की कथाओं के उपयोग के विषय में माटीसरी के मत की आलोचना कीजिये।

(३) रसात्मक कल्पना तथा रसास्वादन का बच्चों में क्या रूप होता है ? आप उनमें रसास्वादन के लिए अभिरुचि (taste) उत्पन्न करने के लिये क्या करेंगे ?

(४) बच्चों के मानसिक तथा नैतिक विकास के लिये रसात्मक कल्पना का इतना महत्त्व क्यों है ? आप उसका विकास किस प्रकार करेंगे ?

(५) "बच्चों के दिवास्वप्न तथा काल्पनिक (make–believe) खेल उनके विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।" काल्पनिक खेलों का विशेष ध्यान रखते हुये उपर्युक्त कथन की व्याख्या कीजिये।

व्यक्तित्व-निर्माण तथा चरित्र-विकाश

(Development of Personality and Character)

व्यक्तित्व एवं चरित्र—मनुष्य का व्यक्तित्व उसके आचरण के समस्त गुणों का समुच्चय है। वह हँसमुख है, कर्तव्यनिष्ठ तथा धर्म-परायण है, विनम्र एवं उदार है, चिड़-चिड़ा अथवा निर्दय है, लोगों से मिल कर काम करने का आदी है अथवा नहीं इत्यादि सब उसके व्यक्तित्व के अंग हैं। चरित्र भी आचरण ही है। परन्तु व्यक्तित्व तथा चरित्र में थोड़ा अंतर है। चरित्र वाह्य आचरण की अपेक्षा उसके मूल में रहने वाली प्रेरणाओं से अधिक सन्बद्ध है। हमारा नैतिक आचरण जिन वृत्तियों से नियंत्रित होता है उन समस्त अर्जित एवं सहज वृत्तियों के संगठित स्वरूप को चरित्र कहते हैं। व्यक्तित्व का नैतिकता से प्राय: कुछ सम्बन्ध नहीं होता। हँसमुख तथा गम्भीर व्यक्तियों में नैतिकता की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है यद्यपि दोनों के व्यक्तित्व अलग-अलग हैं। चरित्र में नीति का पक्ष भी रहता है। नीति-शास्त्र में जिसे भला या बुरा, वांछनीय अथवा त्याज्य कहा जा सके, आचरण की उसी प्रवृत्ति का समावेश चरित्र में सामान्यत: किया जाता है। परन्तु हम इस सूक्ष्म भेद को विशेष महत्त्व न देकर, दोनों को समानार्थक मानकर, उनका विवेचन करेंगे।

हमारा चरित्र तथा व्यक्तित्व सुगठित हो सकता है अथवा असं-गठित; हम स्वभावत: उच्च आदर्शों को प्राप्त करने में लगे रह सकते हैं अथवा हमारी रुचि हीन आदर्शों की ओर झुकी हो सकती है। हमारा व्यक्तित्व सामंजस्यपूर्ण हो सकता है अथवा उसमें विषमता रह

सकती है। कोई हठी या दुराग्रही होता है। वह सही हो या ग़लत अपनी बात पर ही डटा रहेगा, दूसरों की बात नहीं सुनेगा। कोई पाषाण शिला की तरह अटल, अचल, दृढ़ निश्चयी होता है और कोई इतना चंचल-प्रकृति कि हर समय अपना निश्चय बदलता रहता है। कोई अपने मार्ग को स्वयं चुनता है तथा कोई बिलकुल दूसरों पर आश्रित रहता है। इन सभी बातों को अपनी बुद्धि, आचरण तथा इच्छा के द्वारा व्यक्ति स्वयं विकसित करता है। आदत तथा वातावरण से प्राप्त प्रेरणा का भी प्रभाव व्यक्तित्व-निर्माण तथा चरित्र-विकास पर पड़ता है। शिक्षा का भी काफी हाथ रहता है। अतएव हमें देखना चाहिए कि शिक्षा इस सम्बन्ध में क्या कर सकती है—वांछनीय चरित्र के विकास एवं व्यक्तित्व के निर्माण में शिक्षक किस प्रकार एवं कितनी सहायता दे सकता है।

स्थायी-भाव और चरित्र—हमने स्थायी-भावों के वर्णन में आत्म-गौरव के स्थायी-भाव के क्रमिक विकास का वर्णन किया था। तब हमने यह भी बताया था कि जैसे-जैसे यह स्थायीभाव सुसंगठित होता जाता है वैसे ही वैसे यह मनुष्य के समस्त आचरण का मूल बनता जाता है। व्यक्ति प्रत्येक कार्य करने से पहले यह देखने लगता है कि वह कार्य उसके उपयुक्त है या नहीं। यही 'स्व' उसके आचरण को निर्धारित करता है। लेकिन यह 'स्व' भी कोई निश्चित वस्तु नहीं है। उसका रूप तो प्रतिपल बदला करता है। शरीर, विचार, भावनायें, लोकमत एवं नैतिक गुणों के विभिन्न स्तरों को क्रमशः एक ही 'स्व' में गुम्फित करता हुआ, एक 'आदर्श स्व' बनता है और यही 'आदर्श स्व' उसके समस्त आचरण का नियंत्रक बन जाता है। अतएव किसी भी व्यक्ति का चरित्र बहुत कुछ उसके 'आदर्श स्व' से ही निर्मित होता है। यदि हमें किसी के चरित्र को एक वांछनीय रूप देना है तो हमें उसके 'आदर्श स्व' को उसी प्रकार का बनाना चाहिए।

'आदर्श स्व' का विकास बाद में होता है। आरम्भ में बच्चा मूल-प्रवृत्यात्मक जीवन व्यतीत करता है। तब वह मूलप्रवृत्तियों की पूर्ति ही करना चाहता है। मूलप्रवृत्तियाँ ही उसके आचरण की पथदर्शक होती हैं। मूल-प्रवृत्तियाँ उसे जो प्रेरणा देती हैं वह उसका निरोध नहीं कर सकता, वह शक्ति ही उसमें अभी नहीं होती। यह चरित्र का सबसे नीचा सोपान है। कहना चाहिए कि अभी तक उसके चरित्र का निर्माण हुआ ही नहीं। चरित्र की विशेषता यही है कि वह आचरण को इस प्रकार नियंत्रित करे कि अनेक कार्य निसर्गत: प्रिय होने पर भी न किये जाँय तथा अनेक दूसरे कार्य कठिन एवं श्रमसाध्य होने पर भी चरित्र के बल से अवश्य सम्पादित हों। किसी आचरण का दमन तथा किसी को स्वीकार करने की यह शक्ति चरित्र की देन है। प्रथम सोपान में यह नहीं होता। बच्चा भूखा है। उसे कुछ खाना मिलता है। वह उसे खाने लगता है। इसी समय एक दूसरा भूखा बच्चा आता है। इस दूसरे बच्चे को वह अपना खाना नहीं दे सकता। भूख को मिटाना ही उसे इष्ट है; दूसरों के दु:ख से द्रवित होना अभी उसने नहीं सीखा। विकास की इस अवस्था में हमें बालकों से उदार नैतिक आचरण की आशा नहीं करना चाहिये। उनके स्वार्थ-पूर्ण आचरण की निन्दा तथा उसके दमन का फल अच्छा नहीं होता। जैसा पहले बताया गया है, वह बालक के अचेतन में जाकर विकार उत्पन्न कर देता है और यद्यपि भय के कारण उसका वाह्य आचरण भले ही कुछ अच्छा हो जाय परन्तु उसका मन, उसके अज्ञात में, दूसरे ही प्रकार की प्रेरणा देने लगता है। अत: इस समय हमें बच्चे को बलात् उदार बनाने का प्रयास नहीं करना चाहिये। उसके सामने शिक्षा-वाक्य नहीं, वास्तविक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित करना चाहिये। अच्छे आचरण की प्रशंसा उसमें स्पर्धा उत्पन्न करेगी, उसे ऊपर-उठाने में सहयाता देगी। साथ ही अनुकरण की सामान्य वृत्ति

भी उसमें है। यदि चार महीने का बच्चा किसी को मुसकुराते देख कर उसका अनुकरण करने लग सकता है तो बालक भी श्रेष्ठ आचरण का अनुकरण करने का प्रयास अवश्य करेगा। निन्दा तथा प्रशंसा दोनों का ही प्रभाव आचरण के सुधार करने में पड़ता है परन्तु निन्दा यथासम्भव कम ही की जाय तो ज्यादा अच्छा है। निन्दा की प्रति-क्रिया में अवधान प्रायः निंदनीय आचरण पर ही केन्द्रित हो जाता है और प्रशंसा में प्रशंसनीय गुण पर। दण्ड एवं पारितोषिक का भी पर्याप्त प्रभाव होता है। पशुओं को शिक्षित करने में उसका उपयोग होता भी खूब है। पहले भय अथवा लोभ के कारण ही आचरण होता है, आदत पड़ जाने पर वह स्वयमेव होने लगता है।

चरित्र-विकास की दूसरी अवस्था वांछनीय विषयों में स्थायी-भावों की उत्पत्ति है। बच्चा किसी चीज को पसन्द करता है, उसके सम्पर्क में अकसर आकर वह उसके लिये एक प्रेम का स्थायी-भाव बना लेता है। इस स्थायी-भाव के फलस्वरूप वह उसकी अनुपस्थिति में भी उसके लिये प्रेम बनाये रखता है। वह स्थायी-भाव विस्तृत होता जाता है और तब अनेक प्रकार के संवेग उससे जड़ित हो जाते हैं। अपने उसी प्रेम के कारण वह किसी से द्वेष, किसी से घृणा, किसी से स्नेह एवं किसी से ईर्ष्या करने लगता है। ये स्थायी-भाव जड़ वस्तुओं से लेकर ऊँचे से ऊँचे आदर्शों के लिये बन सकते हैं। परन्तु आरम्भिक दशा में वे स्थूल, मूर्त, पदार्थों अथवा व्यक्तियों के ही लिये बनते हैं। हाकी, क्रिकेट आदिक खेल, विशेष प्रकार के फल, ख़ास रंग के कपड़े कोई व्यक्ति, उन स्थायी-भावों का विषय बन जाते हैं। उन विषयों के प्रति तब उसका आचरण उसी स्थायी-भाव के द्वारा नियंत्रित होने लगता है। अतः यदि हम इस समय, मनोविकास के इस स्तर पर, बालकों के चरित्र को किसी विशेष दिशा में प्रभावित करना चाहते हैं तो हमें उनमें उचित स्थायी-भावों की सृष्टि करना चाहिये। अकसर बच्चे दरजे

के किसी दुष्ट लड़के को स्नेह करने लगते हैं अथवा किसी निषिद्ध वस्तु में आसक्ति रखने लगते हैं एवं उनके संवेग उन्हीं के इर्द-गिर्द संगठित हो जाते हैं। इससे उनका चरित्र बिगड़ जाता है। शिक्षकों को चाहिये कि उन्हें वांछनीय गुणों तथा व्यक्तियों के प्रति आकृष्ट करें। इन व्यक्तियों तथा गुणों की प्रशंसा करके, उनके उदाहरण समय समय पर उनके सम्मुख रख कर, उनके प्रति अनुराग उत्पन्न किया जा सकता है। अवांछनीय वस्तुओं के लिए घृणा एवं द्वेष का उत्पादन भी किया जा सकता है। परन्तु जहाँ तक सम्भव हो इन विनाशक वृत्तियों का सहारा कम ही लिया जाय; आखिर बुरी भावना बुरी ही है। यदि हम उन्हें स्नेह, दया-दाक्षिण्य ही सिखायें, घृणा, द्वेष जैसी अवांछनीय वृत्तियों से बचाये ही रखें, तो उनमें उच्चतर चरित्र का विकास होगा।

इसके बाद बालक और भी विकास करता है। वह केवल मूर्त पदार्थों अथवा व्यक्तियों को ही नहीं, जातियों एवं अमूर्त गुणों को भी समझने लगता है। उसके स्थायी-भाव अब इनके लिये भी बनाये जा सकते हैं। उसका प्रेम अब किसी वीर पुरुष तक ही न होकर समस्त वीर जाति के लिए हो सकता है। धीरे-धीरे मूर्त व्यक्तियों का स्थान अमूर्त गुण ले सकता है। वह केवल शिवाजी, महाराणा प्रताप, महात्मा गांधी का ही नहीं, देशभक्तों का ही भक्त बन जा सकता है; वह न्याय-परायण व्यक्तियों को ही नहीं प्रत्युत न्याय को ही श्रद्धा करने लग सकता है। साहित्य तथा इतिहास, राजनीति तथा भूगोल, पढ़ाते समय बालक के अज्ञात में ही इन स्थायी-भावों का सूत्रपात किया जाना चाहिए। आवृत्ति होते-होते उनके संस्कार पुष्ट हो जायँगे और तब उनमें महती प्रेरणा-शक्ति आ जायगी।

स्थायी-भावों का संगठित स्वरूप, आत्मगौरव का स्थायी-भाव, अपने विकास की अन्तिम सीढ़ी पर तब पहुँचता है जब उसमें आदर्शों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख अनेक

आदर्श रहते हैं। वीरों का उपासक वीरता को अपना अदर्श बना सकता है। अब वह वीरता को केवल स्नेह ही नहीं करता, उसे अपने 'स्व' का आवश्यक अंग समझने लगता है; वीरता को दूसरों में देख कर वह केवल प्रसन्न ही नहीं होता, प्रत्युत स्वयं भी वीर बनने का प्रयास करता है। अच्छे वक्ता के ओजपूर्ण व्याख्यान को सुनकर वह अब भी हर्ष से गद्गद् हो उठता है परन्तु उसको वास्तविक सन्तोष तभी होगा जब वह स्वयं भी उच्च श्रेणी का वाग्मी होगा, वाग्मिता को अब उसने अपने आदर्श स्व का भाग ही बना लिया है। इसी प्रकार अनेक नैतिक एवं बौद्धिक गुणों को वह अपने में सम्मिलित कर लेता है। उनके प्राप्त करने में वह अपनी पूर्ण शक्ति लगा देता है। चरित्र-निर्माण में लगे हुए शिक्षक के लिये यह अवस्था विशेष महत्व की है। जितने भी वांछनीय गुण हैं उन्हें यदि बालक के 'आदर्श स्व' का भाग बनाया जा सके तो उसका चरित्र वांछनीय बन सकता है। न्याय, निश्छलता, उदारता, देश-प्रेम, धर्म-परायणता जो कुछ भी बालक अपना आदर्श लेगा वह उसके चरित्र का भाग बन जायेगा। बालक में अभी इतनी शक्ति नहीं रहती कि विवेकपूर्वक वह अपने आदर्श चुन सके। वह अपने आदर्श प्राय: समाज से उधार ले लिया करता है। अत: जिस समाज में वह रहता है उसमें लोक समादृत आदर्श ही उसके अपने आदर्श बन जाते हैं। डाकुओं के बीच में पला बालक यदि बहुत बड़ा डाकू बने अथवा शराबियों के वातावरण में रहनेवाला व्यक्ति यदि घोर पियक्कड़ बन जाय तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसलिये परम आवश्यक है कि शिक्षक बालकों के सम्मुख उचित आदर्श उपस्थित करे और उन्हें अपनाने के लिये वह बालकों को प्रोत्साहित करे। कभी-कभी बालकों के बहुत ऊँचे आदर्शों को देखकर अध्यापक उनकी हँसी उड़ाता है, उन्हें यथार्थवादी बनने की शुभ सम्मति देता है, जो ठीक नहीं है। उच्च जीवन के स्वप्न देखना—

ऐसे स्वप्न जो कभी सत्य नहीं बन सकते, महान्-से-महान् प्रयास जिनके समीप तक ही कदाचित् हमें पहुँचा सकता है, उन्हें प्राप्त नहीं करा सकता—उन्नति का श्रेष्ठ पथ है। अतः आदर्शों के स्वप्नलोक में रहना भी मानवता के लिये एवं आदर्शवादी व्यक्ति के लिये हितकर ही होता है। इस अवस्था में हमें यथा सम्भव बालकों को प्रोत्साहित करना चाहिये जिससे उनकी आदर्शों में और भी भक्ति हो, वे उन्हें त्याग न बैठें। यदि किसी बालक के आत्मगौरव के स्थायी-भाव में कुछ वांछनीय आदर्शों का समावेश किया जा सके तो उसके चरित्र का निर्माण हो गया ही समझना चाहिए।

आदत का चरित्र पर प्रभाव—आदत का भी चरित्र पर बहुत प्रभाव पड़ता है। सैमुअल स्माइल्स ने मनुष्य को 'आदतों को समुच्चय' कहा है। हम देख चुके हैं कि आदतों में मूल-प्रवृत्तियों की ही भाँति महती प्रेरक शक्ति होती है। जिसे शराब पीने की आदत पड़ गई है वह शराब पिये बिना नहीं रह सकता; जिसे समय से काम करने की आदत है उसे काम टालने में कष्ट का अनुभव होता है। आदत किसी भी बात की डाली जा सकती है। श्रेष्ठ आचरण की आदत यदि बालकों में आरम्भ से ही डाल दी जाय तो उनका चरित्र अवश्य ही श्रेष्ठ हो सकता है। इसके विपरीत यदि उन्हें बुरी आदतें डालने का मौक़ा मिलेगा तो पुष्ट होने पर वे चरित्र का अंग बन जाँयगी और तब उनमें सुधार करना असम्भव हो जायगा। शिक्षक छोटी बड़ी सैकड़ों आदतें डलवा सकता है। समय की निर्दिष्टता, सच बोलना, बड़ों का सम्मान, सफ़ाई, ईमानदारी, दुर्बलों की सहायता आदि सब अभ्यास होने पर केवल आसान ही नहीं बन जाती, यांत्रिक सी हो जाती हैं। न जाने कितनी बातों को साधारण कह कर हम आरम्भ में उपेक्षा करते रहते हैं। जब वही दृढ़ बन कर बालकों के चरित्र में परिणत हो जाती हैं तो हम बालक को कोसते हैं पर यह भूल जाते हैं

कि इनके विकास में हमारा भी काफ़ी हाथ रहा है। जब छोटा बच्चा गाली बकना शुरू करता है तब अकसर उसकी तोतली गाली में घर के लोग आनन्द लेते हैं। जब बालक बड़ा होता है और गालियों की मिठास समय के प्रभाव से कम होने लगती है तो समय निकल चुकता है, आदत पुष्ट हो चुकती है, सुधार प्राय: असम्भव हो जाता है। किसी असुविधा-जनक व्यक्ति से बचने के लिये जब हम बच्चे से कहला देते हैं कि बाबू जी घर में नहीं हैं अथवा सो रहे हैं तो हम नहीं सोचते कि हमारा यह आचरण सुकुमार-मति बालक के चरित्र की दाग़बेल डाल रहा है। कालान्तर में वही बच्चा जब बाबूजी को झूठ बोल-बोल कर परेशान करने लगता है तो वे उसको दण्ड देते है, उसकी निन्दा करते हैं; जरा भी नहीं सोचते कि बच्चे का अपराध केवल इतना ही है कि उसने प्रमादवश बाबूजी के ही चरित्र को आदर्श मान लिया है एवं उसी को अपने आचरण में मूर्तरूप देने का प्रयत्न कर रहा है।

वातावरण का चरित्र पर प्रभाव—बालक अपने वातावरण से बहुत कुछ सीखता है। उसके स्कूल के साथी, आत्मीय लोगों का जीवन तथा अन्य परिस्थितियाँ भी उसके चरित्र के निर्माण में अपना प्रभाव डालती हैं। अनुकरण एवं सहानुभूति की प्रवृत्तियाँ अज्ञात रूप से उसके दृष्टि-कोण को एक विशिष्ट रूप दिया करती हैं। बच्चों को कुसंगति से बचाने का, उनको स्वस्थ वातावरण में रखने का, जो इतना अधिक महत्त्व समझा जाता है उसका यही कारण है। विकासोन्मुख बालक के सभी साथियों पर दृष्टि रखना बहुत ज़रूरी है। अच्छे लोगों से मिलने एवं उनके निकट सम्पर्क में आने के अवसर बालकों को काफ़ी देना चाहिये। पारिवारिक कलह, अभद्र आचरण, आत्मीय गुरुजनों का दुराचार बालक में एक हेय चरित्र की सृष्टि करता है। यदि हमें बालक में किसी अवांछनीय आचरण को विकसित नहीं होने देना है तो उसको वांछनीय वातावरण में ही रखना होगा।

किन्तु वांछनीय वातावरण का यह अर्थ नहीं है कि बालक का सामान्य बालकों से मिलना जुलना ही बन्द कर दिया जाय जैसा कि प्राय: प्रमादवश समझ लिया जाता है। मनुष्य समाज-प्रिय प्राणी है। उसे आगे चल कर सभा लोगों से मिलना होगा, सभी के बीच में रहना होगा। अतएव समाज से अलग पले बालक प्राय: एक असामाजिक भावना से युक्त हो जाते हैं। उन्हें झूठा गर्व हो जाता है, एक थोथी गौरव की भावना से वे आक्रान्त रहते हैं, समाज के बीच में पड़ कर वे उचित व्यावहार नहीं कर पाते। सामान्य समाज में उन्हें रहना ही चाहिये। ध्यान केवल इतना ही रखना होगा कि वे किसी एकांत अवांछनीय व्यक्ति से विशेष रूप से घनिष्ठ न हो जाँय। साधारण समाज में दोनों प्रकार के लोग रहते हैं, दुष्टों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही होती है। भले व्यक्तियों का सम्पर्क उन मुट्ठी भर दुष्टों के प्रभाव को नष्ट कर देगा हाँ, पारिवारिक आशिष्टाचरण अवश्य ही बालक के चरित्र पर घातक प्रभाव डालता है। अत: उस वातावरण को शुद्ध रखना आवश्यक है। किन्तु यहाँ पर शिक्षक का दायित्व बहुत कम है। वह तो बहुत थोड़े समय के लिये ही बालकों से मिलता है। उनके घरेलू जीवन को बदलना उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर की बात है। हाँ, समय सनय पर अभिभावकों से मिलकर वह सत्परामर्श दे सकता है तथा स्कूल के वातारण को ठीक रखने का प्रयास कर सकता है।

भावना-ग्रन्थि और चरित्र—भावना-ग्रन्थि के विवेचन में हम बता चुके हैं कि हमारी प्रतिरुद्ध भावनाओं का आचरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। उनसे हमारा चरित्र कभी कभी श्रेष्ठ बन जाता है, प्राय: ख़राब हो जाता है। शासन की भावनाग्रन्थि विद्रोही बना सकती है, व्यवस्था-उत्तोलक, नियम-विध्वंसक चरित्र का निर्माण कर सकती है। किसी अवांछनीय मूल-प्रवृत्ति का दमन जब किसी नैतिक भावना से प्रेरित होकर बालक स्वयं करता है तो उसे प्राय: एक सनक सी चढ़

जाती है। किये हुये पाप को अचेतन में छिपा कर वह वाह्य शुद्धि पर आवश्यकता से अधिक जोर देने लगता है किन्तु ये पूरक-प्रतिक्रियायें (complementary reactions) उसके मन को पूर्ण संतोष नहीं दे पातीं। अतएव एक अज्ञात भय, एक अनिश्चित आशंका, जैसे बराबर उसको दबाये सी रहने लगती है। प्रतिरुद्ध व्यक्ति उद्विग्न एवं चिन्तित रहता है। उसका व्यक्तित्व दब जाता है, उसकी यथोचित अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। बहुत बड़े पाप की इच्छा को सफलतापूर्वक दमन कर लेने वाला व्यक्ति अकसर छोटे-मोटे पाप इस विचार से करने लगता है कि यह पाप तो उसके मुकाबले में कुछ भी नहीं है जिससे उसने अपनी रक्षा की है। व्यक्तित्व का सर्वनाश करने वाले हिस्टीरिया आदिक रोग प्रतिरुद्ध भावना का ही परिणाम होते हैं। अत: शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं कोई ऐसा अवसर न आने दे जिससे ये ग्रन्थियाँ बनें। जो पहले से ही किसी भावना-ग्रन्थि के शिकार हो चुके हैं अध्यापक को उनका मनोविश्लेषण के द्वारा रेचन करवा देना चाहिये। ऐसा होने से व्यक्तित्व स्वस्थ होगा, एवं अचेतन प्रेरित चारित्रिक दुर्बलतायें समाप्त हो जायँगी। धीरे-धीरे उनमें कतिपय वांछनीय स्थायी-भावों को भी उत्पन्न करना चाहिये। स्कूल के बहुसंख्यक अपराधी छात्रों के दूषित चरित्र का एक प्रधान कारण उनमें उच्च स्थायी-भावों का अभाव ही पाया गया है।

इच्छा-शक्ति और चरित्र—(will power and character)—चरित्र के सम्यक् विकास के लिये इच्छा-शक्ति का होना बहुत जरूरी है। जो व्यक्ति कमजोर होता है, जिसमें इच्छा की दृढ़ता नहीं होती, वह दुर्बल-चरित्र भी होता है। जो एक निश्चय करके उस पर दृढ़ नहीं रह सकता, जो प्रत्येक नवीन मत को ग्रहण कर लेता है, जिसका कोई स्थाई सिद्धान्त नहीं, जिसकी अपनी रुचि नहीं, उसके पास चरित्र का अभाव ही समझना चाहिये। ऐसे पुरुष भले अथवा बुरे किसी भी

प्रकार के महत् कार्य को करने में अक्षम होते हैं। उनसे समाज का हित तो क्या होगा, वे अपना ही कल्याण नहीं कर सकते। अतएव एक चरित्रवान् व्यक्ति के लिये दृढ़ इच्छा शक्ति की सख्त ज़रूरत है। शिक्षकों एवं अभिभावकों को चाहिये कि वे बालकों में इच्छा-शक्ति का विकास करें।

बालकों को अपना निश्चय स्वयं करने देना चाहिये। जो लोग बालकों को आत्मनिर्णय का मौका नहीं देते, जरा सी भी कठिनाई आने पर जो उनकी सहायता करने को उतावले हो जाते हैं, वे उनके चरित्र-विकास में सबसे बड़े बाधक हैं। हठधर्मी भी दृढ़ इच्छा का ही एक स्वरूप है किन्तु हमारा उद्देश्य हठधर्मी को प्रोत्साहित करने का नहीं है। हमारा मतलब उन परिस्थितियों से है जहाँ पर या तो व्यक्ति कुछ निश्चय कर ही नहीं पाता और या, अपनी इच्छा की दुर्बलता के कारण, झूठे दबाव में पड़कर अपना इरादा बदल देता है। चक्षु-लज्जा के कारण हो अथवा हीनता की भावता से, जो अपने निश्चय पर स्थिर नहीं रह सकता उसका व्यक्तित्व तथा चरित्र व्यर्थ है। यह कब क्या करेगा, कोई नहीं कह सकता। उसके चरित्र में स्थायित्व नहीं, और स्थायित्व ही चरित्र की विशेषता है। जो चरित्रवान् होता है वह अपने उचित निर्णय पर डटना जानता है। इस डटे रहने में उसे इच्छा-शक्ति से ही सहायता मिलती है।

इच्छा-शक्ति एक बहुत बड़ी ताकत है। अंगरेजी में एक कहावत है—"जहाँ इच्छा होती है, राह निकल ही आती है।" जिस परिस्थिति में बहुत बड़ी शारीरिक-शक्ति से सम्पन्न किन्तु दुर्बल इच्छा के व्यक्ति घबरा जाते हैं वहाँ इच्छा-शक्ति के प्रभाव से ही शरीरतः दुर्बल पुरुष स्थिर, अचल होकर खड़ा रहता है। बिना दवा के ही, केवल इच्छा के जोर से, अनेक लोग कठिन रोगों तक से मुक्त होते देखे गये हैं।

यह इच्छा-शक्ति है क्या? अभी तक हमने मूल-प्रवृत्तियों एवं

सामान्य वृत्तियों की जो तालिका तैयार की है उसमें तो इच्छा-शक्ति नामक किसी वृत्ति की चर्चा भी नहीं की गई है। तो यह इच्छा-शक्ति आखिर कहाँ से आ कूदती है? यह मानव-मन की कोई मूल-शक्ति है अथवा इसका जन्म आकस्मिक हो जाता है? और प्रबल से प्रबल प्रवृत्तियों को पराजित करने की विलक्षण शक्ति इसे कहाँ से मिलती है?

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इच्छा नामक एक स्वतन्त्र शक्ति होती है जिसका व्यक्ति के अतीत जीवन अथवा वंशानुक्रम से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जरूरत पड़ने पर वह काम करना आरम्भ कर देती है और अनेक विरोधी मार्गों में से हमारे लिये एक चुन देती है। दूसरे विद्वान इस मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि हमारा निर्णय किसी आकस्मिक शक्ति की क्रिया का परिणाम नहीं है, वह तो निर्णय-प्रक्रिया में घटित होने वाले मनोव्यापार का स्वाभाविक फल है। यहाँ पर हमें इच्छा-शक्ति सम्बन्धी दार्शनिक गुत्थियों में उलझना नहीं है। हमें तो केवल यही देखना है कि इच्छा-शक्ति जब हमारे किसी कार्य में प्रवेश करती है तब जो मानसिक प्रक्रिया होती है उसके आधार पर हम इच्छा के सम्बन्ध में क्या निष्कर्ष निकाल सकते है।

जीवन के अनेक अवसर आते हैं जब हमारे सामने आचरण के कई मार्ग एक साथ आ जाते हैं और हमें उन में से एक चुनना होता है। हमारी प्रवृत्तियों में एक प्रकार का संघर्ष उठ खड़ा होता है। एक प्रवृत्ति एक ओर आकर्षित करती है, दूसरी, दूसरी ओर। हम तब एक अनिश्चय की दशा में होते हैं। क्या करें, क्या न करें यह हमारी समझ में नहीं आता। हम सोचते-विचारते हैं, सभी प्रकार की युक्तियों का प्रयोग करते हैं, विरोधी मार्गों के विभिन्न परिणामों पर गौर करते हैं और तब, कभी-कभी बहुत अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात्, किसी एक निर्णय पर पहुँचते हैं। आख़िर हम यह तय कर लेते हैं कि हमारा कर्तव्य क्या है। हम एक रास्ता चुन लेते हैं, दूसरे मार्ग अथवा मार्गों को

अयोग्य अथवा अनुपयोगी ठहरा कर छोड़ देते हैं। यह निर्णय हमारी इच्छा-शक्ति करती है। युद्ध के लिये तैयार अर्जुन के सम्मुख एक बार ऐसा ही संकट या संघर्ष उपस्थित हुआ था। उसके सम्मुख प्रश्न यह था कि वह धर्म-युद्ध करके आत्मीयों की हत्या करे अथवा आत्मीयता के मोह में पड़कर स्वकर्तव्य से पराङ्मुख हो जाय। सोचा-समझा, पण्डित-प्रवर भगवान् कृष्ण से उपदेश लिया और अन्त में यह निश्चय किया कि मैं युद्ध में भाग लेकर क्षात्र-धर्म का निर्वाह करूँगा, भले ही यह व्यापार कुछ अप्रिय हो। इस निर्णय में यह 'मैं' शब्द विशेष महत्व का है। इस निर्णय की प्रेरणा तथा उसको कार्यान्वित करने की प्रबल शक्ति इस 'मैं' में ही छिपी हुई है, अर्जुन की इच्छा-शक्ति का सम्पूर्ण रहस्य इस 'मैं' में ही निहित है।

'मैं' कौन ? अर्जुन; क्षत्रिय शिरोमणि, जगद्विख्यात, कुरु-वंशावतंस, क्षात्र-धर्म-विवेक-सम्पन्न, ज्ञानी अर्जुन ! यह महान् लज्जा की बात होगी कि साधारण मनुष्यों की दुर्बलता अर्जुन के आचरण में भी प्रकट हो। उसने सोचा कि गुरु-जनों की हत्या से चित्त को क्षोभ होगा। कुछ विवेक-हीन पुरुष हमें लोभी आदि भी समझेंगे जो बदनामी का कारण होगा। परन्तु इसीलिये क्या मुझे अपना धर्म छोड़ देना होगा ? एक क्षत्रिय को, सो भी मुझ जैसे क्षत्रिय को, क्या धर्म-युद्ध से मुँह मोड़ना शोभा देगा ? नहीं, ऐसा कभी नहीं होगा। मैं धर्म पालन अवश्य करूँगा, उसके लिये मुझे कुछ भी क्यों न बर्दाश्त करना पड़े। यह 'मैं' अर्जुन के समस्त व्यक्तित्व का, समस्त चरित्र का, द्योतक है। इसमें उसका सम्पूर्ण अतीत, भविष्य की समस्त सम्भावनायें एकत्र हो गई हैं। यह उसका 'आदर्श स्व' है जो अनिश्चय की दशा में भली भाँति स्पष्ट नहीं हो सका था। अतएव इच्छा-शक्ति व्यक्तित्व अथवा चरित्र का ही बल है। इच्छा-शक्ति में प्रबल प्रवृत्तियों का भी दमन करने की जो क्षमता है वह व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियों,

आदतों, आदर्शों की सम्मिलित शक्ति के ही कारण। इस शक्ति का द्वार उन सभी पुरुषों के लिये उन्मुक्त हो जाता है जिन्होंने एक सुगठित व्यक्तित्व अथवा चरित्र का निर्माण कर लिया है। अत: असम्बद्ध प्रवृत्तियों, आदतों, आदर्शों को एक व्यक्तित्व में गूँथ कर हम बालकों के चरित्र का विकास कर सकते हैं और इस प्रकार उन्हें उस महान् शक्ति से सम्पन्न कर सकते हैं जिसे इच्छा-शक्ति (will power) कहा जाता है और जिसके बिना व्यक्तित्व महत्त्व-हीन, आकर्षणहीन, अर्थहीन ही रहता है।

कुछ जन्मजात चारित्रिक विशेषतायें—अभी हम देख चुके हैं कि हमारे अर्जित संस्कार किस प्रकार व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। यद्यपि हमारा चरित्र प्रधानत: अर्जित गुणों से ही बनता है तो भी हमें यह कभी न भूल जाना चाहिये कि संस्कारों का अर्जन हम जिन प्रवृत्तियों की प्रेरणा से करते हैं वे सब पुरुषों में समान नहीं होतीं। व्यक्तिगत भेदों का वर्णन करते समय हमने देखा था कि अनेक बौद्धिक गुण लेकर ही हम जन्म लेते हैं। हमारा आचरण और परिस्थितियाँ उन्हें केवल विकसित करती हैं, उनका नव-निर्माण नहीं करतीं। अतएव हमारे चरित्र एवं व्यक्तित्व का एक ऐसा भाग भी होता है जो हमें बना बनाया मिलता है और इसीलिये जिसके निर्माण के लिये समाज, शिक्षक अथवा व्यक्ति स्वयं दायी नहीं होता।

पहले मूलप्रवृत्तियों को ही लीजिये। यद्यपि सभी मूल-प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण मानव जाति में पाई जाती हैं परन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में उनकी तीव्रता का परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। एक व्यक्ति में काम-वृत्ति की प्रबलता होती है तो दूसरे में युयुत्सावृत्ति की। इन वृत्तियों का मार्गान्तरीकरण अथवा शोध तो हो सकता है, उनका दमन नहीं किया जा सकता। अतएव किसी भी पुरुष के व्यक्तित्व पर इन प्रबल

वृत्तियों की एक गहरी छाप रहती है। उनका प्रभाव अवश्य रहेगा, उसके रूप में थोड़ा बहुत हेर फेर हम भले ही कर दें।

वंशानुक्रम का अध्ययन करते समय हमने यह भी देखा था कि अनेक मानसिक एवं शारीरिक गुण हमें अपने पूर्वजों से विरासत में मिलते हैं। जूक्स अथवा ज़ीरो परिवार का सदस्य एक अवांछनीय चारित्रिक विशेषता लेकर ही पैदा होता है; हत्या, व्यभिचार, चोरी, शराबखोरी आदि उसके रक्त में ही मौजूद हैं, वे उसे बीज-परम्परा से ही मिले हैं। उनमें मौलिक परिवर्तन करने की क्षमता समाज में, और इसीलिये शिक्षकों में भी नहीं होती।

अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी वृत्तियाँ भी लोगों को जन्मसे ही मिलती हैं और उनका प्रभाव व्यक्तित्व पर बहुत अधिक पड़ता है। उनकी रुचि, उनकी कार्य-प्रणाली, उनके आदर्श भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मानसिक रोग भी भिन्न भिन्न प्रकृतिवालों के भिन्न-भिन्न ही होते हैं। इसी प्रकार और भी अनेक जन्मजात विशेषतायें व्यक्तित्व एवं चरित्र की होती हैं। शिक्षक का उनके ऊपर बहुत कम नियंत्रण होता है। वह अकसर ता केवल व्यक्तित्वके प्रवाह में थोड़ा घुमाव, थोड़ा सा दिक्परिवर्तन ही कर सकता है अतएव चरित्र-निर्माण का सारा दायित्व उस पर मढ़ना उसके साथ अन्याय करना होगा, उससे असम्भव को सम्भव कर दिखाने की आशा करना होगा। परन्तु जिस क्षेत्र में बहुत ज्यादा सहायता वह दे सकता है वह भी कम विशद नहीं है और यदि वह अपने महान् उत्तरदायित्व एवं शक्ति का ध्यान रख कर काम करे तो बालकों के व्यक्तित्व एवं चरित्र को बहुत ऊपर उठा सकता है।

सारांश—सुन्दर चरित्र एवं श्रेष्ठ व्यक्तित्व का यथोचित विकास शिक्षकों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। उनके निर्माण पर काफी

ध्यान हमारे यहाँ नहीं दिया जाता। हमें अपनी नीति बदलनी होगी।

चरित्र अथवा व्यक्तित्व-विकास के तीन सोपान माने जा सकते हैं। पहला सोपान मूलप्रवृत्यात्मक आचरण का है। दूसरा सोपान वांछनीय विषयों के प्रति स्थायी-भावों का निर्माण है। तीसरा और अन्तिम सोपान आत्म-गौरव के स्थायीभाव का विकास है। यही आत्म-गौरव का स्थायी-भाव जब आदर्शों को भी अपने में सम्मिलित कर लेता है तो वह एक संगठित व्यक्तित्व की सृष्टि करता है। शिक्षकों को चाहिये कि अवस्था के अनुकूल श्रेष्ठ स्थायीभावों का विकास करें तथा उत्तम आदर्शों में रुचि उत्पन्न करके बच्चों के व्यक्तित्व को बनावें।

चरित्र-विकास में आदतों का भी प्रभाव पड़ता है। अतएव अच्छी आदतें डालने तथा बुरी आदतों का त्याग करने में बालकों को सहायता देना अध्यापकों का कर्तव्य है। जिन छोटी-मोटी आदतों को विशेष महत्व की न समझ कर हम आरम्भ में उपेक्षित किया करते हैं वे ही पुष्ट होकर चरित्र को विकृत कर सकती हैं। अत: उनकी ओर विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है।

वातावरण का भी चरित्र के निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। बुरे साथियों से बालकों का चरित्र खराब हो सकता और अच्छे साथियों के प्रभाव से वे अच्छे चरित्र का निर्माण कर सकते हैं। अनुकरण एवं सहानुभूति की प्राकृतिक शक्तियाँ उनको वातावरण के अनुकूल ही अपना चरित्र निर्माण करने को प्रेरित करती हैं।

भावना-ग्रन्थियाँ भी चरित्र एवं व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। प्रतिरुद्ध व्यक्तित्व प्राय: अनेक मानसिक विकारों को जन्म देकर चरित्र को अवांछनीय बना देता है। शिक्षकों को चाहिए कि यथासम्भव भावना-ग्रन्थियाँ न बनने दें और जो पहले से ही बनी हों उनका रेचन कर दें।

सुन्दर चरित्र के लिये इच्छा-शक्ति की बहुत ज़रूरत है। जो व्यक्ति दृढ़ निश्चय नहीं कर पाता, जो अपने किसी काम पर डट नहीं

पाता, उसका व्यक्तित्व प्रभाव-हीन एवं चरित्र दुर्बल होता है। यह इच्छा व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियों की सम्मिलित शक्ति है। मनुष्य का विगत जीवन एवं भावी सम्भावनायें जिस 'आदर्श स्व' को बनाती हैं इच्छा-शक्ति उसी की प्रबल प्रेरणा को कहते हैं। शिक्षकों को चाहिये कि बालकों को आत्म-निर्णय का अवसर दें जिसमें उनकी यह शक्ति दृढ़ हो सके। बार-बार के अभ्यास से उसको बल मिलेगा और तब व्यक्तित्व को सुदृढ़ बनाने में वह और भी सहायता देगी।

किन्तु अनेक मनोवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं, उनका दमन अथवा निर्माण मनुष्य के हाथ में नहीं होता। वंशानुक्रम से वह उन्हें प्राप्त करता है। अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी वृत्तियाँ ऐसी ही होती हैं। मनुष्य उन्हें लेकर ही पैदा होता है। अतएव चरित्र-निर्माण का सम्पूर्ण दायित्व अध्यापकों पर नहीं लादा जा सकता। वंशानुक्रम, प्रकृति, वातावरण, सभी का हाथ चरित्र-निर्माण में होता है और उन पर शिक्षकों का कोई नियंत्रण नहीं होता। किन्तु जो भी वे कर सकते हैं—और वे बहुत कुछ कर सकते हैं—उसको उन्हें सावधानी तथा लगन के साथ करना चाहिये। चरित्रवान् व्यक्तियों पर ही किसी देश का भविष्य निर्भर करता है। और चरित्र का निर्माण बहुत कुछ अध्यापकों के हाथ में होता है।

प्रश्न

(१) चरित्र-विकास के प्रमुख सोपानों (stages) का वर्णन कीजिये और बताइये कि चरित्र की दृढ़ता से क्या तात्पर्य है ?

(२) स्थायी-भाव का चरित्र-निर्माण में क्या स्थान है ?

(३) शासक-स्थायी-भाव (master sentiment) किसे कहते हैं ? बालकों के चरित्र-निर्माण में अध्यापक क्या सहायता दे सकता है ?

(४) चारित्रिक दृढ़ता का क्या अर्थ होता है ? शिक्षा उसके विकास में किस प्रकार सहायक हो सकती है ?

(५) "प्रकाशन के बिना ग्रहण सम्भव नहीं है यह लोकोक्ति बौद्धिक बातों में तो ठीक है ही, किन्तु नैतिक बातों में और भी ज्यादा ठीक है।" उपर्युक्त कथन की व्याख्या कीजिये और बताइये कि सुन्दर चरित्र के निर्माण के लिये आप किन विधियों का प्रयोग करेंगे ?

समूह-मनोविज्ञान

(Group Psychology)

समूह—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला रहना पसन्द नहीं करता। ग्राम, नगर, प्रान्त, देश आदि के विभिन्न सोपानों के द्वारा ऊपर चढ़ता हुआ वह अपने को समाज से सम्बन्धित करके, उसके अंग बनकर, ही सन्तोष पाता है। समाज से दूर राबिंसन क्रूसो अथवा एलेक्जेण्डर सेलकर्क के समान, एकान्त जीवन बिताना कदाचित् वह अपना सबसे बड़ा दुर्भाग्य मानता है। उसकी प्रकृति ही कुछ ऐसी है जो उसे समाज की ओर खींचती है। वह अपने सुख एवं सौभाग्य से भी वास्तविक तृप्ति तभी पा सकता है जब उसको जानने वाले अन्य लोग हों। दुख तो, हम सभी जानते हैं, बिना दूसरों को बाँटे वह सहन कर ही नहीं सकता। उसका मानसिक गठन ही कुछ ऐसा है कि समाज के बिना उसका जीवन कभी पूर्ण हो ही नहीं सकता। मनुष्यों की व्यक्तिगत विशेषताओं को हम देख चुके हैं। उसका अर्थ हमें यह नहीं लेना चाहिये कि उनका पारस्परिक पार्थक्य ही प्रधान है, साम्य या तो है ही नहीं और या बहुत सामान्य है। जितना एक मनुष्य दूसरे से भिन्न है, उतना ही—यदि उससे अधिक नहीं—वह एक दूसरे समान भी है। हम देख चुके हैं कि मूल-प्रवृत्तियाँ एवं अन्य सामान्यवृत्तियाँ मानव-जाति के प्रत्येक व्यक्ति में प्राय: एक ही रूप में पाई जाती हैं। इसी साम्य के कारण उसे अन्य मनुष्य के सम्पर्क में रहना विशेष प्रिय है।

उसकी अनेक मूलप्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनकी तृप्ति समाज में ही सम्भव है। सामूहिकता (gregariousness) की चर्चा तो हम कर ही रहे थे, आत्मगौरव (selfassertion) एवं दैन्यवृत्ति (submission) की अभिव्यक्ति के लिये भी उसे एक समाज चाहिये। आत्मगौरव वहीं सम्भव है जहाँ दूसरे लोग भी हों, जिन पर हमारा रोब गालिब हो सके, जिन्हें हम अपनी विद्या-बुद्धि, शक्ति-सौन्दर्य से अभिभूत कर सकें। दैन्यवृत्ति दूसरों की श्रेष्ठता की स्वीकृति है। उसके लिये भी एक समूह चाहिये ही। इसके अतिरिक्त सहानुभूति, निर्देश एवं अनुकरण की वृत्तियाँ समाज में ही सम्भव हैं। अकेला व्यक्ति किसका अनुकरण करेगा ? किससे निर्देश ग्रहण करेगा ? बिना साथी के सहानुभूति कैसी ? अतएव यह बात निर्विवाद है कि मनुष्य समाज में ही रह सकता है और व्यक्ति एवं समाज का बहुत कुछ मानसिक आदान-प्रदान बराबर चला करता है। व्यक्ति की तुलना में समूह समान् है, अधिक शक्ति एवं गौरव से युक्त है। इसलिये समूह से निसृत संकेत व्यक्ति झट ग्रहण कर लेता है। समूह के बीच में व्यक्ति का आचरण समूह द्वारा ही प्रेरित होता है। उस समय व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समूह में डुबा देता है; उसका मन समूह मन बन जाता है। तब व्यक्ति समूह-मन के प्रकाशन का एक साधन भर रह जाता है। जब तक वह अकेला होता है उसके आचरण में व्यक्तिगत विशेषता रहती है, सामूहिक व्यवहार में वह नहीं रहती।

समूह-मन—हमने अभी बताया कि व्यक्ति का मन समूह-मन से निर्देश ग्रहण करता है। किन्तु यह समूह-मन कैसा ? व्यक्ति का मन ही जब कल्पना-प्रसूत माना जाता है तो समूह-मन की चर्चा चलाना क्या एकान्त भ्रामक नहीं है ? मन का एक प्रधान लक्षण उसका अपना उद्देश्य होता है। भिन्न-भिन्न क्रियाओं को एक विशेष लक्ष्य की प्राप्ति में नियोजित करना ही मन का काम है। अतएव समूह-मन भी,

वैयक्तिक-मन की तरह, कल्पित किया जा सकता है। समूह के भी, व्यक्ति की ही भाँति, कुछ उद्देश्य होते हैं और हमारा सामूहिक अथवा सामाजिक प्रयास उस उद्देश्य को पूरा करता है। जहाँ कहीं हमें सामूहिक उद्देश्य दिखाई पड़े वहाँ उन समान उद्देश्यों के आधार पर हम सामूहिक मन कल्पना कर सकते हैं।

सामूहिक मन से जो कार्य प्रेरित होते हैं वे उन कार्यों से भिन्न होते हैं, जिन्हें व्यक्ति अपनी स्वतंत्र प्रतिक्रिया के रूप में करता है। देखने में आता है कि सामूहिक प्रतिक्रियायें प्रायः वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं की तुलना में निम्नस्तर की होती हैं। सामान्यतः शान्त प्रकृति के व्यक्ति भी समूह में पड़कर संवेग में वह जाते हैं। साम्प्रदायिक दंगों के सिलसिले में कितने ही कोमल-हृदय, धर्मशील पुरुष ऐसी क्रूरतायें कर उठाते हैं जिनकी कल्पना भा हम नहीं कर सकते। वे सामूहिक अनुकरण का परिणाम हैं। निर्भीक पुरुष भी जब अपने चारों ओर लोगों को भय से काँपता देखता है तो उसका अपना धैर्य भी जैसे खो जाता है। होली के अवसर पर कितने ही भद्र पुरुष, समूह का अनुकरण करके, ऐसा अभद्र आचरण करने लगते हैं जिसे अकेले में वे कभी सोच भी नहीं सकते। हमारे कथन का यह अर्थ नहीं है कि समूह-मन मनुष्यों को सदा नीचे की ओर ही ले जाता है। अनेक अच्छे कार्य भी लोग इसीलिये करते है कि समूह को वे पसन्द हैं और उसके एक सदस्य होने के कारण उन्होंने भी उनको अच्छा मान लिया है। किन्तु यह बात फिर भी सत्य ही है कि साधारणतः समूह उतना अच्छा नहीं हो सकता जितना व्यक्ति।

व्यक्ति की इस श्रेष्ठता का कारण क्या है? बात यह है अनेक व्यक्ति मिल कर ही समूह बनता है। जो प्रवृत्तियाँ समाज के सब व्यक्तियों में समान होती हैं वही समूह-मन कहलाती हैं और जिन प्रवृत्तियों में वैयक्तिक भेद होता है वे समूह-मन में प्रकट नहीं होने

पातीं, दब जाती हैं। व्यक्तिगत भेदों की विवेचना से हमें पता चलता है कि मूल-प्रवृत्तियाँ तो सब व्यक्तियों में पाई जाती हैं, उनमें अन्तर कम होता है। किन्तु जैसे-जैसे हम उच्च मनोव्यापार की ओर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे मनुष्यों के पारस्परिक भेद भी बढ़ते जाते हैं। भूख के सम्बन्ध में, कामवृत्ति के सम्बन्ध में, सन्तान-प्रेम के सम्बन्ध में अफ्रीका का हबशी एवं सभ्य संसार का बहुत बड़ा पण्डित प्रायः समान ही होते हैं, जो अन्तर है भी वह नाम मात्र का है। परन्तु उनके बौद्धिक गुणों एवं नैतिक आदर्शों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। एक तो मामूली संख्या-गणना भी नहीं जानता दूसरा नक्षत्रों तक की गतिविधि का पूरा-पूरा पता रखता है; एक मूल्य-हीन काँच के टुकड़े के लिये मनुष्य की हत्या कर सकता है और दूसरा मानव-जाति के सम्भावित कल्याण के लिये, महात्मा गांधी की तरह, प्राणोत्सर्ग तक कर देना अपना परम सौभाग्य समझता है। अतएव समूह के सब सदस्यों में पाई जाने वाली समान वृत्तियाँ प्रायः मूलप्रवृत्तियाँ ही होती हैं और इसीलिये समूह-मन उन्हीं वृत्तियों से निर्मित होता है। व्यक्तिगत वैशिष्ट्य—उच्च नैतिक प्रवृत्तियाँ—सामूहिक आचरण में दबा रहता है। महान् व्यक्तियों का भी सामूहिक आचरण जो कभी कभी अवांछनीय हो जाता है उसका यही कारण है। लीबोन लिखता है—"किसी क्षेत्र के विशेषज्ञ पण्डितों की सभा भी जब कोई सामूहिक निर्णय करती है तो उसका निर्णय उस फैसले से भिन्न नहीं होता जिसे बुद्धिहीनों के समूह ने किया होता।" इस कथन में, जैसा रास ने लिखा है, अत्युक्ति तो है परन्तु वह अत्युक्ति उपर्युक्त सत्य को ही स्पष्ट करती है।

भीड़ के असभ्य आचरण से हम सब परिचित हैं। लोग सोचते नहीं, सोचने की ज़रूरत भी नहीं समझते, भीड़ जो कर रही है उसी का अनुकरण करने लगते हैं। दो बच्चों में झगड़ा होता है और दोनों

परिवारों के लोग अपने अन्य साथियों के साथ एक दूसरे से भिड़ जाते हैं। एक व्यक्ति तो क्षणिक आवेश में कुछ कर बैठता है, दूसरा उसका अनुकरण करता है। बाद में संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जाती है उनके झगड़े में जोश एवं शक्ति की मात्रा भी बढ़ती जाती है। हिन्दुओं में बराती लोग इसी भीड़-भावना से प्रेरित होकर कितना उत्पात मचाते हैं? जो विद्यार्थी अपने व्यक्तिगत जीवन में बड़े शिष्ट एवं सभ्य रहते हैं उनका भी आचरण मेले में, सिनेमा हाल में, कितना निन्द्य हो जाता है? यह इसीलिये कि उस समय व्यक्तिगत विशेषता दब जाती है, समूह मन—भीड़की मनोवृत्ति—प्रबल हो जाती है और उनमें निम्न वृत्तियाँ ही आचरण को निर्धारित करने लगती हैं। संस्कृति और सभ्यता जिन वर्बर वृत्तियों को साधारणत: दबाये रहती है भीड़ में, अवसर पाकर, वे सक्रिय हो उठती हैं।

समूहों का वर्गीकरण—ड्रेवर ने समूहों का वर्गीकरण किया है। उसने सभी प्रकार के समूहों के तीन वर्ग बनाये हैं, भीड़ (crowd), गोष्ठी (club) एवं समाज (community)। इन विभिन्न वर्गों का विवेचना करने से पता चल जायगा कि वर्ग अनेक प्रकार के हो सकते हैं और उनकी शक्ति एवं प्रभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं। हम एक-एक को लेकर उसकी समीक्षा करेंगे।

भीड़ (crowd)—भीड़ सबसे निम्नस्तर का समूह होता है। इसमें स्थायित्व नहीं होता। थोड़े समय के लिये घटनावशात् कुछ लोग इकट्ठे हो जाते हैं, एक भीड़ लग जाती है, और फिर अलग-अलग होकर सब लोग अपने-अपने कामों में लग जाते हैं। क्षणिक सम्मिलन का प्रभाव भी क्षणिक होता है। चूंकि भीड़ के लोगों का कोई निश्चित समान उद्देश्य नहीं होता अतएव उनका पारस्परिक बन्धन भी शिथिल होता है। अनुकरण होता है, कुछ बर्बर वृत्तियाँ सक्रिय होती हैं और बस। सच तो यह है कि भीड़ में समूह-मन की कल्पना भी असंगत सी

ही है। मन की विशेषता सप्रयोजनता, सोद्देश्यता, होती है जो भीड़ में नहीं होती। भीड़ किसी उद्देश्य को लेकर एकत्र नहीं होती, कम से कम भीड़ के तथाकथित सब सदस्यों का कोई एक उद्देश्य नहीं होता, और इस आकस्मिक मिलन का अन्त होने पर कोई भावना उसमें शेष नहीं रहती। भीड़ क्षणिक उत्तेजना की ही तृप्ति के उद्देश्य से प्रेरित होती है। जब वह थोड़े समय के बाद समाप्त हो जाती है तो लोग किसी स्थायीभाव को अपने साथ वापस नहीं लाते। मेला, बाजार, नदी का घाट अथवा थियेटर-हाल में एकत्र हुये लोग भीड़ कहे जा सकते हैं। उनकी सामूहिक क्रिया, संवेग, एवं विचार क्षणिक ही होते हैं।

गोष्ठी (club)—भीड़ से उच्चतर, समूह की दूसरी श्रेणी, गोष्ठी होती है। यह भीड़ की तरह क्षणिक नहीं होती। इसके सदस्यों का कुछ उद्देश्य होता है जिसकी पूर्ति के लिये सामूहिक प्रयास किया जाता है। उद्देश्य भी कुछ स्थायी होता है, उसकी पूर्ति के लिये दीर्घकाल-व्यापी प्रयत्न आवश्यक होता है। गोष्ठी के उद्देश्य अनेक प्रकार के होते हैं। मनोरंजन, स्वास्थ्यवर्द्धन, वैज्ञानिक अनुसंधान, किसी भी लक्ष्य को लेकर लोग गोष्ठी या क्लब बना लेते हैं और उसके द्वारा इसी समान उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। भीड़ की तुलना में गोष्ठी अधिक स्थायी अधिक संगठित, एवं अधिक उच्च प्रयोजन से युक्त होती है। परन्तु उसका उद्देश्य सीमित होता है। वह जीवन के एक छोटे अंश को ही लेकर चलती है, सम्पूर्ण जीवन की विविध समस्याओं को सुलझाना उसे इष्ट नहीं होता। सदस्यों का सम्मिलन बहुत व्यापक नहीं होता क्योंकि वे अपने जीवन के विस्तृत उद्देश्य के एक छोटे भाग की ही तृप्ति सामूहिक उद्योग से करने के लिये एकत्रिक होते हैं।

समाज (community)—तीसरे प्रकार का समूह समाज कहा जाता है। इसका उद्देश्य व्यापक होता है, उसमें जीवन का कोई एक अंग नहीं प्रत्युत समस्त जीवन ही शामिल रहता है। समाज का

उद्देश्य इतना विशद होता है कि उसमें प्रत्येक सदस्य अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति कर सकता है। उद्देश्य के विभिन्न पहलुओं को लेकर विभिन्न व्यक्ति आत्म-प्रकाशन कर सकते हैं। अपने व्यक्तित्व की रक्षा करके भी समाज की सदस्यता कायम रखी जा सकती है। राष्ट्र एक ऐसा ही समाज है। कोई चित्रकार है, कोई इञ्जीनियर; कोई डाक्टर है तो कोई कृषक। सभी अपने विशिष्ट क्षेत्र में काम करके अपना पूर्ण विकास कर सकते हैं और इसके होते हुए भी समाज की सदस्यता कायम रख सकते हैं। समाज एक होकर भी व्यक्तियों की स्वतन्त्र सत्ता का विनाशक नहीं होता। व्यक्तित्व की दृष्टि से अपनी पृथक सत्ता रखकर भी सदस्य एकता-सूत्र में पिरोये रहते हैं। ऐसा समाज ही एकता में नानात्व (diversity in unity) का सुन्दर उदारण होता है उसका उद्देश्य व्यापक होने के साथ ही स्थायी भी होता है। वह गोष्ठी से उच्च श्रेणी का होता है क्योंकि उसका लक्ष्य गोष्ठी की अपेक्षा विशद होता है, वह केवल कुछ समान रुचियों की तृप्ति के ही लिये नहीं होता, प्रत्युत सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करता है।

स्कूल का सामूहिक जीवन—स्कूल भी एक प्रकार का समाज ही है। यद्यपि उसका क्षेत्र राष्ट्र की ही तरह विस्तृत नहीं होता पर वह गोष्ठी की भाँति सीमित भी नहीं होता है। गोष्ठी का लक्ष्य बहुत सीमित होता है, स्कूल अपेक्षाकृत अधिक व्यापक। अतः हमें स्कूल में समूह-मन की सृष्टि करके व्यक्ति के विकास में सामूहिक प्रभाव की सहायता लेनी चाहिए। यदि हमें स्कूलों को छोटे पैमाने के समाज बनाना है तो समाज के बनने में जिन सिद्धान्तों का हाथ रहता है हमें उन्हीं को अपना आधार बनाना होगा। मैकडूगल ने 'समूह-मन' (Group Mind) नामक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ में समूह-निर्माण के लिये कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख किया है। उन्हीं के आधार पर हम यहाँ स्कूलों के संगठन के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

समाज-संस्थापन के लिये पहली आवश्यकता इस बात की है कि समूह में कुछ स्थायित्व हो; भीड़ की तरह वह लोगों का आकस्मिक, क्षण-स्थायी, सम्मिलन न हो। चाहे कितने ही बड़े समान उद्देश्य को लेकर लोग मिलें यदि वेही व्यक्ति काफी समय तक पारस्परिक सम्पर्क में नहीं आते, यदि समूह के व्यक्ति थोड़ी-थोड़ी देर में बदलते रहते हैं, तो वे एक समाज नहीं बना सकते। रेलगाड़ी में लोग बराबर रहते हैं, सर्कस में दर्शक नित्य इकट्ठा होते हैं, परन्तु बदल-बदल कर। अतः उन्हें समाज नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से स्कूल में समाज बनने की योग्यता है। प्रायः विद्यार्थी लगातार वर्षों एक ही संस्था में रहते हैं और अध्यापक तो काफी समय तक, अकसर स्थायी रूप से ही, स्कूलों में रहते हैं। जिन स्कूलों में छात्रावास की व्यवस्था भी होती है उसमें तो और भी अधिक नियमित साहचर्य का मौका मिलता है और इसीलिये वे और भी अधिक सच्चे अर्थ में समाज बन सकते हैं।

समाज के लिये दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि समूह का प्रत्येक सदस्य समस्त समूह से अपने सन्बन्ध को समझे। सम्बन्ध-हीन व्यक्तियों के केवल साथ-साथ रहने ही से समाज नहीं बन सकता। रेलवे स्टेशन तथा गङ्गा के घाट का समूह भीड़ हो सकता है, समाज नहीं। लोगों के शरीर पास-पास हैं, उनके मन कोसों दूर। जिस समाज के सदस्यों में सामाजिक भावना का उचित विकास नहीं हुआ रहता, जिस समाज में अपने ही निकट स्वार्थ की चिन्ता करने वाले लोगों का बाहुल्य होता है, उस समाज का कल्याण नहीं हो सकता। समाज में रहकर हम अनेक लाभ उठाते हैं अतः समाज के प्रति हमारा दायित्व भी कुछ है। स्कूल को समाज बनाने के लिये हमें चाहिये कि छात्रों में सामाजिक भावना उत्पन्न करें, उनके सामने समाज के आदर्श को अकसर रखें और विद्यार्थियों को सामूहिक रूप से काम करने के लिए प्रोत्साहित करें। स्कूल के वार्षिकोत्सव स्कूल

की ओर से अभिनीत होने वाले नाटक, स्कूल की ओर से संगठित कोई देश-सेवा की योजना, इस दृष्टि से बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। वे स्कूल के सभी सदस्यों में पारस्परिक सम्बन्ध का, उनकी एकता का, स्मरण दिलाया करते हैं। अनेक स्कूलों में 'स्वतन्त्र अनुशासन' के द्वारा बालकों में इस सामाजिक वृत्ति का विकास करने का सफल प्रयास किया जाता है। योग्यता, रुचि एवं अवकाश के अनुसार स्कूल-सम्बन्धी विविध उत्तरदायित्व के कार्य बच्चों को हो सौंप दिये जाते हैं। अध्यापकों का काम केवल पथ-पदर्शन रह जाता है, व्यवस्था सब लड़के ही करते हैं। खाने का प्रबन्ध, खेलों का इन्तजाम, स्कूल की सफाई आदि प्राय: सब कुछ विद्यार्थियों की जिम्मेदारी पर छोड़ दिया जाता है और इस प्रकार उन्हें स्कूल के छोटे, किन्तु सभी प्रकार से पूर्ण, समाज का स्वतन्त्र नागरिक बना कर बाद के सामाजिक जीवन के लिये उपयुक्त शिक्षा दी जाती है। अकसर बच्चे भूलें करते हैं। थोड़ी बहुत हानि भी इससे हो सकती है, परन्तु उसको हमें शिक्षा के शुल्क के ही रूप में ग्रहण करना चाहिये। देखने में आया है कि जहाँ पर बालकों को इस प्रकार का स्वतन्त्र सामाजिक जीवन बिताने को मिलता है वहाँ उनमें पारस्परिक सहानुभूति एवं सद्भावना, जिम्मेदारी एवं व्यवहार-कुशलता और संस्था के लिये उचित अभिमान भी सृष्टि अनायास हो जाती है।

तीसरी आवश्यकता इस बात की है कि समूह अपने ही तरह के किन्तु भिन्न आदर्श एवं उद्देश्य रखने वाले, समूहों के सम्पर्क में आवे। यह सम्बन्ध कई प्रकार का हो सकता है। स्पर्धा, ईर्ष्या, सहकारिता अथवा संघर्ष किसी भी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर वे पारस्परिक सम्पर्क में आ सकते हैं। इस प्रकार का सम्पर्क समूह में आत्म-चेतना जाग्रत करता है, उसके संगठन को मजबूत बनाता है, सदस्यों के पारस्परिक सद्भाव को बढ़ाता है। स्कूल में जो खेल आदि की प्रति-

योगिता चला करती है वह इस प्रकार के सम्पर्क का काम करती है। अपने स्कूल की विजय के लिए, अपने स्कूल के विद्यार्थी की समान रक्षा के लिए, अकसर लोग झगड़े तक कर बैठते हैं। झगड़े अच्छे न हों परन्तु समूह को एकता की भावना से भरने में उनकी अपेक्षा अधिक समर्थ साधन मुश्किल से ही मिल सकेगा। अतएव सामाजिक भावना उत्पन्न करने के लिए ऐसी प्रतिद्वन्द्विता जिसमें विशेष हानि का भय न हो प्रोत्साहित करना चाहिये।

सामाजिक भावना के लिए समाज की एक परम्परा भी चाहिये। समाज को कुछ ऐसे गुणों पर गर्व करने का मौका मिलना चाहिये जो सदा से उसकी विशेषता रहे हैं। बिना इस परम्परा के कोई भी समाज प्रभावशाली नहीं होता, वह दूसरों की तथा अपने सदस्यों की भी आंखों में चढ़ता नहीं, लोगों की श्रद्धा को आकृष्ट नहीं करता। फलतः उसके गठन में कुछ शिथिलता आ जाती है। प्रयाग विश्व-विद्यालय की जो धाक आज समस्त भारत में बैठी हुई है उसे वहाँ के सब विद्यार्थी अपना गौरव समझते हैं और उस गौरव की रक्षा करने के लिये अधिक परिश्रम करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझते हैं। प्रत्येक स्कूल कुछ इसी प्रकार की परम्परा बना सकता है। उससे बच्चों को बड़ी उत्तेजना मिलती है एवं आचरण तथा बौद्धिक विकास का एक ऊँचा स्तर कायम किया जा सकता है।

समाज की स्थापना के लिए पाँचवीं आवश्यकता इस बात की है कि सदस्यों के कर्त्तव्य का विभाजन होना चाहिये। अपनी-अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार लोगों को काम सौंप दिया जाय, प्रत्येक व्यक्ति पर केवल अपने विशिष्ट कर्तव्य का ही दायित्व रहे। इसका फल यह होता है कि जिसमें कोई विशेष क्षमता होती है वह उस विषय की नीति को निर्धारित करने लगता है। खेल का नेतृत्व कदाचित् पढ़ने में कमजोर किन्तु खेल में कुशल व्यक्ति करता है तथा भोजनादि का

प्रबन्ध गृह-प्रबन्ध में, क्रय विक्रय में, विशेष रुचि एवं योग्यता रखने वाले व्यक्ति के हाथ में आ जाता है। इससे काम अच्छा होता है, प्रत्येक व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति का मौका मिलता है, एक की दूसरे पर निर्भरता बढ़ती है और इस प्रकार समाज में दृढ़ता आती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत शिक्षा का प्रबन्ध करना यद्यपि आवश्यक है परन्तु सामूहिक शिक्षा का भी महत्व कुछ कम नहीं है। व्यक्ति समाज का भी सदस्य होता है, वह समाज से बहुत कुछ सीखता है, उसको बहुत कुछ सिखाता है। अनुकरण, सहानुभूति, एवं निर्देश की वृत्तियाँ उसकी सामाजिकता का पुष्ट प्रमाण हैं। हमें इसका भी लाभ उठाना चाहिये और स्कूल को एक छोटा सा समाज बना कर शिक्षा को अधिक लाभकारी पद्धति से नियंत्रित करना चाहिये।

सारांश—मनुष्य में सामूसिक जीवन बिताने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। आत्मगौरव तथा दैन्यवृत्ति भी सामूहिक प्रवृत्तियाँ हैं। उनका अर्थ बिलकुल एकान्त में रहने वाले व्यक्ति के लिए कुछ भी नहीं है। अनुकरण, सहानुभूति एवं निर्देश ग्रहण करने की वृत्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि व्यक्ति अपने आचरण को समूह अथवा समाज के आचरण पर ढालता है।

बहुत सा आचरण तो मनुष्य अपनी बुद्धि से निर्णय करके करता है। किन्तु जब वह समूह के बीच में होता है तो वह प्राय: अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करता, समाज का अन्धानुकरण करने लगता है। सामाजिक आचरण व्यक्तिगत आचरण से हीन स्तर का होता है क्योंकि सामूहिक मन समूह के प्रत्येक व्यक्ति में पाई जानेवाली समान वृत्तियों से ही बनता है। और वे वृत्तियाँ मूल-प्रवृत्तियाँ ही होती हैं। समूह-भावना से प्रेरित होकर प्राय: नीतिमान् व्यक्ति भी असभ्य आचरण कर बैठते हैं, स्वाभवत: दयालु पुरुष भी क्रूर हो जाते हैं। यदि समूह किसी

उच्च आदर्श से अनुप्राणित है तो सामूहिक आचरण व्यक्तिगति आचरण से श्रेष्ठ भी हो सकता है।

समूह तीन प्रकार के माने गये हैं, भीड़, गोष्ठी, एवं समाज। भीड़ उद्देश्य हीन, आकस्मिक लोक-सम्मिलन का नाम है; गोष्ठी किसी एक-देश व्यापी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर अधिक स्थायीरूप से व्यक्तियों के संगठित होने को कहते हैं और समाज सम्पूर्ण जीवन सम्बन्धी व्यापक उद्देश्य से निर्मित होता है। मेला भीड़ है, संगीत-समाज गोष्ठी है, एवं राष्ट्र समाज है।

समाज की स्थापना के लिये कई बातें आवश्यक हैं। पहले, उस में स्थायित्व चाहिये; दूसरे, समाज का प्रत्येक सदस्य अपने तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध को समझे; तीसरे, समूह को अपने ही जैसे किन्तु भिन्न आदर्श रखने वाले समूहों के सम्पर्क में आना चाहिये, चौथे, समूह की एक परम्परा हो, उसके आदर्शों का एक इतिहास हो, और पाँचवें समूह में कर्त्तव्य का उचित बटवारा होना चाहिये। जिस समूह में उपर्युक्त गुण नहीं पाये जाते उसमें संगठित समाज की स्थापना नहीं हो सकती। स्कूल में ये सब गुण होते हैं अतएव उनका उचित उपयोग करके स्कूल को एक छोटे से सुगठित समाज में परिवर्तित किया जा सकता है और बालकों की सामूहिक वृत्तियों का सुन्दर उपयोग उनकी शिक्षा में हो सकता है।

प्रश्न

(१) समूह-मन (group mind) क्या होता है? स्कूल में उसका उत्पादन एवं प्रयोग आप किस प्रकार करेंगे?

(२) स्कूल जीवन के संगठन पर समूह-मनोविज्ञान (group psychology) क्या प्रकाश डालता है?

(३) समूहों का वर्गीकरण कीजिये एवं प्रत्येक वर्ग का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(४) आधुनिक शिक्षा-शास्त्र में व्यक्ति की शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता है। समूह-मनोविज्ञान का इस मत पर क्या प्रभाव पड़ता है?

शिक्षा में माप

(Measurement in Education)

माप की आवश्यकता—कुछ समय पहले तक विद्यार्थियों की विद्या एवं बुद्धि के सम्बन्ध में अध्यापकों की सम्मति ही प्रमाण समझी जाती थी। विद्यार्थी के काम से, आचरण से, अर्जित ज्ञान से, अध्यापक पर जो कुछ प्रभाव पड़ता था उसके ही आधार पर वह अपनी राय कायम कर लेता था और लोगों का यह ख़याल था कि उससे अधिक प्रामाणिक बात विद्यार्थी के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। यह सम्मति अकाट्य एवं निर्भ्रान्त समझी जाती थी। प्राय: सभी लोगों की धारणा थी कि विद्यार्थी के निकट सम्पर्क एवं चिर अभ्यास के फलस्वरूप अध्यापक में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि छात्रों की विद्या तथा बुद्धि को आँकने में किसी प्रकार की भूल अथवा प्रमाद की संभावना हो नहीं रहती।

किन्तु जैसे-जैसे विज्ञान का प्रसार होता गया और लोगों की आस्था उस पर बढ़ती गई वैसे-वैसे शिक्षा में भी वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का प्रचार होने लगा। लोगों ने देखा और समझा कि शिक्षकों की सम्मति कभी गलत नहीं होती यह बात सही नहीं है। वैज्ञानिक माप के अभाव में शिक्षक तो अपने ऊपर पड़े विद्यार्थी के प्रभाव का ही वर्णन करेगा और शिक्षक के प्रभावित होने के अनेक ऐसे भी कारण हो सकते हैं जिनका बालक की विद्या अथवा बुद्धि से किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो। विद्यार्थी की गुरु-सेवा, उसका शिष्टाचरण, चरित्र आदि

सभी शिक्षक को प्रभावित करते हैं और इसलिये उसका निर्णय इन सब के सम्मिलित प्रभाव से ही होता है यद्यपि इसका ज्ञान प्राय: उस को नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जैसा हालिंगवर्थ का कहना है, सभी शिक्षकों की कसौटी भी एक नहीं होती; अपना निर्णय देने में वे जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं उनका अर्थ भिन्न-भिन्न शिक्षकों के मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न रहता है; सभी निर्णायकों के पास निर्णय करने के लिये एक ही साक्ष्य नहीं होता; अकसर प्रदत्त (data) विश्वसनीय नहीं होता और यदि वह विश्वास-योग्य हुआ भी तो उसके कारण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। यदि बालक किसी विषय को ठीक तरह से नहीं समझ पाता तो उसमें बुद्धि की कमी हो सकती है, अथवा विषय के लिये अरुचि हो सकती है; यह भी हो सकता है कि उसका स्वास्थ्य ख़राब हो अथवा पारिवारिक झमेलों के कारण उसका चित्त उद्विग्न रहता हो या वह दुष्टता के कारण उसे समझने की कोशिश ही न करता हो; वह बहरा, हीन-बुद्धि, लापरवाह आदि भी हो सकता है। अतएव यह जरूरी है कि यदि निर्णय करना ही हो तो उसके लिये किसी भूल-रहित वैज्ञानिक प्रणाली का ही प्रयोग करना चाहिये।

शिक्षकों के दिये हुये नम्बरों को देखने से वैज्ञानिक माप की आवश्यकता और भी स्पष्ट हो जाती है। अमेरिका के एक शिक्षा विभाग के निरीक्षक ने विभिन्न विषयों में विद्यार्थियों के प्राप्त-अंकों की एक तालिका प्रस्तुत की तो पता चला कि अंगरेज़ी में ३३% बालकों के नम्बर ७४% से कम आये यद्यपि गृह-शास्त्र में किसी के भी नम्बर ७४ से नीचे नहीं रहे; विज्ञान में केवल २% छात्र ९३ से १०० तक अंक प्राप्त कर सके जब कि गणित में ऐसे बालक ४०% थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ परीक्षक नम्बर देने में बड़े उदार और कुछ बड़े कृपण होते हैं। जब हम एक ही प्रश्न-पत्र पर दिये विभिन्न अनुभवी परीक्षकों के अंकों को देखते हैं तो परीक्षा की विषमता और भी अधिक स्पष्ट हो

जाती है। स्टार्च और इलियट ने इस सम्बन्ध में जो अनुसन्धान किया था उसका परिणाम बहुत ही अद्भुत निकला। अंगरेजी के एक ही प्रश्न-पत्र को १४२ परीक्षकों ने जांचा। भिन्न-भिन्न परीक्षकों ने ६४ से लेकर ९८ तक नम्बर दिये। अंगरेजी के दूसरे पर्चे में अंकों का प्रस्तार ५० से ९८ तक हो गया। गणित के ११८ अध्यापकों ने रेखागणित में एक ही विद्यार्थी को २८ से ९२ तक नम्बर दिये तथा इतिहास में ७० अध्यापकों ने एक ही काम के लिये ४३ से ९० तक नम्बर दिये। उपर्युक्त खोज से हमें पता चलता है कि भिन्न-भिन्न परीक्षकों की सम्मति में किसी प्रकार का साम्य नहीं होता। अतएव उनके किसी भी निर्णय को प्रामाणिक नहीं समझा जा सकता। वही निर्णय प्रामाणिक कहा जा सकता है जिसके सम्बन्ध में सभी परीक्षक लगभग एक ही मत रखते हों।

इसलिये विद्या एवं बुद्धि का माप करने के लिये वैज्ञानिक रीति का निकालना आवश्यक हो गया। अब तो अनेक प्रामाणिक परीक्षण बन गये हैं जिनका प्रयोग शिक्षा में तथा अन्य शिक्षेतर अवसरों पर सफलता के साथ हो रहा है।

बुद्धि-माप (Measurement of Intelligence)—विद्या और बुद्धि में अन्तर है। यह ज़रूरी नहीं है कि जिसके पास विद्या हो वह बुद्धिमान् भी हो तथा बुद्धिमान् व्यक्ति विद्वान् भी हो यह तो और भी कम आवश्यक है। ऐसे लोग भी हैं जिन्हें विद्या प्राप्त करने का मौक़ा परिस्थितियों के कारण कभी न मिल सका यद्यपि उनकी बुद्धि बहुत ऊँचे दरजे की थी। यदि उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध ठीक समय पर हो सकता तो उससे उनका तथा समाज का बड़ा हित होता। बुद्धि-हीन छात्रों पर जो रुपया प्रति वर्ष व्यर्थ ही नष्ट किया जाता है उसकी बचत हो सकती है अगर हम आरम्भ में ही सब बालकों की बुद्धि की जाँच कर लें और उन बालकों को छाँट कर अलग कर दें जिन पर शिक्षा का कोई विशेष प्रभाव नहीं होने वाला है।

इससे एक लाभ यह होगा कि हीन-बुद्धि बालकों की शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध हो जायगा। तब उन्हें वही शिक्षा दी जायगी जिससे वे लाभ उठा सकेंगे। अतएव बुद्धिमाप की प्रामाणिक विधि की बहुत बड़ी आवश्यकता एवं उपयोगिता है।

बिने के बुद्धि परीक्षण—इस क्षेत्र में पहला उपयोगी कार्य एक फ्रेंच मनोवैज्ञानिक एवं डाक्टर एल्फ्रेड बिने ने किया। उसको पेरिस म्युनिसपैलिटी ने मन्द-बुद्धि बालकों का पता लगाने के लिये नियुक्त किया था जिससे उन्हें विशिष्ट विधियों के द्वारा पढ़ाया जा सके। १६०४ में साइमन तथा बिने ने साथ-साथ काम करके एक प्रश्नावली तैयार की। उन प्रश्नों के जो उत्तर बालक देते थे उन्हीं के आधार पर उनकी बुद्धि आँकी जाती थी। इस प्रश्नावली के तैयार करने में बहुत सावधानी से काम लिया गया था और यद्यपि परिवर्तित होते-होते आज उसकी काया ही पलट चुकी है परन्तु फिर भी जिस सिद्धान्त पर उसकी रचना हुई थी वह सर्वमान्य हो गया है। परिणामत: अब माप का स्वरूप एकदम ही बदल गया है।

बिने ने अपने प्रश्नों को इस आधार पर बनाया था कि जैसे-जैसे बालक की उम्र बढ़ती जाती है उसका ज्ञान भी बढ़ता जाता है। वह अपने अनुभव से, बिना किसी प्रकार की शिक्षा पाये, बहुत कुछ सीख लेता है। अत: जो ज्ञान ३ वर्ष के बालक का होगा ४ वर्ष के बालक का ज्ञान उससे अधिक होगा और इसी प्रकार ५ वर्ष का बालक ४ वर्ष के बालक से अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेगा। अतएव उसने प्रत्येक अवस्था के बालकों की जाँच के लिये कुछ प्रश्न तैयार किये थे। प्रश्न ऐसे थे जिनका उत्तर सभ्य वातावरण में रहने वाला कोई भी बालक दे सकता था। उन प्रश्नों के उत्तर देने में विद्यार्थी के स्कूल से प्राप्त किये हुये ज्ञान का प्रभाव बिलकुल न रहे इसका विशेष ध्यान रखा गया था। एक अवस्था के बालकों के लिये ४ या ५ प्रश्न तैयार करने के बाद उन्हें उस अवस्था

के हजारों लड़कों से पूछा गया। ये लड़के सभी प्रकार के पढ़े-बे-पढ़े, उच्च, मध्यम तथा निम्न वर्ग में से चुने गये थे। जिन प्रश्नों का उत्तर ६०% बालकों ने ठीक दिया वे ठीक समझे गये। दूसरे प्रश्न या तो प्रश्नावली से निकाल दिये गये और या फिर उन्हें बदल कर ठीक कर लिया गया। बिने के अनुसार जिस अवस्था के सभी प्रश्न कोई बालक हल कर लेता है उसकी मानसिक आयु (mental age) वही मानी जानी चाहिये। यदि ५ वर्ष का बालक ७ वर्ष वाले सब प्रश्नों को सही-सही हल कर सके तो उसकी मानसिक आयु ७ वर्ष होगी तथा यदि ६ वर्ष का बालक ५ वर्ष के ही प्रश्न करे तो उसकी मानसिक आयु ५ ही वर्ष समझी जायगी। जिस बालक की मानसिक आयु उसकी वास्तविक आयु से ऊँची होगी वह प्रखर-बुद्धि, जिसकी कम होगी वह मन्द-बुद्धि तथा जिसकी दोनों अवस्थायें समान होंगी वह साधारण-बुद्धि का या औसत बालक समझा जायगा। ३ से लगाकर १५ वर्ष तक के प्रत्येक वर्ष के लिये उसने प्रश्नों की रचना की थी, केवल ११ वें, १३ वें तथा १४ वें वर्ष के लिये उपयुक्त प्रश्न वह नहीं तैयार कर सका था प्रश्न बड़े व्यापक थे। प्राय: प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित कुछ न कुछ पूछा गया था और 'मानसिक आयु' का विचार भी बड़ा उपयोगी था। बिने का कहना था कि यदि ६ वर्ष से कम अवस्था के बालक की मानसिक आयु वास्तविक आयु से दो वर्ष तथा उससे अधिक आयुवाले की तीन वर्ष कम हो तो उसे हीन-बुद्धि समझा जाय और उसकी शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया जाय।

इस प्रणाली को आरम्भ में बहुत सफलता मिली और शीघ्र ही समस्त योरोप, इंगलैण्ड तथा अमेरिका में उसका प्रचार हो गया। किन्तु यह परीक्षण भी दोषों से मुक्त न था। एक तो इसका निर्माण पेरिस के बालकों को दृष्टि में रखकर हुआ था अतएव वह अन्य देशों के बालकों पर उतनी ही सफल नहीं हो सकती थी, दूसरे, जो बालक

७ वर्ष के सम्पूर्ण प्रश्न हल नहीं कर सकता वह बाद के वर्ष के लिये निश्चित प्रश्नों के कितने ही सुन्दर उत्तर क्यों न दे उसकी मानसिक आयु ७ वर्ष नहीं मानी जा सकती जो बहुत ही अन्याय पूर्ण था; तीसरे, उसकी प्रश्नावली के सभी प्रश्न समान रूप से संतोषजनक भी नहीं हैं, क्योंकि कुछ प्रश्नों में उत्तरों को संकेतित किया गया है और वे बुद्धि की परीक्षा नहीं करते। चौथे, प्रश्नावली कुछ ऐसी बनी है कि भाषा ज्ञान का प्रभाव उत्तरों पर काफी पड़ता है, अतएव बुद्धि-परीक्षा बहुत कुछ विद्या-परीक्षा बन जाती है; पाँचवें, बिने ने जो ९ वर्ष तक की आयु के सभी बालकों के लिये वास्तविक आयु से मानसिक आयु की दो वर्ष की कमी को समान रूप से बुद्धि की मन्दता का सूचक बना दिया है वह बुद्धि-मांद्य की मात्रा का आवश्यक ज्ञान न देने के कारण कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। ५ वर्ष के बालक की मानसिक आयु यदि ३ वर्ष हो तो उसे उतना ही मन्द-बुद्धि समझा जाता है जितना ९ वर्ष के बालक को जिसकी मानसिक आयु ७ वर्ष है। दोनों ही दो वर्ष पिछड़े हैं परन्तु एक ५ ही वर्ष में उतना पिछड़ गया जितना दूसरा ९ वर्ष में अत: दूसरा पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिशाली होगा। इन दोषों को दूर करने के उद्देश्य से बिने की बुद्धि-मापक प्रश्नावली में अनेक संशोधन किये गये।

टरमैन का संशोधन—टरमैन ने अमेरिकन बालकों के उपयुक्त बनाने के लिये इन प्रश्नावलियों का संशोधन किया। उसने प्रश्नों की संख्या ५४ से बढ़ाकर ९० कर दी। तीसरे वर्ष से १० वें वर्ष तक प्रत्येक वर्ष के लिये उसने ६ प्रश्न रखे; बारहवें वर्ष के लिये ८ प्रश्न हैं, १४ वें के लिये ६, औसत या साधारण प्रौढ़ के लिये ६, तथा प्रखरबुद्धि प्रौढ़ के लिये ६ प्रश्न रखे। साथ ही १६ वैकल्पिक प्रश्न भी जोड़ दिये। ११ वें १३ वें वर्ष के लिये उसने भी प्रश्न नहीं बनाये। उसने प्रत्येक प्रश्न का "आयु-मूल्य" निर्धारित कर दिया—३ से १० वर्ष तक के प्रत्येक प्रश्न का मूल्य

२ महीने; बारहवें वर्ष के प्रत्येक प्रश्न का मूल्य २ महीने, चौदह वर्ष के लिये ४ महीने; साधारण प्रौढ़ के लिये ५ महीने तथा प्रखर-बुद्धि प्रौढ़ के लिये निश्चित प्रत्येक प्रश्न का मूल्य ६ महीने निर्धारित किया गया। बिने के अनुसार बालक की मानसिक आयु उतने ही वर्ष मानी जा सकती थी जिस वर्ष के लिये निश्चित समस्त प्रश्नों का सही-सही उत्तर बालक दे दें। हाँ, जिस वर्ष के सब प्रश्नों का सही उत्तर दिया है उसके अगले वर्ष के प्रश्नों में से जितने ठीक बताये हैं उसका मूल्य उसमें जोड़ दिया जाता था। टरमैन के संशोधन में यह नियम हटा दिया गया; सही उत्तरों के 'आयुमूल्यों' का योग ही मानसिक आयु माना गया। किसी वर्ष के सब प्रश्नों का सही उत्तर देना आवश्यक नहीं रहा। इसके अतिरिक्त उसने शब्द भण्डार-परीक्षा तथा गणित सम्बन्धी कुछ नये प्रश्न जोड़े और बुद्धि-लब्धि (Intelligence Quotient) के परमोपयोगी सिद्धांत का प्रचार किया। किसी भी बालक की मानसिक आयु में वास्तविक आयु का भाग देने से जो लब्धि प्राप्त होता है वही बच्चे का बुद्धि-लब्धि (I. Q.) होता है। समझने की सुविधा के लिये इस बुद्धि-लब्धि को प्रतिशत में प्रकट करने की प्रथा चल पड़ी है। प्राप्त लब्धि को १०० से गुणा करने पर जो अंक मिलता है वह बच्चे का बुद्धि-लब्धि (I. Q.) कहलाता है। यदि किसी ५ वर्ष के बालक की मानसिक आयु ४ ही वर्ष है तो उसका बुद्धि-लब्धि $\frac{४}{५}$ × १०० = ८० हुआ। हम कह सकते हैं कि औसत बालक की तुलना में वह केवल ८०% बुद्धि रखता है। इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके द्वारा मानसिक तथा वास्तविक अवस्था का अनुपात और विद्यार्थी की बौद्धिक कमी कहीं अधिक सुविधा-पूर्वक समझायी जा सकती है। टरमैन ने बुद्धि-लब्धि का अधोलिखित वर्गीकरण किया :—

बुद्धि-लब्धि		वर्ग
१४० से ऊपर	प्रतिभाशाली	(genius)
१२० से १४० तक	अत्युत्कृष्ट	(very superior)
११० से १२० तक	उत्कृष्ट	(superiaor)
९० से ११० तक	साधारण	(normal)
८० से ९० तक	मंद	(dull)
७० से ८० तक	निर्बल बुद्धि	(borderline)
७० से नीचे	हीन बुद्धि	(feeble minded)
५० से ७० तक	मूर्ख	(moron)
२० से ५० तक	मूढ़	(imbecile)
२० से नीचे	जड़	(idiot)

समूहिक परीक्षण (group tests)—इस प्रकार परिक्षण करने में एक झंझट है। इसमें बहुत समय लगता है। एक बालक की जाँच करने के लिये कुशल परीक्षक को आध घंटे से कम समय नहीं लगता। अतएव यदि कुछ थोड़े से ही लोगों की बुद्धि जाँचनी हो तब तो इसका प्रयोग किया जा सकता है; अन्यथा नहीं। इस कठिनाई का अनुभव सबसे पहले १९१४ के महायुद्ध के समय हुआ जब लाखों सिपाहियों की परीक्षा इस दृष्टि से लेनी पड़ी कि उनमें से अफसर बनाये जाने के योग्य उत्कृष्ट-बुद्धि व्यक्तियों का चुनाव किया जा सके। तब मनोवैज्ञानिकों ने सामूहिक परीक्षण (group tests) का निर्माण किया। इन परीक्षणों में बहुत से प्रश्न पुस्तक रूप से छपे रहते हैं जिनका उत्तर एक दो शब्दों में उन्हीं प्रश्नों के सामने परीक्षार्थियों को लिखना होता है। कभी-कभी एक ही प्रश्न के कई उत्तर भी छपे रहते हैं और परीक्षार्थी को केवल उनमें से सब से उपयुक्त उत्तर के नीचे एक रेखा खींच देनी होती है। इन परीक्षणों के द्वारा काफी बड़ी संख्या में लोगों को एक साथ ही जाँचा जा सकता है।

शीघ्रता-पूर्वक, काम-चलाऊ अन्दाज लगाने के लिये, इनका सफल उपयोग किया जा चुका है किन्तु सच्ची जाँच तो 'बिने परीक्षण' के तरह के व्यक्तिगत परीक्षणों (individual tests) के द्वारा ही सम्भव है।

क्रिया परीक्षा—उपर्युक्त परीक्षणोंमें भाषा-प्रयोग की आवश्कता होती है। इनका प्रयोग उन व्यक्तियों पर नहीं किया जा सकता जो या तो भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते जैसे गूँगे-बहरे अथवा जो परीक्षक की भाषा नहीं समझ सकते। उनके लिए क्रिया-परीक्षाओं (performance tests) का प्रबन्ध किया गया है। परीक्षार्थियों को कुछ काम करने को दिया जाता है। लकड़ी के टुकड़ों को किसी ख़ास शक्ल में जमाना, भाँति-भाँति के बने हुए सूराखों में फिट होने वाले लकड़ी के टुकड़ों को बिठाना, आइने में देखकर किसी शकल को बनाना आदि। परीक्षा के लिये ऐसे काम चुने जाते हैं जिनको बुद्धिमान व्यक्ति शीघ्र एवं कम भूलें करके कर लेता है; मन्द-बुद्धि उन्हें या तो कर ही नहीं पाता अथवा बहुत देर में कर पाता है।

कुछ निष्कर्ष – इन बुद्धि-परीक्षणों को प्रयोग में लाया गया एवं प्राप्त परिणामों की विवेचना की गई। उसके आधार पर निम्न-लिखित निष्कर्ष निकाले गये हैं :—

(१) इन सभी परीक्षाओं के द्वारा किसी मानसिक गुण की जाँच होती है किन्तु यह निश्चय नहीं है कि यह मानसिक गुण वही है जिसे बुद्धि कहा जाता है।

(२) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का पारस्परिक अन्तर बहुत बड़ा होता है। बुद्धि-लब्धि (I. Q.) साधारणत: ६० से लेकर १८० तक तो पाये ही जाते हैं।

(३) एक ही व्यक्ति का बुद्धि-लब्धि सदा एक ही, कम से कम लगभग एक ही, रहता है। उस पर शिक्षा का प्रभाव नहीं पड़ता।

(४) जितने परीक्षण बुद्धि की जाँच लिये बने हैं उनका अलग

अलग प्रयोग करने से जो परिणाम निकलते हैं उनमें पारस्परिक साम्य पाया जाता है।

(५) मानसिक विकास १६ वर्ष के बाद प्रायः रुक जाता है। बिने की प्रश्नावली १५ वर्ष पर रुक गई थी तथा टरमैन के संशोधन में साधारण प्रौढ़ की मानसिक आयु १६½ वर्ष तक ही पहुँचती है।

बैलर्ड को अन्तिम परिणाम की सचाई पर कुछ सन्देह हुआ। आखिर यह मान लेना बहुत गौरव-बर्द्धक तो है नहीं कि जितनी बुद्धि हम में १६ वर्ष की आयु में थी उतनी ही अब है जब कि मैं ४० वर्ष का हूँ तथा पिछले २४-२५ वर्षों में न जाने कितना तेल जलाकर, कई बार चश्मा बदल कर, बुद्धि-वर्द्धन के लिये अथक परिश्रम कर चुका हूँ। बैलार्ड ने सोचा कि १६ वर्ष के उपरान्त यदि बुद्धि बढ़ती होगी तो वह बुद्धि 'तर्क शक्ति' (reasoning) में अवश्य दिखाई पड़ेगी। अतएव उसने कुछ तर्क-परीक्षणों (reasoning tests) का निर्माण किया। उनका प्रयोग करने पर उसे पता चला कि महिला-ट्रेनिंग कालेज की प्राप्त-वयस्का छात्राओं ने माध्यमिक स्कूल में पढ़नेवाली लड़कियों की तुलना में कुछ विशेषत्व नहीं दिखाया, तथा माध्यमिक स्कूल में भी १५ वर्ष के पश्चात् नाम मात्र की ही उन्नति मालूम पड़ी और १६ वर्ष के बाद तो कोई उन्नति नहीं पाई गई। स्पियरमैन ने भी कुछ परीक्षण किये जिनका परिणाम यह निकला कि १४ वर्ष के नाविकों तथा विश्वविद्यालय के स्नातकों (graduates) की बुद्धि का औसत समान ही होता है।

(६) उत्कृष्ट-बुद्धि बालकों का विकास देर तक चलता है एवं मंद-बुद्धि बालकों का विकास जल्दी ही रुक जाता है।

(७) स्त्रियों तथा पुरुषों में कोई बौद्धिक अन्तर नहीं होता। हाँ स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम संख्या में प्रतिभाशाली होती हैं तथा मंद-बुद्धि स्त्रियों की भी संख्या मन्द-बुद्धि पुरुषों की अपेक्षा कम ही होती है।

बुद्धि का अर्थ—बुद्धि-परीक्षा की बात तो हो चुकी परन्तु

बुद्धि है क्या इस पर कुछ प्रकाश नहीं डाला गया। बुद्धि के सम्बन्ध में बहुत तरह के मत लोगों में पाये जाते हैं। स्पियरमैन ने सभी मतों को तीन वर्गों में रख दिया है। एक वर्ग के मत में बुद्धि सर्वश्रेष्ठ, सर्व शक्तिमान मानसिक शक्ति है जो अन्य सभी मानसिक गुणों पर शासन करती है। कहना चाहिये कि बुद्धि समस्त मानसिक क्षेत्रों में काम करने वाली प्रमुख मानसिक शक्ति है। डाक्टर जानसन इसी मत का पोषक था। किन्तु यदि इस मत को ठीक माना जाय तो उन परिस्थितियों की उपपत्ति हम क्या देंगे जहाँ पर कोई व्यक्ति किसी क्षेत्र में तो परम कुशल होता है किन्तु दूसरे क्षेत्रों में, प्रयास करके भी, सफलता नहीं पाता? ऐसे विद्यार्थी देखने में आते हैं जो गणित में बड़े तेज होते हैं किन्तु भाषा अथवा इतिहास में बहुत कमजोर।

दूसरे मत में बुद्धि किसी एक प्रधान शक्ति को नहीं कहते प्रत्युत उसे कुछ थोड़ी-सी प्रमुख शक्तियों का समूह माना जाता है। स्मृति, कल्पना अवधान आदि कुछ चुनी हुई शक्तियाँ ही मिलकर समस्त मनोराज्य का शासन करती है। अतएव उनका समूह ही बुद्धि कहलाता है। किन्तु ये शक्तियाँ हैं भी कि नहीं अभी तक मनोवैज्ञानिकों ने इस का निर्णय नहीं कर पाया है। हम देख चुके हैं कि वही स्मृति किसी विषय में खूब काम करती है तथा किसी विषय से एक दम चुप हो जाती है। यदि वह एक स्वतन्त्र शक्ति होती तो प्रत्येक स्थल पर जहां स्मृति की आवश्यकता पड़ती समान रूप से कार्य करती।

तीसरा सम्प्रदाय कहता है कि बुद्धि न तो किसी एक ही शक्ति का नाम है और न थोड़ी सी शक्तियों के गुट का। मन में अनेक शक्तियाँ होती हैं और उन सबका औसत ही बुद्धि कहलाता है। बुद्धि-परीक्षण में हम जो अधिक से अधिक मानसिक शक्तियों की परीक्षा करके सब का औसत निकाल कर ही बुद्धि की मात्रा निर्धारित करते हैं वह इस मत का समर्थन करता प्रतीत होता है।

स्पियरमैन ने इन सभी मतों का समन्वय अपने 'द्वैत-सिद्धान्त' (Two Factor Theory) में किया है। उसका कहना है कि जिसे हम बुद्धि कहते हैं उसके दो भाग होते हैं, एक को 'सामान्य' (g) कहा जा सकता है और दूसरे को 'विशेष' (s)। जितनी मानसिक शक्तियाँ हैं सब में 'सामान्य' रहता है। इसलिए हम देखते हैं कि जो व्यक्ति किसी एक ओर विशेष योग्यता का परिचय देता है वह प्राय: अन्य विषयों में भी बुद्धू नहीं होता। किन्तु इसके अतिरिक्त बुद्धि में अनेक विशेष पटुतायें भी होती हैं जिनका क्षेत्र किसी छोटे दायरे में ही सीमित होता है। अतएव 'सामान्य' के सहारे 'विशेष' क्षेत्र में बुद्धि अधिक काम करती मालूम पड़ती है। न तो 'सामान्य' ही सब कुछ है और न 'विशेष' हो। इन दोनों का मिश्रण ही बुद्धि कहलाता है। तभी हम देखते हैं कि व्यक्ति कुछ क्षेत्रों में अधिक बुद्धिशाली मालूम पड़ता है और कुछ में नहीं। जिन विषयों से सम्बन्धित 'विशेष' किसी बुद्धि में होंगे। उसकी प्रखरता उन्हीं क्षेत्रों में प्रकट होगी; अन्य में नहीं।

विद्या-परीक्षा (Achievement Tests)—बुद्धि परीक्षा बालक की स्वाभाविक बौद्धिक क्षमता की जाँच करती है परन्तु विद्या-परीक्षा से यह पता चलता है कि अपना उस शक्ति का उचित प्रयोग शिक्षा प्राप्त करने में बालक ने किया है या नहीं। जिस प्रकार बिने के परीक्षणों में प्रश्न इस बात का ध्यान रख कर बनाये गये थे कि अमुक अवस्था के बालक अमुक प्रश्न का उत्तर अवश्य दे सकेंगे उसी प्रकार विद्या-परीक्षण के प्रश्न भी तैयार किये गये हैं। किस मानसिक आयु के बालकों को किस विषय का कितना ज्ञान होना चाहिये इसका निर्णय करके प्रश्नावली तैयार की गई है। उनके आधार पर बच्चों की विद्या-आयु का पता चलाया जाता है, वैसे ही जैसे बुद्धि परीक्षा से उनकी मानसिक आयु नापी जाती है। यदि किसी बालक की मानसिक आयु तो १० वर्ष है किन्तु उसकी विद्या-आयु ६ वर्ष ही

है तो हमें इस बात का पता लगाना होगा कि बालक अपनी शक्ति के अनुसार विद्यालाभ क्यों नहीं कर रहा है। बच्चे का स्वास्थ्य खराब हो सकता है, उसे चिन्ताओं से परेशानी हो सकती है, अथवा शिक्षक पढ़ाता नहीं या उसके पढ़ाने का ढँग ठीक नहीं। कारण जानकर उसके दूर करने का प्रबन्ध किया जा सकता है। अतएव विद्या-परीक्षा का शिक्षा में बहुत ऊँचा स्थान है।

व्यवसाय-योग्यता-परीक्षा (Vocational Tests)—कुछ ऐसे भी परीक्षण बने हैं जिनसे इस बात का पता लगाया जाता है कि विद्यार्थी की रुचि, योग्यता आदि उसे किस व्यवसाय के योग्य बनाती हैं। भिन्न-भिन्न व्यवसायों का विश्लेषण करके यह निश्चित कर लिया गया है कि अमुक व्यवसाय में किन विशिष्ट गुणों की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक गुण की परीक्षा का भी प्रबन्ध है जो गुण तथ योग्यता बच्चे में हैं उनकी व्यवसाय की दृष्टि से परीक्षा की जाती है और तब यह निश्चय किया जाता है कि उसे किस व्यवसाय में भेजा जाय। व्यवसाय-योग्यता का निर्णय करते समय बालक के माता-पिता की रुचि एवं आदर्श, जिस समाज में बालक रहता है उसका वातावरण आदि भी देखना चाहिये लोग के व्यवसाय-चयन में इन सभी बातों का प्रभाव पड़ता है तथा माता-पिता एवं समाज आदि की राय के विरुद्ध यदि बालक केवल अपनी योग्यता के बलपर किसी व्यवसाय को चुन भी लेता है तो वह उसमें सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। किन्तु जिस व्यवसाय की योग्यता ही बच्चे में नहीं है उसे माता-पिता के अनुरोध से चुन लेने से भी बालक सफल नहीं होगा।

भारत और बुद्धि परीक्षा—अभी तक जिन परीक्षणों की व्याख्या इस अध्याय में की गई है, पूछा जा सकता है, उनका हमारे देश में क्या उपयोग हो सकता है। जितने भी परीक्षण, उपलब्ध हैं वे सब पाश्चात्य देशों के बालकों को दृष्टि में रख कर बने हैं। हमारी संस्कृति एवं व्यवहारिक जीवन उन से बिलकुल भिन्न हैं। अतएव उन परीक्षणों

का सीधा-सीधा उपयोग हमारे यहाँ नहीं हो सकता। उनके आधार पर जो दो-एक परीक्षण यहाँ तैयार भी किये गये हैं उन्हें अभी तक प्रामाणिक नहीं बनाया गया है। प्रयोग की कसौटी पर जब तक वे खरे नहीं उतरते तब तक उनके परिणामों को विश्वास-योग्य कैसे समझा जा सकता है? अब भारत सरकार तथा हमारी प्रान्तीय सरकार की ओर से भी प्रामाणिक परीक्षण बनाये जा रहे हैं। आशा है वे शीघ्र ही तैयार होंगे और तब उनका प्रयोग करके हम भी लाभ उठा सकेंगे।

सारांश—विद्या अर्जित ज्ञान को कहते हैं तथा बुद्धि वह स्वाभाविक शक्ति है जो ज्ञानार्जन एवं अन्य मानसिक क्रियाओं को सुचारु रूप से चलाने में हमारी सहायता करती है। बुद्धि का वैज्ञानिक माप बिने से आरम्भ होता है। उसने कुछ प्रश्नावलियाँ बनाई और अनेक बालकों पर प्रयोग करके उन्हें प्रामाणिक बनाया। प्रत्येक अवस्था के बालकों के उपयुक्त प्रश्न बना कर उसने मानसिक आयु के सिद्धान्त का प्रचार किया। टरमैन ने उसके परीक्षण में अमेरिकन बालकों को दृष्टि में रख कर कुछ संशोधन किये तथा बुद्धि-लब्धि के सिद्धान्त को जन्म दिया।

इसके बाद कुछ सामूहिक परीक्षण बने जिससे अधिक व्यक्तियों का परीक्षण थोड़े समय में हो सके। कुछ क्रिया-परीक्षाओं का भी निर्माण हुआ जिनके द्वारा भाषाहीन अथवा अपरिचित भाषा-भाषी लोगों की भी बुद्धि नापी जा सके। स्पियरमैन ने बुद्धि के विभिन्न अर्थों का समन्वय अपने 'द्वैत-सिद्धान्त' में किया।

बुद्धि-परीक्षा की ही तरह विद्या-परीक्षा का भी प्रबन्ध हुआ। बालक का अर्जित ज्ञान किस श्रेणी का है, उसकी मानसिक शक्तियों का उचित उपयोग हुआ है या नहीं इन सब बातों का पता विद्या-परीक्षा से चलता है। व्यवसाय-योग्यता-परीक्षा बच्चों की व्यावसायिक योग्यता तथा रुचि का ध्यान रखकर उपयुक्त व्यवसाय चुनने में मदद देती है।

अभी तक जितने परीक्षण तैयार हुये हैं वे सब पाश्चात्य देशों के

लोगों के लिये बने हैं अतएव उनका सीधा उपयोग हमारे यहाँ नहीं हो सकता। हमें नये परीक्षण तैयार करने होंगे, उन्हें प्रामाणिक बनाना होगा, तभी हम उनका ठीक-ठाक उपयोग कर सकेंगे।

प्रश्न

(१) बुद्धि-लब्धि क्या है? बुद्धि-परीक्षण शिक्षकों को क्या सहायता देते हैं? उनमें क्या कमी है?

(२) बुद्धि की परीक्षा करने के लिये किन विधियों का आविष्कार किया गया है? उसमें जो कमी है उसको भली भाँति समझाइये।

(३) बुद्धि किसे कहते हैं? बुद्धि की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के बालकों की क्या व्यवस्था करनी चाहिए?

(४) "अल्पवयस्क छात्रों के लिए एक ही परीक्षा का कुछ महत्व है और वह बुद्धि-परिक्षा है।" उपर्युक्त कथन की व्याख्या कीजिये।

(५) व्यवसाय-योग्यता-परीक्षा का संक्षिप्त परिचय दीजिए। उसका विद्यार्थियों के विषय-चयन पर क्या प्रभाव पड़ना चाहिये?

(६) 'मन्द-बुद्धि' (mentally deficient), 'कमज़ोर' (backward), तथा 'साधारण' (normal) बालकों से क्या अर्थ आप समझते हैं?

(७) 'बुद्धि-परीक्षण' किसे कहते हैं? क्या भारतीय स्कूलों में उनका उपयोग किया जा सकता है?

(८) बिने के बुद्धि-परीक्षणों के उद्देश्य (aim) तथा विस्तार (scope) का वर्णन कीजिये।

(९) आधुनिक बुद्धि-परीक्षणों के लिये प्रश्नों का चुनाव करने में किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए? वे किस बुद्धि के सम्बन्ध में और किस सिद्धान्त को मानकर बनाये जाते हैं?

असाधारण बालक

(Exceptional Children)

असाधारण बालक—स्कूल के अधिकांश विद्यार्थी साधारण अथवा औसत श्रेणी के होते हैं। यद्यपि उनमें भी काफी पारस्परिक अन्तर होता है किन्तु फिर भी काम चलाने के लिये उन्हें एक ही स्तर का समझा जा सकता है। उनकी समस्यायें प्राय: समान होती हैं, विद्या एवं बुद्धि दोनों ही दृष्टियों से उनको सामान्यत: एक श्रेणी में रखा जा सकता है, एक ही प्रकार का प्रबन्ध सबके लिये उपयुक्त हो सकता है। किन्तु इन बहु-संख्यक साधारण विद्यार्थियों के अतिरिक्त प्रत्येक स्कूल में, हरएक दरजे में, एक छोटी संख्या असाधारण बालकों की भी रहती है जो किसी प्रकार अपने को स्कूल में खपा ही नहीं पाते और इसी कारण जो शिक्षकों के लिये एक नियमित समस्या बने रहते हैं। शिक्षकों को उनसे शिकायत रहती है। वे शिक्षण-कार्य में प्राय: बाधक हाते हैं, प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्यायें भी उनके कारण नई-नई उठा करती हैं। ये असाधारण बालक प्राय: तीन प्रकार के होते हैं—कमजोर, तेज एवं अपराधी। कमजोर विद्यार्थी विषय की प्रगति में रुकावट डालते हैं क्योंकि वे सामान्य विद्यार्थियों का अपेक्षा बहुत पिछड़े रहते हैं और इसलिये सामान्य विद्यार्थियों को ध्यान में रख कर जो कछ भी पढ़ाया जाता है वह उनको समझ में नहीं आता। तेज विद्यार्थी भी अध्यापक की शिर: पीड़ा का कारण बनते हैं। साधारण विद्यार्थियों की अपेक्षा अकसर वे इतना अधिक तीव्र होते हैं

कि घंटे भर का काम करने में उनको पाँच या सात मिनट से अधिक समय नहीं लगता। खाली समय में उनका एक ही स्वाभाविक व्यवसाय हो सकता है—स्कूल अथवा कक्षा की व्यवस्था में गड़बड़ी उत्पन्न करना; और वे अपने इस प्रकृति-दत्त कर्तव्य का पालन बड़ी तत्परता के साथ, बड़े अध्यवसाय एवं लगन के साथ, करते भी हैं। तीसरे प्रकार के असाधारण बालक वे होते हैं जिन्हें हम लोग अपराधी बालक कहा करते हैं। चोरी, झगड़ा, एवं अनेक प्रकार के दुराचार करके संस्था को 'विक्षुब्ध' करना उनके लिये उतना ही स्वाभाविक मालूम पड़ता है जितना पानी का ढाल की ओर प्रवाहित होना। ये तीनों प्रकार के असाधारण बालक स्कूल के लिये एवं स्कूल उन बालकों के लिये सतत समस्या बने रहते हैं। उनको शिक्षा का कुछ न कुछ विशेष प्रबन्ध करना आवश्यक है। अतएव यहाँ पर हम इन्हीं समस्या-बालकों (problem boys) की समस्या पर एक दृष्टि डालेंगे।

कमजोर बालक (sub-normal children)—प्रत्येक स्कूल में, स्कूल की प्रत्येक कक्षा में, थोड़े ऐसे भी विद्यार्थी रहते हैं-जो और लड़कों की तुलना में पिछड़े रहते हैं। अत: जब वे कक्षा में उपस्थित रहकर पढ़ना चाहते हैं तो अधिकांश विद्यार्थियों की गति रुक जाती है और जब वे दरवाजे के बाहर रहते हैं तो अनेक प्रकार से ऊधम-उत्पात मचाकर, अपराध करके, पाठशाला के शान्त वातावरण को विक्षुब्ध किया करते हैं। अध्यापक का कर्तव्य है कि उनकी कमजोरी का पता लगावे तथा जहाँ तक सम्भव हो उसको दूर करने का उचित प्रबन्ध करे।

इस कमज़ोरी के कारण दो प्रकार के हो सकते हैं। एक तो बाह्य और दूसरे आन्तरिक। बाह्य कारणों से जो बालक कमजोर रहता है उसका उपचार आसान है। कारण अथवा कारणों का पता लगाकर उनके दूर कर देने से ही सब ठीक हो जाता है। उनकी कमजोरी हमेशा

बनी नहीं रहती। ऐसे बालकों को, जिनकी कमजोरी परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हो जाती है, पिछड़ा हुआ (backward) कहना चाहिये, वे मन्द-बुद्धि नहीं होते। आन्तरिक कमजोरी बुद्धि-सम्बन्धी होती है। ये बालक दरजे में कमजोर रहते हैं क्योंकि उनके पास साधारण लड़कों के बराबर बुद्धि ही नहीं होती और वे साधारण विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से पढ़ाये गये विषय को समझ नहीं पाते। इन वास्तविक मन्द-बुद्धि बालकों को मन्द-बुद्धि (dull) कहना चाहिये। उनके पास बुद्धि का अभाव होता है। अतः उनकी कमजोरी कभी दूर नहीं की जा सकती। उनके साथी सदा उनसे आगे निकल जाते हैं। अतः इनकी कमजोरी दूर करने का नहीं, प्रत्युत ऐसी शिक्षा देने का प्रबन्ध होना चाहिये जो उनके लिये सर्वतोभावेन उपयुक्त हो।

बाह्य कारणों में प्रमुख कारण ग़रीबी होता है। ग़रीबी के कारण स्वास्थ्य-बर्द्धक भोजन के अभाव में, बच्चों का स्वास्थ्य गिरा रहता है जिससे उनकी ग्रहण-शक्ति मन्द पड़ जाती है। ग़रीबी के कारण इन बच्चों को प्रायः घर पर अनेक प्रकार के काम करना पड़ते हैं, जैसे तरकारी लाना, पिता को व्यवसाय में मदद देना अथवा बच्चों कीदेख रेख करना जिससे माता गृहस्थी के काम कर सके। इन कामों में कभी-कभी बालकों का बहुत अधिक समय लग जाता है; घर पर पढ़ने का अवसर तो मिलता ही नहीं, सोने को भी पर्याप्त समय नहीं मिलता। परिणाम यह होता है कि स्कूल में भी वे अन्य सहपाठियों के समान काम नहीं कर पाते। स्वभावतः वे दरजे में पिछड़े रहते हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के विद्यार्थियों के लिये स्कूल में उचित विश्राम का भी कभी-कभी प्रबन्ध किया जाता है। इतना होने से ही उनकी कम-जोरी क्रमशः दूर हो जाती है। उन्हें पढ़ाने के लिये कोई विशेष व्यवस्था नहीं करनी पड़ती। बर्ट ने एक बार दरिद्र परिवारों से आने-वाली सब लड़कियों को दो भागों में विभक्त करके एक भाग के लिये

स्कूल में दोपहर के समय सोने का प्रबन्ध किया तथा दूसरे भाग को अतिरिक्त शिक्षा दिलाने का। कुछ दिनों के पश्चात् परिणाम देखने पर मालूम हुआ कि यद्यपि उन्नति दोनों समूहों में हुई था परन्तु अधिक उन्नति उसी समूह में हुई जिसके लिये पढ़ाने का नहीं, सोने का प्रबन्ध किया गया था।

गरीबी के अलावा बच्चों में कुछ इन्द्रिय-दोष (sense defect) अथवा अन्य कोई शारीरिक रोग भी हो सकता है जिसके कारण उन में कमजोरी आ गई हो। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि ऊँचा सुनने तथा कम देखने के कारण अनेक बालक स्कूल में पढ़ाये गये विषय को उचित रूप से समझ ही नहीं पाते। उनकी चिकित्सा की उचित व्यवस्था तथा पढ़ाते समय बैठने का ठीक प्रबन्ध कर देने से अकसर काफी लाभ हो जाता है।

असली कठिनाई तो उन विद्यार्थियों के सम्बन्ध में आती है जिनकी बुद्धि ही मन्द है। बुद्धि, हम देख चुके हैं, एक जन्म-जात शक्ति है जिस में कोई परिवर्तन मानव-प्रयास के द्वारा नहीं किया जा सकता। हम विद्या दे सकते हैं, बुद्धि नहीं। और यदि बौद्धिक अभाव इतना अधिक है कि शिक्षा ग्रहण करने में भी मुश्किल पड़ रही है तो हमें विचार करना होगा कि जो शिक्षा हम देना चाहते हैं वह कहीं बालक की ग्रहण-शक्ति के बाहर तो नहीं है। साधारण बालकों के लिये जो विषय उपयुक्त है, ज्ञानार्जन में साधारण बालकों की जो प्रगति है, वही इन मन्द-बुद्धि बालकों के लिये उपयुक्त अथवा सम्भव नहीं हो सकती। हमें उनके लिये विशिष्ट प्रबन्ध करना पड़ेगा। पिछड़े हुये किन्तु साधारण लड़कों का जो प्रबन्ध ठीक होगा, वही इनके लिये ठीक नहीं होगा। इनके लिये स्थूल एवं क्रियात्मक विषयों के पढ़ाने की व्यवस्था करनी पड़ेगी क्योंकि सूक्ष्म को ये समझ ही नहीं सकते। और यद्यपि बौदिक कार्यों मं ये साधारण बालकों से बहुत पीछे

होते हैं किन्तु क्रियात्मक कार्यों में उनकी क्षमता साधारण बालकों के प्रायः समान ही होती है। इनके पाठ्यक्रम में वे विषय हमें निकाल देने होंगे जिन्हें पर्याप्त प्रयास करने से वे कदाचित् सीख तो लें किन्तु अपने सामान्य व्यावहारिक जीवन में जिनका उपयोग वे कभी न कर सकेंगे। भाषा-पाठन में साहित्यिक नहीं, व्यावहारिक दृष्टिकोण रखना होगा। नित्य जीवन में उपयोग होने वाले गणित के नियम ही उनको पढाने होंगे। तर्कशक्ति के विकास में सहायक सिद्ध होने वाले किन्तु क्रियात्मक जीवन में एकान्त अनुपयोगी विषय उनके पाठ्यक्रम से निकाल देने होंगे। दशमलव की जटिलता अथवा बीज-गणित की दुरूहता यदि उन्हें परेशान न करने पाये तो शायद कोई हानि उनकी अथवा समाज की न होगी। सांस्कृतिक विषयों में यद्यपि तर्क-प्रचुर अथवा प्रतिभा-ग्राह्य विषयों का ग्रहण वे नहीं कर सकते तो भी गान, वादन, नृत्य आदि की शिक्षा देकर उनके मानसिक स्तर को बहुत कुछ ऊँचा किया जा सकता है। यद्यपि निबन्ध लिख कर वे आत्म-प्रकाशन नहीं कर सकते परन्तु अभिनय कराके, सामान्य विषयों पर वाद-विवाद कराके, उनके विकास में काफ़ी सहायता दी जा सकती है। हस्त कौशल, ड्राइंग, पेंटिंग तथा अन्य व्यावसायिक उपयोगी शिक्षा उन्हें दी जा सकती है। उनकी प्रधान कमजोरी तर्कशक्ति का अभाव होता है। अतएव जिन विषयों में सूक्ष्म विचार की विशेष आवश्यकता पड़ती है उनको इन बालकों के पाठ्यक्रम से निकाल कर शारीरिक कार्यों पर जोर देना चाहिये। उनको पढ़ाते समय शिक्षण-विधि को भी इसी दृष्टि से बदल देना होगा। चित्रों, स्थूल औजारों, क्रियात्मक कार्यों आदि का अधिक प्रयोग उसी प्रकार करना चाहिये जिस प्रकार हम छोटी उम्र के बालकों के लिये करते हैं, मनोविकास की दृष्टि से ये उन्हीं के समकक्ष हैं, भले ही इनका शरीर अधिक विकसित हो गया हो। जन्मजात मन्द-बुद्धि बालकों को अधिक पढ़ाने की, विशेष श्रम

करके साधारण विद्यार्थियों के बराबर ले आने की, कोशिश केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिप्रद ही होगी। पात्र की धारण शक्ति से ही उनमें रखी जाने वाली वस्तु का परिमाण निश्चित किया जाता है। सिरिल बर्ट के शब्दों में—"मन्द-बुद्ध बालकों के मस्तिष्क में ज्ञान अथवा कुशलता की पूरी मात्रा भर देने का प्रयास करना उतना ही मूर्खतापूर्ण होगा जितना आठ औंस की बोतल में बारह औंस दवा भरने की कोशिश।"

ऊपर जिन बातों को ध्यान में रखकर कमजोर बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करने का सुझाव दिया गया है उससे एक और समस्या उठ पड़ती है यदि इन विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये अलग से स्कूल न खोले जाँय, जिसका कोई प्रबन्ध कम से कम अब तक हमारे यहाँ नहीं है, तो उनकी कमी दूर करने की साधारण स्कूलों में क्या व्यवस्था की जाय ?

कभी-कभी इस प्रकार के बालकों के लिये अलग से एक दरजा खोल दिया जाता है और वहाँ विशेष प्रयत्न करके उनकी कमजोरी दूर की जाती है। इसमें एक खराबी तो यह है कि उस दरजे को सब लड़के मूर्खों का दरजा कहने लगते हैं जिससे ये लड़के अपमानित होते हैं एवं इनका उत्साह और भी मन्द पड़ जाता है। यदि उन्हें सब के साथ पढ़ाते हैं तो सब की गति मन्द हो जाती है, तथा यदि उन्हें उन्हीं की मानसिक आयु वाले बालकों की श्रेणी में भेज दिया जाता है तो शारीरिक विकास में उनसे श्रेष्ठ होने के कारण ये उन्हें मारना धमकाना शुरू कर देते हैं। कभी-कभी एक व्यवस्था और की जाती है जो काफ़ी सफल भी होती है तेज बच्चों को एक वर्ष में एक से अधिक श्रेणियों के उत्तीर्ण करने का अधिकार रहता है एवं पिछड़े हुये छात्रों को अपनी कमी पूरी कर लेने के बाद फिर पहले वाले दरजे से आने की अनुमति होती है। तेज बच्चा जब कमजोर होने लगता है तो उसे

नीचे की श्रेणी में भेज दिया जाता है। यदि स्कूल में ऐसा प्रबन्ध किया जा सके कि सभी दरजों में एक घंटे में एक ही विषय पढ़ाया जाय तो और भी उत्तम है। जो बच्चा जिस विषय में जिस श्रेणी की योग्यता का हो उसे विषय को वह उसी श्रेणी के साथ पढ़ सकता है। अमेरिका में तो इस प्रकार के 'श्रेणी रहित दरजे' (ungraded classes) काफ़ी सफल हुये हैं ?

तेज बालक (precocius children)—तेज बालक का भी विशेष प्रबन्ध होना आवश्यक है। जो पाठ साधारण बालकों के लिये एक घंटे के लिये काफी होता है वह उसके लिये कभी-कभी पाँच-सात मिनट के लिये भी पूरा नहीं होता। वह पढ़ना चाहता है, पढ़ने का प्रबन्ध नहीं होता। वह अपनी कक्षा के अन्य लड़कों से ऊँचे दरजे की बातें सोचता है जिन्हें अध्यापक अकसर दबा देता है। उसकी वास्तविक आयु अन्य साथियों से अकसर कम होती है। अतः शरीर में छोटा एवं बुद्धि में बड़ा यह तेज बालक अपने साथियों से किसी प्रकार का सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर पाता। वह प्रायः आलसी हो जाता है, नटखट हो जाता है, कभी-कभी छोटे-मोटे अपराध भी करने लगता है। उसका मानसिक विकास रुक जाता है। अतएव ऐसे विद्यार्थियों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध न होने से व्यक्ति तथा समाज दोनों की हानि होती है।

खोज करने से पता चलता है कि २ प्रतिशत विद्यार्थी इतनी उत्कृष्ट बुद्धि के होते हैं कि उनका बुद्धि-लब्धि १३० से ऊपर होता है कुछ, बिरले ही, ऐसे भी होते हैं जिनका बु० ल० १८० अथवा १९० तक जा पहुँचाता है। ये बालक इतने प्रखर-बुद्धि होते हैं कि स्कूल का साधारण पाठ्य-क्रम उनकी योग्यता की तुलना में प्रायः कुछ भी नहीं होता। साधारण बालकों के लिये जो काम एक घंटे के लिये काफी होता है उनमें उन्हें कुछ ही मिनट लगते हैं। शेष समय

उनका नष्ट ही होता है और उनकी क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता । फलत: वे आलसी, चंचल तथा शरारती हो जाते हैं । घर पर वे उच्चकोटि का साहित्य अध्ययन करने में, किसी जटिल समस्या के समाधान में, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रश्नों पर विचार करने में लगे रहते हैं । बहुत ही निम्न कोटि का काम करने-कराने में व्यस्त स्कूल को मूढ़-मण्डली एवं अध्यापक को उसका उपयोगी नायक समझना ही उनके लिए स्वाभाविक होता है ।

यदि शीघ्रतापूर्वक, एक वर्ष में दो-दो तीन-तीन श्रेणियों को पार करके, ये बालक अपनी ही सी मानसिक आयु रखने वाले बालकों के साथ पहुँच जाते हैं तो एक दूसरी समस्या उठ पड़ती है । उनके साथी शारीरिक विकास में उनसे बहुत आगे होते हैं । बुद्धि में समान होते हुये भी वे उन दीर्घकाय बालकों के साथ खेल कूद आदि में भाग नहीं ले पाते । अत; उनका नेतृत्व-शक्ति को विकसित होने का अवसर ही नहीं मिलता । अपनी ही आयु के बालकों में यह सम्भव हो सकता है । अतएव एक विषम समस्या उठ खड़ी होती है । शारीरिक, तथा कभी-कभी एवं कुछ दृष्टियों से रागात्मक, विकास में पीछे, किन्तु बुद्धि-विकास में समान एवं कभी-कभी श्रेष्ठ, ये प्रतिभाशाली बालक प्राय: अपने ज्येष्ठ, लम्बे–चौड़े किन्तु कम बुद्धि रखने वाले मित्रों के परिहास का विषय बन जाते हैं । अतएव उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध करना राष्ट्र एवं व्यक्ति दोनों की ही दृष्टि से एकान्त आवश्यक है, अवश्य अपेक्षित है ।

सबसे पहले इस बात की आवश्यकता है कि इन बालकों को खोज निकाला जाय । केवल अध्यापक अथवा अभिभावकों का मत पर्याप्त नहीं होता । अध्यापक तो कक्षा में सबसे अधिक अच्छा काम करनेवाले बालक को ही सबसे तेज या प्रतिभाशाली समझा करते हैं भले ही वह अवस्था में अधिक हो । उसकी दृष्टि से तो १२ वर्ष का बालक जिसकी मानसिक

आयु ११ वर्ष है उस दूसरे बालक से अधिक बुद्धिशाली गिना जाता है जिसकी वास्तविक आयु ८वर्ष है किन्तु मानसिक आयु १० वर्ष क्योंकि उसकी बुद्धि पहले वाले बालक की तुलना में कम दिखाई पड़ती है। अभिभावकों की सम्मति भी इसी प्रकार भ्रामक होती है। प्रायः देखने में आता है कि कुछ अभिभावकों को अपने बच्चे औसत या सामान्य ही प्रतीत हुआ करते हैं क्योंकि वे स्वयं प्रतिभाशाली व्यक्ति होते हैं और उनकी दृष्टि में उसी तरह की बुद्धि रखने वाला बालक साधारण ही होता है। अकसर वे यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि मनोवैज्ञानिक साधारण वही नहीं होता जिसे उन्होंने साधारण मान लिया है। अत: इन प्रतिभाशाली बालकों को खोज निकालने का वैज्ञानिक उद्योग होना चाहिये। आधुनिकतम वस्तु-प्रधान (objective) परीक्षणों का निर्माण हो जाने से उसका पता बहुत सरलता से लग सकता है।

इन बुद्धि-परीक्षणों का प्रयोग जब से हुआ है तबसे प्रतिभाशाली बालकों के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हो गया है। पहले समझा जाता था कि प्रतिभाशाली बालक प्राय: दुबले-पतले, ठिगने, रोगी, कदाचित् अल्पायु हुआ करते हैं। परीक्षणों से पता चलता है कि यहशुद्ध भ्रम है। सभी उत्कृष्ट गुणों में वे समान रूप से उत्कृष्ट होते हैं। जिनमें एक वांछनीय गुण होता है उनमें अन्य वांछनीय गुणों का पाया जाना ही अधिक सम्भव है। अच्छे तथा बुरे गुणों के भी गुट होते हैं और वे अकसर साथ-साथ पाये जाते हैं। एक यह भी ख्याल है कि बचपन में जो बालक बड़े प्रतिभाशाली होते हैं, वे आगे, चलकर प्राय: मन्द-बुद्धि हो जाते हैं जो गलत है। छोटे दरजों में अच्छे बुरे सभी प्रकार के बालक पढ़ा करते हैं। अत: जो बालक बहुत अधिक प्रतिभाशाली नहीं भी होते हैं वे भी अपने साधारण साथियो की तुलना में श्रेष्ठ दीखते है। जैसे-जैसे वे ऊपर की श्रेणियों में बढ़ते जाते हैं मन्द-बुद्धि एवं साधारण क्षमता के बालक छँटते जाते

हैं, केवल श्रेष्ठ बालक ही पढ़ना जारी रखते हैं, दूसरों के वह चलाये ही नहीं चलता। अतएव अब उनकी तुलना केवल श्रेष्ठ बालकों से होने लगती है और उनकी कल्पित श्रेष्ठता खोता हुई-सी प्रतीत होने लगती है। वास्तव में उनकी इस परिक्षीणता का कारण माप-दण्ड (measuring scale) में परिवर्तन है, उनके विकास का नियम नहीं।

इनकी शिक्षा का क्या प्रबन्ध किया जाय यह अभी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। प्रयोग हो रहे हैं, आगे चलकर उसके परिणामों को देखकर कुछ नवीन-सिद्धान्तों की उद्भावना, सम्भव है, हो। तब तक हमें यथा-सम्भव अपनी बुद्धि एवं मनो-विज्ञान के वर्तमान ज्ञान को परिस्थिति के अनुसार प्रयोग करके ही काम चलाना होगा। शीघ्रता पूर्वक तेज बच्चों को उच्च श्रेणियों में भेजने से ठीक नहीं रहता यह हम देख ही चुके हैं। निम्न श्रेणी में पड़े रहकर भी वे गड़बड़ी मचावेंगे एवं अपने विकास के उपयुक्त कार्य करने का अवसर भी उन्हें नहीं मिल सकेगा। कभी-कभी एक नया प्रबन्ध ऐसे लोगों के लिये किया जाता है। कक्षा के साथ काम करके, उसको पूरा कर लेने के बाद, उसी विषय का उच्च ज्ञान प्राप्त करने को उन्हें दे दिया जाता है। इतिहास में जब अन्य बालक पाठ्य-पुस्तक में दिये शिवाजी के चरित्र को ही पढ़ने में लगे रहेंगे तो प्रतिभाशाली बालक किसी उपन्यास, नाटक अथवा जीवन-चरित्र पढ़ने को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इससे उनकी जिज्ञासा एवं ज्ञान-पिपासा भी शान्त हो जाती है, समय भी व्यर्थ नष्ट नहीं होता, तथा अध्यापक प्रबन्ध सम्बन्धी झंझट से भी बच जाता है।

एक और प्रबन्ध यह भी होना चाहिये कि इन बालकों की विशिष्ट रुचियों का पता लगाया जाय, उनकी ग्रहण-शक्ति का ठीक ठीक माप लिया जाय; और तब उस रुचि के विषय को योग्यतानुसार अधिक गम्भीर अध्ययन करने को वे प्रोत्साहित किये जाँय। काव्य, संगीत, चित्रकारी आदि जिस विषय से भी उन्हें विशेष अनुराग हो उसमें

उच्च स्तर का काम करने से उनका विकास भी नहीं रुकेगा, उत्साह-वर्द्धन भी होगा और अधिक आयु के बालकों के साथ रहने से जो अव्यवस्था एवं अवांछनीय परिस्थिति प्राय: उत्पन्न हो जाती है वह भी नहीं उत्पन्न होगी।

अपराधी बालक—प्रत्येक स्कूल में कुछ ऐसे बालक भी होते हैं जिनका काम सदा अपराध करते रहना ही होता है। चोरी, बदमाशी दुराचरण, मार पीट एवं अनेक प्रकार से स्कूल की सम्पति का विनाश एवं व्यवस्था का उत्तोलन करना ही जैसे उनका प्रकृति निर्दिष्ट कर्तव्य हो। बहुत समय तक यही समझा जाता रहा है कि इस प्रकार का दुष्ट बालक निसर्गत: ही दुष्ट होता है, उसके सम्पर्क से अन्य बालकों को बचाना ही हमारा कर्तव्य होना चाहिए। उसके अपराध के लिये उसे दण्डित करना ही अधिकतर उपयुक्त समझा जाता रहा है। कभी भी शान्त चित्त से हमने यह विचार करने का कष्ट नहीं उठाया कि हो सकता है उसके इस अवांछनीय विकास में, उसके अपराधी होने में हमारा भी तो कुछ हाथ नहीं है। मनोविज्ञान प्रसार के इस युग में कभी-कभी यह विचार भी किया जाने लगा है कि हो सकता है कि बालक का अपराध सामाजिक व्यवस्था का, वातावरण एवं परिस्थितियों का, परिणाम हो और उनको सुधार देने से बालक को भी सुधारा जा सके। आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों के प्रयोग एवं मनोवैज्ञानिकों के अनुसन्धान यही निर्देश करते प्रतीत होते हैं कि अपराधी, अधिकांशत:, बनाये जाते हैं, पैदा नहीं होते। अत: उनको सुधारने का काम इतना असाध्य नहीं है जितना भ्रान्तिवश समझा जाता रहा है। हमें अपराधी बालकों (young delinquents) के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को बदल देना होगा। बच्चों के अपराधों के सम्बन्ध में जब अध्यापकों को कुछ खोज बीन करना पड़े तो उन्हें इस बात का पता लगाना चाहिये कि बालक ने अमुक अपराध क्यों किया है। उसे,

खुफ़िया पुलिस की तरह, अपराधी का पता नहीं चलाना पड़ता—अपराधी का तो प्राय: पहले से ही पता रहता है—वरन् उसे अपराध किये जाने के कारणों का पता लगाना पड़ता है। और अनेक अपराधी बालकों का पता लगाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस आचरण को स्कूल अथवा समाज अपराध मानता है वह प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से उतना ही स्वाभाविक है जितना तेज रोशनी में आँखों का बन्द हो जाना अथवा छींक का आना ? बालक की मूल-प्रवृतियाँ तथा वातावरण मिलकर उसे अपराध करने को विवश कर देते हैं। बालक की प्रकृति—जिस पर उसका कोई वश नहीं—तथा उसका वातावरण—जिसमें परिवर्तन करने की इच्छा रखकर भी वह कुछ कर नहीं पाता—जब मिल जाते हैं तो अपराध होना अनिवार्य सा हो जाता है। अतएव हमें अपराधी पर दया करना चाहिये, क्रोध नहीं। उसकी शिक्षा का, उसे ठीक रास्ते पर लाने का, प्रबन्ध होना चाहिये, दण्ड देने की व्यवस्था नहीं।

अपराध के कारण—बालकों के अपराधों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करने से पता चलता है कि अपराध की ओर अग्रसर करने में प्राय: अनेक बातों का प्रभाव रहता है। जिस प्रकार शारीरिक रोग का कोई एक कारण निश्चित रूप से बताया जा सकता है उसी प्रकार अपराधी मनोवृति रूपी रोग का कोई एक ही कारण नहीं बताया जा सकता। अनेक मानसिक प्रेरणायें बालक को अपराध-केन्द्र की ओर आकृष्ट कर लाती हैं। अतएव यदि हमें अपराधी-मनोवृत्ति का सुधार करना है तो उन सभी कारणों को दूर करने का उद्योग करना होगा।

अपराधी-मनोवृत्ति के सम्पूर्ण कारणों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—जन्मजात वृत्ति एवं वातावरण के प्रभाव से अर्जित वृत्ति। सुविधा के लिये हम दोनों प्रकार के कारण तथा उनके सुधार के उपायों की प्रथक प्रथक मीमांसा करेंगे।

जन्मजात संस्कार—अपराधियों के जीवन-वृत्तों को विवेचन करने से पता चलता है कि उनमें से अधिकांश हीन-बुद्धि होते हैं और उनके वंश के अन्य व्यक्ति भी अधिक संख्या में अपराधी होते हैं। अतएव कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि अपराधी मनोवृत्ति लेकर ही लोग जन्म लेते हैं। बुद्धि की कमी तथा रक्त के संस्कारों को दूर करने की कोशिश व्यर्थ है, उसका कोई प्रभाव नहीं होगा। कुछ भी क्यों न किया जाय अपराधी को अपराध करने से नहीं रोका जा सकता। जिस प्रकार आग जलाती है, बर्फ ठंडक देती है, उसी प्रकार अपराधी मनोवृत्ति अपराध करेगी ही। दूसरे लोगों का विचार है कि अपराध विरासत में नहीं मिलता। अपराधी पैदा नहीं होते, बनाये जाते हैं। शैशव काल में ही अपराधी-वातावरण से प्रभावित होते रह कर बालक अपराधी बन जाता है। यदि अपराधी मनोवृत्ति से हम छुटकारा पाना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि शराब-घर और ताड़ी-खाने बन्द कर दें, मजदूरों की अस्वास्थ्यकर गन्दी बस्तियाँ ढहा दें, उनके स्थान में साफ़ मकानों का निर्माण करवावें एवं श्रमजीवियों के वेतन में आवश्यक वृद्धि कर दें। ऐसा होने से शीघ्र ही अपराध अथवा अपराधी गूलर का फूल हो जायँगे।

दोनों मत, मनोविज्ञान की दृष्टि से, उग्र प्रतीत होते हैं। अपराधी मनोवृत्ति न केवल जन्मजात संस्कार ही है और न केवल वातावरण का परिणाम ही। पहले बताया जा चुका है कि अपराधी वृत्ति अनेक कारणों से उत्पन्न होती है, कोई एक ही कारण उसके लिये ढूँढ़ कर नहीं निकाला जा सकता। हमें दोनों कारणों को अंशतः दायी मानना होगा। सिरिल बर्ट ने लंदन के कुछ अपराधी बालकों का पता लगाया था। उससे स्पष्ट ही यह प्रकट होता है कि कुछ अपराधी बालकों में अपराध वृत्ति वंशानुक्रम से ही आई थी यद्यपि ऐसे बालकों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी। हीन बुद्धि भी अपराध की प्रेरणा देती है। बहुत बड़ी संख्या

अपराधियों में हीनबुद्धि व्यक्तियों की होती है। जैसा बर्ट साहब का कथन है इस जटिल जीवन में ईमानदार बनकर रहने के लिये बुद्धि की एक उचित मात्रा अपेक्षित है, उसके बिना प्रलोभनों में पड़ जाना सम्भव ही नहीं, अनिवार्य भी है। किन्तु इन जन्मजात, अपराध-प्रेरक गुणों को हम उतना अधिक महत्त्व नहीं दे सकते जितना कुछ लोग दिया करते हैं। चरित्र में संस्कार करना उसी प्रकार असम्भव नहीं है जिस तरह हीनबुद्धि बालक की मानसिक दुर्बलता को दूर करना। फिर भी अपराध-वृत्ति को जाग्रत करने में जन्यजात संस्कारों का प्रभाव पड़ता है इससे इनकार नहीं किया जा सकता। अपराधी बनने में जो अनेक कारण सहायक होते हैं उनमें जन्मजात संस्कारों को भी गिनना चाहिये। और यद्यपि जन्मजात संस्कारों का उन्मूलन आसान नहीं है फिर भी यदि जल्दी ही प्रयास आरम्भ कर दिया जाय तो शिक्षा एवं अभ्यास के द्वारा बहुत लाभ उठाया जा सकता है।

वातावरण का प्रभाव—बालकों को अपराधी बनाने में सब से बड़ा प्रभाव वातावरण का पड़ता है। माता-पिता की दरिद्रता एवं तज्जन्य अभाव बालक को चोरी करने को प्राय: प्रेरित करता है। खेल-तमाशा न देख सकना, मन माना खिलौना न खरीद सकना, इच्छा होने पर अथवा अन्य साथियों को खाते देख कर मिठाई इत्यादि खरीदने में अपने को असमर्थ पाना आदि सब बातें मिल कर बालक को अपराधी बना देती हैं। इसके अतिरिक्त गरीबी का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी कम नहीं पड़ता। अभाव के कारण निरन्तर की चिन्ता एवं पारिवारिक कलह, थोड़ी जगह में बहुत से लोगों का सकीर्ण निवास, संकुचित एवं सीमित जीवन, ये सब बातें मिल कर बालक में अपराध की मनोवृत्ति का सृजन एवं प्रोत्साहन करती हैं। दुराचारी माता-पिता की सन्तति माता-पिता के अपराधी जीवन का अनुकरण करने लगती है। अकसर यह भी देखने में आया है कि जिन बालकों पर उचित नियंत्रण

अथवा अनुशासन घर में नहीं रखा जाता वे धीरे-धीरे अनेक प्रकार के अपराध करने लगते हैं। यदि उपर्युक्त कारणों से अपराध आरम्भ हुआ है तो उसको दूर करने के लिये हमें उसके कारण को ही मिटाना होगा। चोरी की दुर्वृत्ति दूर करने के लिये दण्ड के स्थान में हमें कुछ नियमित पैसे देने की व्यवस्था करनी होगी। घर के अवांछनीय वातावरण का सुधार यदि असम्भव प्रतीत हो तो बच्चे को वहाँ से हटा कर कहीं अन्यत्र उसके रहने का प्रबन्ध करना चहिए।

देखा गया है कि अपराध अधिकतर खाली अथवा मनोरंजन के समय ही अधिक किये जाते हैं। अतएव अपराध-वृत्ति को जन्म देने में सब से बड़ा प्रभाव खेल के साथियों का पड़ता है। दुष्ट एवं दुराचारी अपराधी बालक सुकुमार-मति साथियों को अपराध करने के लिये सीधे सीधे प्रोत्साहित कर सकते हैं अथवा अपने हीन नैतिक आदर्शों के विषपूर्ण प्रभाव से उनके विचारों तथा आचरण को धीरे-धीरे दूषित कर सकते हैं और इस प्रकार चोर, जुआरी, शराबी, व्यभिचारी आदि बना कर अपने दल की संख्या में वृद्धि करते हैं एवं बालकों को अध:पतन की ओर घसीट ले जाते हैं। अकसर इस वातावरण का सुधार असम्भव होगा। अत: जिस बालक को हमें सुधारना है उसको ही किसी दूसरे, अधिक वांछनीय, स्थान में रखने का प्रवन्ध करना होगा। किन्तु निषेधात्मक उपचार अकेला ही पर्याप्त नहीं होगा। हमें इस बात का पता लगाना होगा कि किन वांछनीय क्रियाओं में बालक की रुचि उत्पन्न की जा सकती है। और तब उन स्वस्थ क्रियाओं को आदत डालने में बालक की सहायता करनी होगी। हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि दुष्ट रुचियों का होना ही दुराचरण का कारण नहीं है, श्रेष्ठ रुचियों का अभाव भी अपराधजनक होता है। अत: जहाँ तक बने हमें एक को भुलाना तथा दूसरे की बान डालना चहिये।

कुछ ऐसे बालक भी अपराधी बन जाते हैं जो जन्मत: प्रखर-बुद्धि होते हैं। अपनी इच्छाओं की पूर्ति न कर पाने पर वे अपनी बुद्धि का प्रयोग करके किसी न किसी तरह तृप्ति का साधन जुटाते हैं। अपराध उनकी अतृप्त इच्छाओं को पूरा करने का एक उपाय भर होता है।

अगर इन अपराधियों को ठीक तरह से न सँभाला गया, अगर कठोरता का व्यवहार करके उनका केवल दमन किया गया, तो वे बड़े ही भयंकर अपराधी बन जा सकते हैं। उनका सबसे श्रेष्ठ उपचार यही है कि आरम्भ में ही वे पहचान लिये जायँ। अपनी प्रतिभा के द्वारा वे अपराध करने के नये-नये ढंग निकालते हैं और उनको छिपा भी देते हैं। उनके अपराध का प्राय: पता नहीं चलने पाता। अतएव यह नितान्त आवश्यक है कि अपराध करने की आदत पड़ जाने से पहले ही उनको खोज निकाला जाय। उनको पर्याप्त स्वतत्रता देनी चाहिये; अपराध करने के लिए नहीं, प्रत्युत यह अनुभव करने के लिये कि अन्ततोगत्वा ईमानदारी की नीति ही सर्वश्रेष्ठ नीति होती है।

पहले बताया जा चुका है कि भावना-ग्रन्थियाँ अनेक प्रकार के अपराध करने की प्रेरणा देती हैं। प्रतिरुद्ध व्यक्ति बिना किसी चेतन उद्देश्य के ही प्राय: अवांछनीय आचरण किया करता है। उसका सुधार करने के लिए यह बहुत जरूरी है कि उसकी ग्रन्थियों का रेचन करके, वांछनीय स्थायी-भावों का सृजन करने के लिये उसे प्रोत्साहित किया जाय।

सारांश—साधारण बालकों के अतिरिक्त कुछ असाधारण बालक भी प्रत्येक स्कूल में पाये जाते हैं। ये असाधारण बालक तीन प्रकार के हो सकते हैं—पढ़ने में कमजोर, पढ़ने में तेज, तथा अपराधी। इनका विशेष प्रबन्ध यदि नहीं किया जाता तो स्कूल के शिक्षण-कार्य तथा प्रबन्ध में बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

साधारण विद्यार्थियों के उद्देश्य से पढ़ाया हुआ पाठ कमजोर

बालकों की समझ में नहीं आता। उनकी कमजोरी को, यथार्थ कारण जानकर, दूर कर देना चाहिये। बौद्धिक कमजोरी को दूर नहीं किया जा सकता। अत: पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तन करके हमें उनके लिये उपयुक्त विषयों को चुन लेना चाहिये। उनकी शिक्षा स्थूल, व्यावहारिक, एवं क्रियात्मक होनी चाहिये। उनको या तो उनकी ही मानसिक आयु के बालकों के साथ पढ़ाया जा सकता है और या उनके लिये एक पृथक् श्रेणी बनाने का प्रबन्ध किया जा सकता है। श्रेणी-रहित स्कूलों की व्यवस्था करके भी अनेक प्रकार के कमजोर बालकों को बहुत लाभ पहुँचाया जा सकता है।

तेज विद्यार्थियों को योग्यतानुसार जल्दी-जल्दी श्रेणी करने का अधिकार होना चाहिए। दरजे का काम समाप्त करते ही उन्हें उसी विषय पर उच्चकोटि का काम करने को प्रोत्साहित किया जा सकता है। उनकी विशिष्ट रुचियों तथा योग्यता का पता लगाकर उन में अधिक काम करने का उत्साह उत्पन्न करना चाहिये, और यदि हो सके तो उनकी शिक्षा का विशिष्ट प्रबन्ध करना चाहिये।

अपराधी बालक, स्कूल के लिये, एक समस्या होता है। उसका सुधार करना सभी दृष्टियों से आवश्यक है। अपराधी मनोवृत्ति के प्रेरक कारणों का पता लगाकर उन्हें दूर करने का उद्योग होना चाहिये। अपराधी वृत्ति के दो प्रकार के कारण हो सकते हैं, जन्मजात तथा अर्जित। वंशानुक्रम एवं बुद्धि की कमी जन्मजात संस्कार हैं। इनके द्वारा उत्पन्न अपराध का सुधार कष्ट-साध्य होता है। अर्जित अपराधी वृत्ति का कारण वातावरण का प्रभाव होता है। ग़रीबी, दुष्ट पारिवारिक जीवन का अनुकरण, साथियों का अवांछनीय प्रभाव आदि सभी अपराधी बनने में सहायक होते हैं। स्थानान्तरण, उपयुक्त वांछनीय स्थायीभावों की सृष्टि एवं सहानुभूति-पूर्ण आचरण के द्वारा उनके सुधारने का सफल उद्योग करना चाहिये।

प्रश्न

(१) कमजोर, मन्द-बुद्धि तथा साधारण बालकों से आप क्या समझते हैं ? किसी बालक को मन्द-बुद्धि घोषित करने से पहले किन-किन बातों का पता लगाना आवश्यक है ?

(२) मन्द-बुद्धि तथा साधारण बालकों में क्या भेद होता है ? मन्दबुद्धि बालकों की शिक्षा में किन-किन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए ?

(३) तेज विद्यार्थी किसे कहते हैं ? उसकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध न होने से क्या हानि हो सकती है ? उसकी शिक्षा की क्या व्यवस्था होनी चाहिए ?

(४) अपराधी बालकों को अपराधी बनाने में किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है ? उनके उपचार की क्या व्यवस्था आप ठीक समझते हैं ?

शिक्षा-संक्रमण

(Transfer of Training)

शिक्षा का सांस्कृतिक महत्त्व—हम जो कुछ सीखते हैं उसका उपयोग भावी आचरण को अधिक सफल बनाने में करते हैं। जिस मात्रा में एक परिस्थिति में प्राप्त किया हुआ ज्ञान दूसरी परिस्थिति में प्रयोग किया जा सकता है उसी मात्रा में वह ज्ञान अच्छा अथवा लाभ-प्रद समझा जाता है। सच तो यह है कि ऐसा अवसर कदाचित् ही हमारे जीवन में आता है कि जिस परिस्थिति में हमें शिक्षा मिली हो ठीक उसी परिस्थिति में, बिल्कुल समान परिस्थिति में, उसका उपयोग हमें करना पड़े। हम स्कूल में गणित पढ़ाते अथवा पढ़ते हैं और पंसारी की दूकान अथवा राशनिंग-दफ्तर में अन्न का विभाजन करते समय उसका उपयोग करते हैं। अतएव पता चलता है कि किसी न किसी रूप में शिक्षा संक्रमित (transfer) हुआ करती है। हमारा दैनिक अनुभव भी शिक्षा-संक्रमण (transfer of training) की ओर संकेत करता मालूम पड़ता है। "जिस पुरुष ने एक मोटरकार को चलाना सीख लिया है वह उसी प्रकार की दूसरी गाड़ी प्राय: बिना नूतन अभ्यास किये चला सकता है; जो अंग्रेजी की टाइप मशीन पर अच्छी तरह काम करना सीखे हुए है वह हिंदी टाइप करना उन लोगों की अपेक्षा जो बिलकुल टाइप करना नहीं जानते जल्दी सीख लेता है। किसी अभ्यास अथवा शिक्षा में यह संस्कृति-दान की जो क्षमता होती है, कुछ शिक्षा-विशारदों की राय में, वही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। जिस विशेष परिस्थिति का उपयोग, जिस विषय-विशेष का अध्ययन, हम शिक्षा प्राप्त करने में करते हैं, उसका इतना ही महत्त्व है कि वह

हमें 'सस्कृति' दे, इस संस्कृति के अतिरिक्त वह और भी किसी उपयोग में आ सकता है कि नहीं, उसकी अपनी स्वतंत्र उपयोगिता कुछ है कि नहीं, इसका ध्यान रखने की हमें कोई आवश्यकता नहीं। अंगरेज पण्डित 'लाक' अपने शिक्षा-विषयक 'विचारों' (Thoughts) में इसी उद्देश्य की ओर संकेत करते हुये कहता है—"हम बालकों को गणित इस उद्देश्य से नहीं पढ़ाते कि वे महान् गणितज्ञ बन जायँ प्रत्युत इस उद्देश्य से पढ़ाते हैं कि वे विवेकशील प्राणी बनें एवं तर्कानुमादित विचार करने का जो अनिवार्य अभ्यास उन्हें गणित पढ़ने में हो वे उसे अन्य क्षेत्रों में भी संक्रमित अथवा स्थानान्तरित करने की क्षमता प्राप्त करें।" कुछ इसी दृष्टिकोण को लेकर प्लैटो ने, सुनते हैं, अपने विद्यालय के द्वार-देश पर बहुत स्पष्ट अक्षरों में लिखवा रखा था कि जिसे गणित का ज्ञान नहीं है वह वहाँ पर आने का कष्ट न उठावे। वह समझता था कि गणित के अध्ययन में जो सूक्ष्म विचार करने का अभ्यास हो जाता है वह सूक्ष्म विचार करने की प्रत्येक परिस्थिति में संक्रमित हो जाता है; अतः गणित का पंडित दार्शनिक विचारों को सरलता पूर्वक ग्रहण कर सकता है। यहाँ पर हम आज इस बात का संक्षिप्त विवेचन करेंगे कि इस संक्रमण का स्वरूप क्या होता है, वह किस परिस्थिति में होता है एवं उनकी मात्रा क्या होती है।

इस सिद्धान्त का उद्भव—कुछ समय पहले तक मनोवैज्ञानिकों का एक सम्प्रदाय था, जिसका कथन था कि अवधान, स्मृति, कल्पना तर्क, इच्छा आदि अनेक स्वतंत्र शक्तियों का समुच्चय मात्र मन है। प्रत्येक शक्ति प्रायः अन्य शक्तियों से अप्रभावित स्वतंत्र रूप से ही अपना काम करती है। दूसरी शक्तियाँ अथवा परिस्थिति उसके कार्य में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं किया करता। इस दृष्टि से यह कहीं जा सकता है कि जिस व्यक्ति की स्मृति तेज है वह अपनी उस स्मृति

का उपयोग जिस तरह कालिदास की कविता को याद करने में कर सकता है, उसी प्रकार विज्ञान के सिद्धान्त अथवा इतिहास की तिथियों को कंठाग्र करने में कर सकता है। इसी सिद्धान्त को मान कर इन पंडितों ने कुछ विषयों की सार्वभौमिक उपयोगिता घोषित कर दी और उनकी शिक्षा अनिवार्य करके विशिष्ट शक्तियों का विकास करने में लग गये। सोचा गया कि गणित तर्कशक्ति को, साहित्य कल्पना को, एवं प्राचीन भाषायें (लेटिन, ग्रीक) स्मृति को प्रखर करती हैं। अतएव इन्हीं विषयों को यदि पढ़ा दिया जाय तो मनुष्य की स्मृति, कल्पना एवं तर्कशक्ति बढ़कर पुष्ट हो जायँगी और फिर उनका उपयोग वह सर्वत्र समान रूप से कर सकेगा। आज यद्यपि इस प्रमाद पूर्ण मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का अन्त हो चुका है परन्तु उस पर आधारित शिक्षा-संक्रमण के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले अब भी बहुत से लोग हैं। हाँ, शिक्षा-संक्रमण सम्बन्धी जो परीक्षण हुये हैं उनके परिणाम-स्वरूप इस सिद्धान्त का स्वरूप बहुत बदल गया है।

शिक्षा-संक्रमण पर परीक्षण—इस सम्बन्ध में सर्व-प्रथम परीक्षण जेम्स ने किया। उसने यह जानने का प्रयास किया कि क्या याद करने का अभ्यास स्मृति-शक्ति को उन्नत कर सकता है। उसने स्वयं फ्रेंच कवि विक्टर ह्यूगो रचित एक काव्य की १५८ पंक्तियाँ याद की और उसमें जितना समय लगा उसको लिख लिया। इसके बाद उसने मिल्टन के सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'पैराडाइज़ लास्ट' को एक महीने तक निरन्तर याद करने का अभ्यास किया। इसके अनन्तर उसने पुनः ह्यूगो के काव्य की अन्य १५८ पंक्तियाँ कंठस्थ कीं। इस बार जेम्स को पहले की अपेक्षा कुछ अधिक समय लगा। जेम्स के चार छात्र भी यही प्रयोग कर रहे थे। उनमें से तीन को तो कम समय लगा किन्तु एक विद्यार्थी को अभ्यास से कोई लाभ नहीं हुआ। इस परीक्षण से जेम्स ने यह परिणाम निकाला कि अभ्यास से किसी प्रकार की उन्नति नहीं हुई

परन्तु जेम्स का यह परीक्षण निर्दोष नहीं था। हमें नहीं मालूम कि पहली १५८ पंक्तियाँ दूसरी १५८ पंक्तियों के समान ही कठिन अथवा सरल थीं या नहीं; हमें नहीं मालूम कि दोनों बार जेम्स का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य एक ही सा था अथवा उसमें कुछ अंतर आ गया था। अतः अन्य परीक्षण पूर्णतया वैज्ञानिक विधि से किये गये और इस प्रकार जेम्स के परीक्षण को अप्रामाणिक बनाने वाली परिस्थितियों का उनमें निराकरण कर दिया गया। "अब जो परीक्षण किये जाते हैं वे अधिक व्यक्तियों पर किये जाते हैं जिससे व्यक्तिगत विलक्षणता अथवा विशेषता का प्रभाव परिणाम को अप्रामाणिक न करे। अभ्यास-जात प्रभाव को पृथक् रखने के लिये दो टोलियाँ प्रत्येक परीक्षण में रखी जाती हैं जो समान बुद्धि-शक्ति रखनेवाली होती हैं। उन दो टोलियों में से एक को अभ्यास-टोली (practice group) और दूसरी को नियंत्रण-टोली (control group) कहते हैं। अभ्यास-टोली को अभ्यास कराया जाता है, नियंत्रण-टोली को कोई अभ्यास नहीं कराया जाता। इससे परीक्षण का स्वरूप बहुत कुछ निम्न प्रकार का हो जाता है।

अभ्यास-टोली

(१) पहले 'क' नामक क्रिया में परीक्षा ली जाती है।

(२) अनन्तर 'ख' क्रिया में अभ्यास कराया जाता है।

(३) अन्त में 'क' क्रिया में पुनः परीक्षा ली जाती है।

नियंत्रण-टोली

(१) 'क' नामक क्रिया में परीक्षा ली जाती है।

(२) अनन्तर किसी प्रकार का अभ्यास नहीं कराया जाता।

(३) अन्त में 'क' क्रिया में पुनः परीक्षा ली जाती है।

संक्रमण का परिणाम—'ख' क्रिया में किये गये अभ्यास में 'क' क्रिया पर होने वाले प्रभाव को अभ्यास-टोली की उन्नति—(३)

ऋण (१)—से नियंत्रण-टोली की उन्नति को घटाकर आँका जाता है। (बोरिंग—फ़ाउण्डेशन्स आफ़ साइकालोजी)

इन नूतन परीक्षणों के फल-स्वरूप शिक्षा संक्रमण के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत बढ़ गया है। किस परिस्थिति में संक्रमण होता है, संक्रमण का क्या स्वरूप होता है, क्या परिमाण होता है, आदि अनेक बातों का पता चला है। संक्रमण के कई प्रकार होते हैं जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दे देना उचित होगा।

अनुकूल संक्रमण—जब किसी एक क्रिया को करने का अभ्यास किया जाता है तब उसी प्रकार की अन्य क्रियाओं के करने में स्पष्ट लाभ होता दिखाई पड़ता है। शब्दों की तालिका, कविता, टाइप आदि का अभ्यास करने से उसी प्रकार की दूसरी क्रिया अधिक सुविधा एवं सरलता के साथ की जा सकती है। दूसरी शब्द-तालिका, दूसरी कविता, एवं अन्य भाषा में टाइप करना अभ्यास के परिणाम स्वरूप आसान हो जाता है। इस प्रकार के संक्रमण को अनुकूल संक्रमण (positive transfer) कहा जाता है।

स्लेट का स्मृति सम्बन्धी एक परीक्षण उदाहरण के लिये दिया जाता है। कुछ महिलाओं को चार समान टोलियों में विभक्त किया गया। प्रथम टोली नियंत्रण-टोली थी, जिसे कोई अभ्यास अथवा शिक्षा नहीं दी गई, दूसरी टोली को ३० मिनट प्रति दिन कविता याद करने का अभ्यास १२ दिन तक कराया गया; तीसरी टोली को अंकों की तालिकायें, जैसे, जन-संख्या तालिकायें, आयात-निर्यात तालिकायें, विदेशी सिक्कों की मान-निर्देशक तालिकायें, १२ दिन तक ३० मिनट प्रति दिन याद करने को दी गई; चौथी टोली १२ दिन तक ३० मिनट रोज वैज्ञानिक, ऐतिहासिक अथवा वर्णनात्मक गद्य के संकलन सुन-सुन कर याद करती रही। शिक्षा देने के ठीक पहले इन चारों टोलियों की योग्यता निम्नलिखित परीक्षणों से आँक ली गई थी—

१—सुन कर नामों तथा तिथियों को याद करना।
२—सुनकर निरर्थक शब्द-शृंखला को याद करना।
३—सुन-सुन कर पद्य-खण्डों की आवृत्ति करते हुये याद करना।
४—सुनकर गद्यखण्ड को अविकल याद करना।
५—सुनकर गद्य-संकलन का सारांश ग्रहण करना।
६—६ वर्णों की एक शृंखला याद करना जो उन्हें केवल एक बार ही पढ़कर सुनाई गई थी।

तीनों अभ्यास टोलियों की नियंत्रण टोली की उन्नति से तुलना करते हुये नापी गई। निम्नलिखित परिणाम मिले—प्रत्येक टोली ने उस कार्य में शीघ्रता से उन्नति प्राप्त की, जिसका उसने विशेष रूप से अभ्यास किया था। जो कार्य अभ्यस्त विषय के सदृश नहीं था उसमें परिणाम कभी तो अनुकूल और कभी प्रतिकूल रहा। कविता याद करने का अभ्यास तालिकायें, निरर्थक शब्द एवं गद्य को अविकल याद करने में थोड़ा सहायक सिद्ध हुआ, किन्तु गद्य सारांश तथा वर्णों को याद करने में बाधक हुआ। जिन व्यक्तियों ने तालिकायें याद करने का अभ्यास किया था वे तालिकायें, गद्य-सारांश एवं निरर्थक शब्द तो सरलता से याद कर लेने लगे किन्तु कविता, अविकल गद्य एवं वर्णों को पहचान करने में शक्ति का कुछ ह्रास हुआ। गद्य-सारांश याद करने का अभ्यास ६ वर्णों को याद करने के अतिरिक्त सभी अन्य स्मृति-क्रियाओं के लिए बाधक सिद्ध हुआ। इससे स्पष्ट पता चलता है कि एक प्रकार का अभ्यास दूसरे प्रकार के अभ्यास में सहायक भी हो सकता है और बाधक भी।

इस सम्बन्ध में थार्नडाइक का एक परीक्षण बहुत ही महात्वपूर्ण है। उसने एक वर्ष तक हाई स्कूल कक्षाओं में लेटिन, इतिहास तथा गणित के सांस्कृतिक महत्व का अध्ययन किया। जिन विद्यार्थियों पर परीक्षण किया गया उन सब की परीक्षा तदनुमोदित विचार-क्रिया

में पहले ले ली गई। वर्ष के अन्त में उसी प्रकार की परीक्षा फिर ली गई। वर्ष भर ये विद्यार्थी तो लेटिन, गणित तथा इतिहास आदि पढ़ते रहे एवं अन्य विद्यार्थियों ने बही-खाता तथा दूकानदारी सम्बन्धी विषयों का अध्ययन किया। अन्त में थार्नडाइक ने विभिन्न विषयों के प्रभावों की तुलना की नाम मात्र का ही प्रभाव पाया गया। थार्नडाइक का निष्कर्ष यही रहा कि स्कूल में पढ़ाये जाने वाले विषयों में से किसी विषय की सांस्कृतिक महत्ता विशेष नहीं है। सभी प्रायः समान हैं। इतिहास, गणित तथा लेटिन सांस्कृतिक महत्व के विषय समझे जाते थे। उनकी शिक्षा अनिवार्य रूपेण दी जा रही थी क्योंकि उनकी शिक्षा अन्य क्षेत्रों में विशेष रूप से संक्रमित होने वाली समझी जाती थी। परीक्षण ने सिद्ध कर दिया की इन विषयों का गौरव एक मिथ्या-विश्वास के कारण है, कम से कम तर्कानुमोदित विचार के सम्बन्ध में वह सत्य नहीं सिद्ध होता। उसका कथन है—"किसी विषय को इस आशा से पढ़ाना कि दूसरे विषय की अपेक्षा वह अधिक मानसिक विकास कर सकेगा, गलत है। कुछ बड़े-बड़े विद्वान् जो इन विशिष्ट विषयों का अध्ययन कर धुरन्धर दार्शनिक तथा विचारक हो गये मालूम पड़ते हैं उसका कारण यह है कि यद्यपि उन लोगों ने अपने अध्ययन के लिए इन्ही विषयों को चुना परन्तु वे बड़े हुये अपनी उस नैसर्गिक प्रतिभा के द्वारा जिसकी सहायता से वे साधारण-बुद्धि के पुरुषों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता के साथ संस्कार-ग्रहण कर सकते थे। जब प्रतिभाशाली व्यक्ति लेटिन तथा ग्रीक पढ़ा करते थे तो समझा जाता था कि ये विषय विचार-शीलता को जन्म देने वाले हैं। अब जब विचार-शील पुरुष भौतिक शास्त्र तथा गणित का अध्ययन करने लग गये हैं तो येही विषय विवेक-वर्द्धक प्रतीत होने लग गये हैं। यदि आज समस्त प्रखर-बुद्धि छात्र नाट्य कला तथा व्यायाम का अभ्यास करने लगें तो समझा जाने लगेगा कि नाट्यकला तथा व्यायाम में

ही सबसे अधिक बुद्धि विकास क्षमता है। इस मीमांसा के आधार पर हम कह सकते हैं कि किसी विषय का सांस्कृतिक प्रभाव समान-विषय पर ही अनुकूल पड़ता है। भिन्न वर्गीय क्रियाओं पर अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ सकता है।

प्रतिकूल-संक्रमण—जब एक क्रिया का अभ्यास दूसरी क्रिया के अभ्यास में बाधक सिद्ध हो तो कहा जाता है कि शिक्षा का प्रभाव प्रतिकूल दिशा में हो रहा है। इसे प्रतिकूल संक्रमण (negative transfer) कहते हैं। दृष्टान्त के लिये हम एक बहुत साधारण परीक्षण लिये लेते हैं। अंकों से छपा हुआ एक कागज लेकर कुछ बालकों को दिया गया। फिर उनसे कहा गया कि इसमें जहाँ-जहाँ ३ तथा ४ के अंक हैं उन्हें कलम से काट जाओ। इन्हीं दो अंकों को काटने का काफ़ी अभ्यास कराने के बाद ७ तथा ८ को काटने की क्रिया में परीक्षा ली गई। अभ्यास-टोली की गति नियंत्रण-टोली की गति को अपेक्षा मन्द होगई यद्यपि अभ्यास करने के पूर्व दोनों की गति प्राय: समान थी। देखने में तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों क्रियायें समान हैं किन्तु वे वास्तव में समान हैं नहीं। ३ तथा ४ और ७ तथा ८ दो बिलकुल भिन्न अंक-युग्म हैं, एक को पहचानना दूसरे को पहचानना नहीं है। यदि ३ तथा ४ का अभ्यास करने के बाद किसी और ऐसी संख्या को काटने में परीक्षा ली जाय जिसमें येही अंक अंग-रूप से मौजूद हो तो अभ्यास का परिणाम अवश्य ही सहायक होता। ७ तथा ८ को काटने की क्रिया अभ्यास के फल स्वरूप रुक-रुक कर होने लगती है क्योंकि अभ्यास वशत: जहाँ आँख के सामने ३ तथा ४ के अंक आये कि यंत्रचालित की भाँति कलम उठ जाती है। वर्तमान प्रत्यक्ष प्राचीन संस्कार को जाग्रत कर देता है और अभ्यस्त क्रिया की आवृत्ति होने लगती है। किन्तु बाद का विचार अभ्यास क्रिया के लिये उद्यत नाड़ी-जाल को रोकता है। यद्यपि यह मानसिक प्रक्रिया बड़ी शीघ्रता

के साथ होती है फिर भी इसमें कुछ न कुछ समय लग ही जाता है। नियंत्रण-टोली के सामने इस प्रकार की बाधा उपस्थित करने वाला कोई पूर्व संस्कार नहीं होता। बहुत सी क्रियाओं में इस तरह पूर्वाभ्यस्त क्रियाओं के कारण बाधा आती है। अतएव यह सांस्कृतिक प्रभाव प्रतिकूल रहता है।

द्विपार्श्व-संक्रमण—जब हम अपने शरीर के किसी एक अंग से किसी क्रिया को करने का अभ्यास करते हैं और वह शरीर के दूसरे भाग से भी बिना विशिष्ट अभ्यास के होने लगती है तो इसे द्विपार्श्व-संक्रमण (bilateral transfer) कहते हैं। यदि हम अपने दाहिने हाथ से किसी क्रिया को करने का अभ्यास करते हैं तो हम देखते हैं कि प्राय: बायें हाथ से भी उस क्रिया को बिना किसी अभ्यास के कर लेने लगते हैं। अगर बायें हाथ का अभ्यास न किये रहते तो जितने प्रयास सीखने में करने पड़ते उससे बहुत कम अभ्यासों में ही अब कुशलता प्राप्त हो जाती है। शीशे में देखकर ड्राइंग बनाना, मेज पर जल्दी जल्दी थपकी देना किसी लक्ष्य पर फेंकर गेंद मारना आदि अनेक क्रियाओं में द्विपार्श्व संक्रमण bilateral transfer) प्राय: पाया जाता है। कभी कभी संक्रमण की मात्रा बहुत कम होती है किन्तु कभी कभी वह ५० प्रतिशत तक पहुँच जाती है। जिन क्रियाओं में एकान्त निर्भ्रान्त गति आवश्यक नहीं होती उनमें यह संक्रमण प्राय: देखने में आता है। आरम्भ में तो यह संक्रमण बहुत नहीं होता किन्तु नये भाग से क्रिया इतने कम अभ्यास से सीख ली जाती है कि बहुत अधिक अभ्यास के बाद प्राप्त की हुई पूर्व अंग की सी क्षमता प्राप्त करने में उसे अधिक समय नहीं लगता।

शिक्षा-संक्रमण का नूतन सिद्धान्त—परीक्षणों से पता चलता है कि शिक्षा-संक्रमण की जो महत्ता घोषित होती आ रही थी वह बहुत ही अत्युक्ति पूर्ण थी यद्यपि निराधार नहीं थी। प्रत्येक परीक्षण में कुछ

न कुछ संस्कार-दान-शक्ति पाई अवश्य गई है यद्यपि उससे सिद्धान्त के उपासकों को अवश्य संतोष नहीं मिल सका। एक लाभ यह अवश्य इन परीक्षणों से हुआ कि अब हमें इस बात का पता चल गया है कि किन स्थितियों में संस्कार-संक्रमण होता है एवं अधिक प्रभाव पाने के लिए हमें किस विधि से अपनी शिक्षा को व्यवस्थित करना चाहिये। यह स्पष्ट हो चुका है कि एक स्थिति में किये अभ्यास का संक्रमण दूसरी स्थिति में उसी मात्रा में होता है जिस में दोनों स्थितियाँ समान हैं। शिक्षा से प्राप्त संस्कृति केवल समान (एक ही नहीं, एक से) अंशों पर किये अभ्यास का परिणाम होती है। शिक्षा-संक्रमण का एक कारण तो यह है कि अभ्यास करते समय कार्य-सम्पादन की नूतन पद्धतियों का आविष्कार व्यक्ति कर लेता और उनका प्रयोग नवीन परिस्थिति में किया जा सकता है। अतः तब काम में अधिक रुचि एवं अधिक शक्ति का उपयोग भी हो सकता है। अभ्यास के परिणाम स्वरूप ज्ञान में भी वृद्धि हो जाती है। वह ज्ञान नवीन प्रयास में सहायक होता है। पूर्वार्जित ज्ञानरेखा-गणित के नये प्रश्न को हल कहने में बहुत सहायता करता है।

इसी सिद्धान्त के आविष्कार का परिणाम है कि आधुनिक शिक्षा में व्यावहारिकता को इतना महत्वपूर्ण स्थान मिल गया है। चूंकि समान अंशों पर किया गया अभ्यास ही संक्रमित होता है अतएव शिक्षा-दान की परिस्थिति वास्तविक जीवन की परिस्थिति के तुल्य ही होनी चाहिये तभी उसका उपयोग व्यक्ति परवर्ती जीवन में सफलता के साथ कर सकेगा। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि अभ्यास रूप में हम जो क्रिया कर रहे हैं उनको वारीक वैज्ञानिक दृष्टि से देखें एवं उसमें निहित सामान्य सिद्धान्त को भली भाँति समझें जिससे किसी भी परिस्थिति में अपने प्राचीन अभ्यास के संस्कार को हम जाग्रत कर सकें।

सारांश—पहले यह समझा जाता था कि कुछ विषयों में संस्कृति देने की विशेष शक्ति रहती है अतएव उनका अध्ययन उसी संस्कृति के

लिए हमें करना चाहिए। आधुनिक परीक्षणों ने इस विचार को प्रमाद पूर्ण सिद्ध कर दिया है। विविध परीक्षाओं से प्राप्त परिणामों की विवेचना करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि संस्कृति-संक्रमण दो प्रकार का होता है, कभी अनुकूल तथा कभी प्रतिकूल। जिस परिस्थिति में शिक्षा प्राप्त की गई है उसी प्रकार की परिस्थिति में अनुकूल प्रभाव देखने में आता है। भिन्न परिस्थिति से दोनों प्रकार का प्रभाव हो सकता है और यह भी हो सकता है कि किसी प्रकार का प्रभाव न पड़े। अतएव यदि हम चाहें कि शिक्षा से संस्कृति प्राप्त हो तो हमें वास्तविक व्यावहारिक जीवन से मिलती जुलती परिस्थिति शिक्षा-मन्दिर में लानी होगी। तभी संस्कृति-संक्रमण का अधिक से अधिक हम लाभ उठा सकेंगे।

प्रश्न

(१) शिक्षा-संक्रमण से आप क्या समझते हैं? मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में क्या पता चलता है?

(२) शिक्षा-संक्रमण के सिद्धान्त में निहित सत्य की मीमांसा कीजिये। किसी विषय को पढ़ाने में इसका क्या उपयोग हो सकता है? विषय को किस प्रकार पढ़ाया जाय कि उससे अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके?

शब्दानुक्रमणिका

abstract	अमूर्त
achievement test	विद्या परीक्षा
adolescence	किशोरावस्था
aesthetic imagination	रसात्मक कल्पना
affect	राग, भाव
aggressive	उग्र
analytic	विश्लेषक
anger	क्रोध
anticipatory theory	पूर्वाभिनय वाद
appeal	शरणागति
apperception	पूर्वानुवर्ती ज्ञान
apprehension of experience	चेतना का सिद्धान्त
artistic	कलात्मक
brain	मस्तिष्क
imagination	कल्पना
association of ideas	विचार-सम्बन्ध
associative centres	संयोजक-केन्द्र
attention	अवधान
audile	नाद् प्रधान
auto-erotism	स्वात्म-प्रेम
autonomous nervous system	स्वतंत्र नाड़ी-मंडल
average	साधारण, माध्यमिक
behaviourists	आचरण-वादी
bilateral transfer	द्विपार्श्व-संक्रमण
biological	जीनव-रक्षा सम्बन्धी
consciousness	चेतना

cathartic theory	रेचन वाद	continuous learning	अविभक्त-विधि
central nervous system	केन्द्रीय नाड़ी-मंडल	constructiveness	रचना वृत्ति
cerebellum	लघु मस्तिष्क	consolidation	पचाना
cerebrum	बृहत् मस्तिष्क	contiguity	सह-चारिता
		continuity of germplasm	बीज-कोष की निरन्तरता
character	चरित्र		
childhood	बाल्यावस्था	contrast	वैपरीत्य
chronological age	वास्तविक आयु	creative imagination	सर्जनात्मक कल्पना
club	गोष्ठी		
cognition	ज्ञान	crowd	भीड़
cognitive	ज्ञानात्मक	culture epoch	संस्कृति-युग
cohesion	सम्बद्धता	curiosity	कुतूहल, जिज्ञासा
collection	संग्रह		
combat	युयुत्सा	data	प्रदत्त
community	समाज	day dream	दिवा स्वप्न
complex	भावना ग्रन्थि	delinquent	अपराधी
		didactic apparatus	शिक्षोपकरण
conation	चेष्टा		
concept	प्रत्यय	disgust	घृणा
concomitant development	सम-विकास	disposition	संस्कार
		distraction	विचलन
concrete	मूर्त	dominant	व्यक्त

ductless	प्रणाली-रहित
dull	मंद
dynamic theory of instincts	स्वभाव शक्ति वाद
education of correlates	सम्बन्धी ज्ञान
education of relation	सम्बन्ध ज्ञान
emotion	संवेग
environment	वातावरण
escape	पलायन
experience	अनुभव
experiment	परीक्षण
extrovert	वहिर्मुखी
faculties	मानसिक शक्तियाँ
fantastic imagination	तरंग मयी कल्पना
fatigue	थकान
fear	भय
feeble minded	हीन-बुद्धि
feeling	राग
fluctuation	विचलन
forgetting	विस्मृति
genius	प्रतिभाशाली
germ cell	बीज कोष
glands	गिल्टियाँ
gregariousness	सामूहिकता
group mind	समूहमन
group test	सामूहिक परीक्षा
habit	आदत
heredity	वंशानुक्रम
hetero-sexuality	भिन्न लिंगीय प्रेम
homo-sexuality	स्वलिंगीय प्रेम
horme	सप्रयोजनता
hypnosis	मोह निद्रा
ideal self	आदर्शस्व
idiot	जड़
image	प्रतिमा
imagination	कल्पना
imbecile	मूढ़
imitation	अनुकरण
individual differences	व्यक्तिगत भेद
individuality	व्यक्तित्व
infancy	शैशव

inhibition	विजयन
inhibitive	दमनशील
innate	जन्मजात
insane	विक्षिप्त
insight	सूझ
instinct	मूलप्रवृत्ति
intelligence	बुद्धि
intelligence quotient	बुद्धि-लब्धि
intelligence test	बुद्धि-परीक्षा
interest	रुचि
introspection	अन्तर्दर्शन
introvert	अन्तर्मुखी
involuntary attention	प्रयत्न रहित अवधान
knowledge limit	ज्ञानावरोध
language	भाषा
laughter	हास
law of effect	परिणाम का नियम
law of exercise	अभ्यास का नियम
law of readiness	तत्परता का नियम
law of variation	भिन्नता का नियम
learning	सीखना
libido	काम-शक्ति
life	जीवन
living cell	जीवकोष
loneliness	एकाकीपन
lust	कामुकता
master sentiment	शासक स्थायी-भाव
mating	काम-प्रवृत्ति
maturity	प्रौढ़ावस्था
mechanical action	यांत्रिक आचरण
medulla oblongata	मेरुदण्ड शीर्ष
memory	स्मृति
mental age	मानसिक आयु
mental measurement	बुद्धि-माप
mental structure	मन का आकार
mind	मन
mneme	संचय
moron	मूर्ख

motivation limit	उत्साहा-विरोध
motor centres	चेष्टा-केन्द्र
Narcissism	स्वात्म प्रेम
natural selection	प्राकृतिक चुनाव
negative self-feeling	आत्म-हीनता की भावना
nervous system	नाड़ी मंडल
normal	साधारण
objective	वस्तु-प्रधान
object of experience	अनुभव का विषय
observation	निरीक्षण
ownership	अधिकार की भावना
parental instinct	पुत्र कामना
part method	खण्ड विधि
perception	सविकल्पक प्रत्यक्ष
performance tests	क्रिया परीक्षा
periodic development	क्रमिक विकास
peripheral nervous system	त्वक् नाड़ी-मंडल
physiological limit	शारीरिक क्षमतावरोध
plateau	पठार
play	खेल
pons	सेतु
positive self-feeling	आत्म-गौरव की भावना
pragmatic imagination	कार्य-साधक कल्पना
precocious	तेज
presentative	उपस्थापक
projection	आरोप
psycho-analysis	मनो-विश्लेषण
reasoning	तर्क
recall	स्मरण
recapitulation theory	पुनरावृत्ति वाद
receptive imagination	आदानात्मक कल्पना

recessive	सुप्त
recognition	पहचान
recreative theory	पुनः प्राप्ति वाद
redirection	मार्गान्तरीकरण
reflex action	सहज क्रिया
regression to type	मुख्य प्रकार की ओर प्रतिगमन
relational aspect	सम्बन्ध-पक्ष
representative	प्रतिनिध्यात्मक
repression	दमन
resistance	प्रतिरोध
response	प्रतिक्रिया
retention	संचय
self abasement	दैन्यवृत्ति
self-assertion	आत्म गौरव
self-regarding sentiment	आत्म गौरव का स्थायी भाव
sensation	निर्विकल्पक प्रत्यक्ष
senses	इन्द्रियाँ
sense-training	इन्द्रिय-शिक्षा
sensory centres	ज्ञान केन्द्र
sentiments	स्थायी भाव
sex	काम-वृत्ति
similarity	समानता
spaced learning	विभक्त विधि
span of attention	अवधान का विस्तार
spinal cord	मेरुदण्ड
standardised	प्रमाणिक
subconscious	अर्द्ध चेतन
subjective	व्यक्ति-प्रधान
subject of experience	अनुभव का ज्ञाता
sublimation	शोध
submission	दैन्य
suggestibility	संकेत-योग्यता
suggestion	निर्देश
superior	उत्कृष्ट
surplus energy	अतिरिक्त शक्ति

sympathy	सहानुभूति
synthesis	संश्लेषण
thinking	विचार
transfer of training	शिक्षा संक्रमण
transitoriness of instincts	क्षणस्थायी मूल-प्रवृत्ति-वाद
trail and error	प्रयत्न तथा भूल
two factor theory	द्वैत सिद्धान्त
unconscious	अचेतन
very superior	अत्युत्कृष्ट
visile	दृष्टि-प्रधान
vocational test	व्यवसाय-योग्यता परीक्षा
voluntary atttention	सप्रयत्न-अवधान
whole method	समग्र विधि
will	इच्छा
wonder	आश्चर्य